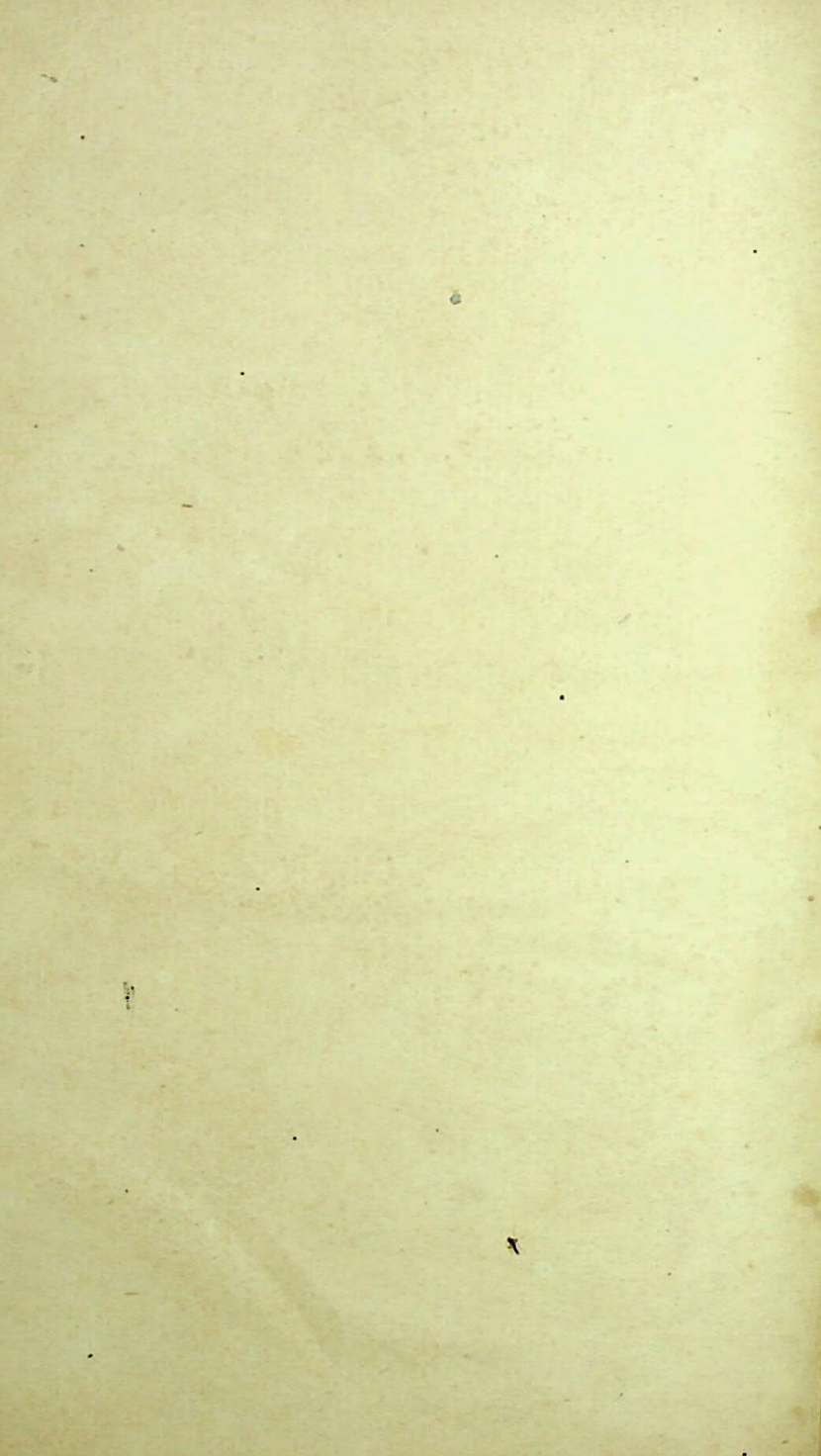






33



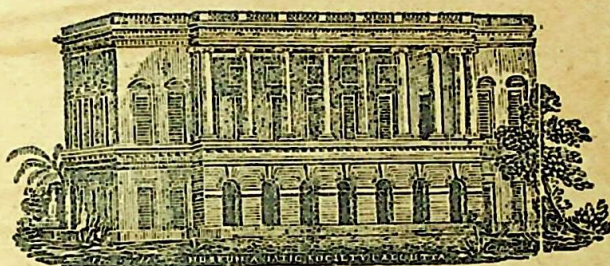
BIBLIOTHECA INDICA :

A

Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1181.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCĀRYA.

EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS I.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,  
1905.



# LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

## ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,

15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO

HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some of the Fasciculi being out of stock.*

### BIBLIOTHECA INDICA.

#### Sanskrit Series.

|                                                                                                                            |     |    |    |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|----|----|
| Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each                                                                         | Rs. | 1  | 8  |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                                         | ... | 0  | 12 |
| * Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/2 each                                                                                | ... | 4  | 2  |
| Aitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-5 @ 1/2                 | ... | 7  | 8  |
| Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. 1                                                                                   | ... | 0  | 12 |
| Aśṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/6 each                                                                  | ... | 2  | 4  |
| Acvavaidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/2 each                                                                                  | ... | 1  | 14 |
| Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                                     | ... | 9  | 0  |
| Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                             | ... | 0  | 12 |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/5 each                                                                              | ... | 1  | 2  |
| Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                            | ... | 1  | 14 |
| Brāhmadēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/2 each                                                                                  | ... | 1  | 8  |
| Brāhmadharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/2 each                                                                           | ... | 2  | 4  |
| Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3                                                                                   | ... | 1  | 2  |
| Çatadusani, Fasc. 1-2                                                                                                      | ... | 0  | 12 |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                                  | ... | 8  | 0  |
| Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7,...                                                  | ... | 6  | 6  |
| Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ 1/2 each                                                         | ... | 3  | 12 |
| * Çaturvarga Chintāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III, Part I, Fasc. 1-18 Part II, Fasc. 1-10 @ 1/2 each; Vol. IV, Fasc. 1-4 | ... | 21 | 6  |
| Çlokaavartika, (English) Fasc. 1-5                                                                                         | ... | 3  | 12 |
| * Çrauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/6 each                                                                  | ... | 4  | 8  |
| Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/6 each; Vol 4, Fasc. 1             | ... | 6  | 0  |
| Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/2 each                                                                                   | ... | 1  | 2  |
| Dan Kriya Kaumudi, Fasc. 1-2                                                                                               | ... | 0  | 12 |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...                                                                           | ... | 2  | 10 |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...                                                                                        | ... | 0  | 6  |
| Kāla Mādhava, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each                                                                                  | ... | 1  | 8  |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                                     | ... | 2  | 4  |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12 each                                                                                     | ... | 4  | 8  |
| Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12 each                                                                       | ... | 10 | 8  |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/6 each                                                                                  | ... | 3  | 6  |
| Lalita-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each                                                                            | ... | 2  | 4  |
| Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/6 each...                                                                           | ... | 4  | 2  |
| Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ 1/6 each                          | ... | 9  | 0  |
| Manuṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/2 each                                                                             | ... | 1  | 2  |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12 each                                                                         | ... | 6  | 12 |
| * Mimāṃsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/2 each                                                                            | ... | 4  | 14 |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/2                                                                                       | ... | 2  | 4  |
| * Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/6 each                                                                            | ... | 3  | 9  |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/2                                                                                   | ... | 2  | 10 |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                                | ... | 2  | 4  |
| Nyāyabinduṭikā, (Text) ...                                                                                                 | ... | 0  | 10 |
| Nyāya Kusumāñjलि Prakarāṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/2 each                                         | ... | 3  | 6  |



# शतपथब्राह्मणम् ।

अथ

## द्वितीयकाण्डम् ।

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपि वा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

स यदा ऽद्भुतञ्चेतुश्च सम्भरति । तत्सम्भाराणां  
सम्भारत्वं युत्र-यत्राग्नेर्न्यक्तं तत्तत्सुतः सम्भरति  
तद्यशसेव त्वदेवैन मेतत् समर्द्धयति पशुभिरिव  
त्वन्मिथुनेनेव त्वत् सम्भरन् ॥ १ ॥

अथोल्लिखति । तद्यदेवास्त्रै पृथिव्या ऽऋभिष्ठितं  
व्वाभिष्ठूतं\* वा तदेवास्या ऽएतदुद्धन्त्य यज्ञियाया  
मेव पृथिव्या माधत्ते तस्मादा ऽउल्लिखति ॥ २ ॥

\* 'वाभिष्ठूतं'—इति घ । एवं सर्वत्र बोध्यम् ।

अथाङ्गिरभ्युक्षति । एष वा अपाऽसम्भारो युद-  
ङ्गिरभ्युक्षति तद्यदपः सम्भरत्यन्नं वा ऽआपोऽन्नं हि वा  
ऽआपस्तस्माद्यदेमं लोकं माप आगच्छन्त्यथेहान्नाद्यां  
जायते तदन्नाद्येनैवैन मेतत् समर्द्धयति ॥ ३ ॥

योषा वा ऽआपः । व्युषाग्निर्भियुनेनैवैन मेत-  
त्प्रजुननेन समर्द्धयत्यङ्गिर्व्या ऽद्वदऽसुर्व्वं माप्तं मङ्गि-  
रेवैन मेतदाप्त्वाधत्ते तस्मादपः सम्भरति ॥ ४ ॥

अथ हिरण्यं सम्भरति । अग्निर्हं वा ऽआपोऽभि-  
दध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः सुखभूव तासु रेतः  
प्रासिञ्चत्तद्विरण्यं मभवत्तस्मादेतदग्निसङ्काशं मग्ने-  
र्हि रेतस्तस्मादपसु च्चिन्दन्त्यसु हि प्रासिञ्चत्तस्मादेनेन  
न धावयति न किञ्चन करोत्यथ यशो देवरेतसं हि  
तद्यशसैवैन मेतत् समर्द्धयति सुरेतस मेव कृत्स्नं मग्निं  
माधत्ते तस्माद्विरण्यं सम्भरति ॥ ५ ॥

अथोषान्तुसम्भरति । असौ ह वै द्यौरख्यै पृथिव्या  
ऽएतान् पशून् प्रददौ तस्मात्पशुव्यं मूषरं मित्याहुः  
पशुवो ह्येवैते साक्षादेव तत् पशुभिरेवैन मेतत् समर्द्ध-  
यति तेऽमुत ऽआगता ऽअस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठितास्तु



मनयोर्द्यावापृथिव्यो रसं मन्यन्ते तदनुरावेन मेतद्  
द्यावापृथिव्यो रसेन समर्द्धयति तस्मादुषान्त्सु  
सम्भरति ॥ ६ ॥

अथाखुकरीषः सम्भरति । आखुवो ह वा ऽअस्यै  
पृथिव्यै रसं विदुस्तस्मात् तेऽधोऽध ऽइमां पृथिवीं  
चरन्तः पीविष्ठा ऽअस्यै हि रसं विदुस्ते यन्न ते ऽस्यै  
पृथिव्यै रसं विदुस्तत उत्क्रिन्ति तदस्या\* ऽएवैन मेतत्  
पृथिव्यै रसेन समर्द्धयति तस्मादाखुकरीषः सम्भरति  
पुरीष्य ऽइति वै त माहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै  
पुरीषं च करीषं च तदेतस्यैवावरुद्धौ तस्मादाखु-  
करीषः सम्भरति ॥ ७ ॥

अथ शुक्लराः सम्भरति । देवाश्च वा ऽअसुराश्चोभये  
प्राजापत्याः पस्पृधिरे सा हेयं पृथिव्यलेलायद्यथा  
पुष्करपर्णं मेवं तां ह रुम व्यातः संव्वहति सोपैव  
देवान् जगामोपासुरान्त्वा यन्न देवानुपजगाम ॥ ८ ॥

तद्वोचुः । हन्तेमां प्रतिष्ठां हुंहामहै तस्यां ध्रुवा-  
या मग्निथिलाया मग्नी ऽआदधामहै ततोऽस्यै सपुत्रान्  
न्निर्मच्याम ऽइति ॥ ९ ॥

तद्यथा शङ्कुभिश्चर्मं विहन्त्यात् । एव मिसां  
प्रतिष्ठां शर्कराभिः पर्यवृहन्त सीयं ध्रुवाशिथिला  
प्रतिष्ठा तस्यां ध्रुवाया मशिथिलाया मग्नी ऽआधत्त  
ततोऽस्यै सपत्नान् निरभजन् ॥ १० ॥

तथो ऽएवैष ऽएतत् । इमां प्रतिष्ठां शर्कराभिः  
परिवृहन्ते तस्यां ध्रुवाया मशिथिलाया मग्नी  
ऽआधत्ते ततोऽस्यै सपत्नान्निर्भजति तस्माच्छर्कराः  
सम्भरति ॥ ११ ॥

तान्वा ऽएतान् । पञ्च सम्भारान्त्सम्भरति पाङ्क्तो  
यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरस्य ॥ १२ ॥

तदाहुः । षडेवऽर्त्तवः संवत्सरस्येति न्यूनं मु  
तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते न्यूनाद्वा ऽइमाः प्रजाः  
प्रजायन्ते तच्छ्रयेयस मुत्तरावत् तस्मात् पञ्च  
भवन्ति यद्यु षडेव ऽर्त्तवः संवत्सरस्येत्यग्निरेवैतेषां  
षष्ठस्तथो ऽएवैतदन्यूनं भवति ॥ १३ ॥

तदाहुः । नैवैकञ्चनं सम्भारं सम्भरेदित्यस्यां वा  
ऽएते सुर्वे पृथिव्यां भवन्ति स यदेवास्या माधत्ते तत्  
सुर्व्यां सम्भारानाप्नोति तस्मान्नैवैकञ्चनं सम्भारं  
सम्भरेदिति तदु सुमेव भरेद्यद्वैवास्या माधत्ते तत्



सुर्वान्त्वस्माराणाप्नोति यदु सम्भारैः सम्भृतैर्भवति  
तदु भवति तच्छादु सु मेव भरेत् ॥ १४ ॥ १ ॥

॥ कृति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [१.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानां मुपक्रमे ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

आद्ये काण्डे प्रपञ्चेन पौर्णमासेष्टिरीरिता ।

सा सम्पूर्णोपदेशत्वादव्यासां प्रकृतिर्मता \* ॥ ३ ॥

पवमानेष्टादिकानां द्वितीये त्वग्निसिद्धये ।

आधानं पवमानेष्टिरग्निहोत्र मुपस्थितिः ॥

चातुर्मास्यादिकः सर्वो हविर्यज्ञोऽत्र वर्ण्यते ॥ ४ ॥

\* अथ यत्र सर्वं कर्त्तव्यं प्रकर्षेण कर्मान्तरनिरपेक्षेणोपदिश्यते, सा प्रकृतिः । यत्र विशेषरूपमेव कर्त्तव्यं श्रुत्योपदिश्यते इतरत् सर्वं प्रकृतेरतिदिश्यते, सा विकृतिः । प्रकृतिश्च द्विविधा ; मूलप्रकृतिरवान्तरप्रकृतिश्चेतिभेदात् । सर्वात्मना कर्मान्तरनिरपेक्षा मूलप्रकृतिः । कृतिपर्येष्वङ्गेषु कर्मान्तरापाद्येति स्वयं कश्चित् कर्मभिरपेक्षणीया भवति, सेय मवान्तरप्रकृतिः । सर्वचेदं मीमांसायाः सप्तमाष्टमाध्यायाभ्यां विचार्य निरूपितम् । तथाच न्यायमालाया अप्यष्टमाध्यायस्य प्रथमपादीयद्वितीयाधिकरणद्वितीयवर्णके इष्टाग्निहोत्रसोमाना मेव सर्वयागमूलप्रकृतित्वं निर्णीतम् ।

तत्र तावत् सर्वेष्टिप्रकृतित्वेन प्राक् प्रतिपादिताया दर्शपूर्ण-  
मासेष्टेः, विधास्यमानानां भुजिहोतादिकर्मणां च त्रेताग्नि-  
साध्यत्वात् \* तष्टेतुभूत माधानं प्रतिपाद्यते । तत्र चोदकहिर-  
ण्यादिसम्भाराणां पञ्चानां † सम्भरणं विधिक्षुः सम्भारनामनिर्वचनं  
करोति—“स यहा इति । ‘इतश्च’ अस्माद् वक्ष्यमाणादुदक-  
हिरण्यादिद्रव्यजातात् ‘सः’ अध्वर्युस्तदेकदेश माहृत्य ‘यद्’ यस्मा-  
देकस्थाने ‘सम्भरति’ समूचीकरोति, ‘तत्’ तस्मात् सन्धियन्त  
इति सम्भाराः, इति व्युत्पत्त्या तेषां ‘सम्भार’-नाम सम्भन्नमित्यर्थः ।  
“इतश्चेतश्चेति । “नित्यवीक्ष्योः”—इति ‡ द्विवचनम् ।

एतदेव विशदयन् सम्भरणं विव्रियते— “यत्र-यत्रेति ।  
यस्मिन् यस्मिन् पदार्थे ‘अग्नेः’ सम्बन्धि तेजो ‘न्यक्तं’ निलीनं  
भवति, तस्मात् सर्वस्मात् अपि सम्भरणं कार्यमित्यर्थः ॥

एतत् सम्भरणीयद्रव्यविशेषोपजीवनेन प्रशंसति— “तद्यश-  
सेवेति । सम्भरतीत्युपरिष्ठात्सर्वशेषतया श्रुतत्वात् त्रिष्वपि  
वाक्येषु त्वदित्यनन्तरं सम्बध्यते । त्वच्छब्दश्च एकशब्दपर्यायः ;  
“उत त्वः पश्यन्”—इत्यादौ § तथा दर्शनात् । “अप्येकः पश्यन् न  
पश्यति वात मिति यास्कः ¶ । ‘तत्’ तत्र ‘तत्’ एकं हिरण्याख्यं

\* “हृदिष्णानिर्गाह्यपत्याह्वनीयौ त्रयोऽग्नयः । अग्नित्रयं मिदं त्रेता”—  
इति अ० को० २, ७, २० ।

† १ उदकम्, २ हिरण्यम्, ३ ऊषाः ( पशवः ), ४ आखुरीषम्  
( आखुपुरीषम् ), ५ शर्कराः ( कङ्कुरिति ख्याताः ) ।

‡ पा० सू० ८, १, ४ ।

§ ऋ० सं० १०, ७१, ४ ।

¶ निरु० १, ६, ३ ।



वस्तु 'सम्भरन्' 'एनम्' अग्निम् एतेन सम्भरणेन 'यश्चैव समर्चयति' । हिरण्यस्य यशोरूपत्व मग्रे वक्ष्यते \* ।

एव सुत्तरवाक्ययोरपि योजना । तत्र त्वदितिपदाभ्यामुपोदकद्रव्यौ विवक्षितौ । तयोश्च पशुमिथुनरूपत्वे † उपरिष्ठात् समाम्नास्येते ‡ ॥ १ ॥

तस्य च हिरण्यादिसम्भारस्य निवपन मुल्लेखनाभ्युक्षण-संस्कृतेष्वेव गार्हपत्याद्यायतनेषु कार्यं मित्यभिप्रेत्य प्रथम मुल्लेखनं विधाय प्रशंसति— "अथोल्लिखतीति । 'अस्यै पृथिव्यै'—इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । 'अस्याः पृथिव्याः' सम्बन्धि, यत् 'अभिष्ठितम्' उपर्यवस्थानेन पादस्पर्शजनितम्, 'अभिष्टूतम्' तदुपरि निष्ठीवनादिजनितञ्चेत्यर्थः । 'वा'-शब्दौ चार्थौ । "यज्ञियाया मिति । यज्ञार्हाया मित्यर्थः ॥ २ ॥

उल्लिखिताना मग्न्यायतनाना मभ्युक्षणं विधत्ते— "अथेति । एतदभितः सर्वतो यदभ्युक्षणम्, 'एष वा अपां सम्भारः' ; न तु हिरण्यादिवत् पृथगुपादाय तासां निवपनं कार्यं मित्यर्थः । "अन्नं वा इत्यादि । निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

एव मन्नाद्यहेतुत्वेनाभ्युक्षणं प्रशस्य मिथुनरूपेण प्रशंसति— "योषा वा इति । अपां स्त्रीलिङ्गत्वाद्गन्धेऽपुंलिङ्गत्वादुभयमिलितं सदेकं मिथुनम्, तच्च पुत्रपौत्रादिप्रजननहेतुरिति

\* 'अथ यशः'—इत्यादि द्रष्टव्यम् ( ५ क० ) ।

† यदि च श्रुतौ मिथुनस्याग्रे विधानम्, पशूनां तत उत्तरम् ; तथापि "अग्न्यात्तरम् ( पा० सू० २, २, ३४. )—इति शासनात्पशुशब्दस्यैव इन्द्र-निमित्तः पूर्वनिपातो बोध्यः ॥

‡ इहैवानुपदं चतुर्थषष्ठकण्डिकयोर्द्रष्टव्ये । § पा० २, ३, ६१ सू० वा० ।

‘एनम्’ अग्निं ‘समर्द्धयति’ एतेन ‘मिथुनेन’ । त्वदिति प्राशुक्तं तद्विद्वतं भवति ।

एवं लिङ्गोपजीवनेन प्रशस्य अपशब्दप्रतिपादितार्थपर्यालोचनयापि प्रशंसति— “अद्भिर्वा इति । “आपो वा इदं मम सलिलं मासीत्”—इति श्रुतिः ॥ सर्वम् ‘इदम्’ जगत् ‘अग्निः’ खलु ‘आप्तम्’ अत आपनशीलाभिस्ताभिरद्भिः ‘एनम्’ अग्निं प्राप्य ‘आधत्ते’ इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् सम्भारनिवपनसमयेऽभ्युत्थणार्थं कस्मिंश्चित् पात्रे अपः सम्भरेदिति निगमयति— “तस्मादिति ॥ ४ ॥

हिरण्यस्य सम्भरणं विधत्ते—“अथ हिरण्यं मिति । तस्य हिरण्यस्याकिरेतस्त्वं प्रतिपादयति— “अग्निर्हं वा इत्यादिना । ‘अभिदध्यौ’ अभिध्यातवानित्यर्थः । “ध्वै चिन्तायाम् †”—इत्यस्मात्किटि “आत औ णलः”—इत्यौत्वम् ‡ । अभिध्यानप्रकारमाह— “मिथुन्याभिरिति । ‘आभिः’ अद्भिः अभ्युत्थणाद्भिः स्त्रीभिः ‘मिथुनीस्याम्’ प्रयोगमिथुनं तत्संयोगान्मिथुनं भवानीत्यर्थः । मिथुनशब्दादभूततद्भावे च्चिः § । “तस्मादेतदिति । यस्मादग्निवीर्यं हिरण्यात्मना परिणतम्, ‘तस्मात्’ एतत् हिरण्यम् ‘अग्निसङ्काशम्’ अग्नेः सदृशं मेव वर्ण्यत उपलभ्यते । यस्माच्चाप्सु निषिक्तम्, ‘तस्मात्’ तत् हिरण्यम् ‘अप्सु’ ‘विन्दन्ति’ लभन्ते इत्यर्थः । “तस्मादेनेनेति । यस्मादाग्नेयं हिरण्यम् ‘तस्मादेनेन’ दन्तान् ‘न धावयेत्’ । तथा यदन्यत् किमपि ह्योनं कर्म, तदपि तेन न कुर्यादित्यर्थः ।

\* ते० ब्रा० १. १. ३. ५ ।

† भा० प० ६३३ धा० ।

‡ पा० सू० ७. १. ३४ ।

§ पा० ५. ४. ५० सू० २ वा० ।



“अथ यश इति । ‘अथ’-शब्दो वाक्यान्तङ्कारे । यस्मात्तद्विरण्यं  
‘देवरेतसं’ देवस्याग्नेर्वीर्यम्, तस्माद् यशोरूपम् । देवरेतस मिति  
“अनसन्तात्”-इत्यकारः समासान्तः \* । तथाच हिरण्यसम्भरणेन  
‘यशसैव’ ‘एनम्’ अग्निं समृद्धं करोति । एतेन “यशसेव त्वदिति  
प्रागुक्तं † व्याख्यातं भवति । “सरेतस मेवेति । हिरण्यस्य  
सम्भरणाभावे हि रेतसोऽन्यत्र स्थितत्वात् तद्रहित आहितोऽग्नि-  
रक्तस्त्व एव भवति ; तत्सम्भरणे तु सरेतसः सः ॥ ५ ॥

“अथोषानिति । ऊषाणां पशुरूपत्वं प्रतिपादयन् तत्  
समृद्धिहेतुत्वेन स्तौति—“असौ ह वा इति । यस्मात् ‘पृथिव्यै’  
द्युलोकेन इमे पशवो दत्ताः, ‘तस्मात्’ तत्सम्बन्धि ‘ऊषरम्’  
ऊषयुक्तं स्थानं ‘पशव्यम्’ पशुभ्यो हितम् ‘इति’ ब्रह्मवादिनः  
‘आहुः’ । ‘पशवो हि’ तादृशं स्थान मासाद्य लिहन्ति ; अतः  
पशुहितत्वात् पश्वात्मकाः ‘एवैत’ ऊषाः । “ऊषर मिति ।  
“ऊषसुषिमुष्कमधो र.”-इति ‡ मत्वर्थीयो रः । स्पष्ट मन्वत् ।  
द्यावापृथिव्यो रसत्वेनैतान् प्रशंसति—“तेऽमुत इति । ‘अमुतः’  
अमुष्माद् द्युलोकात् ‘आगताः’, ‘अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः’ च ;  
अतः पश्वात्मकस्य ऊषद्रथस्य द्यावापृथिवीरसत्वम् । किं  
ततः इत्याह— “तदनयोरिति ॥ ६ ॥

द्रव्यान्तरस्य सम्भरणं विधत्ते— “अथाखुकरीष मिति ।  
(आखुभिः खननेन विखात् बहिर्नीताः पांशव आखुकरीषम्) § ।  
“आखवो हेति । यस्मात् ‘आखवः’ पृथिवीरसजाताः,

\* पा० सू० ५, ४, १०३ ।

† १ ए० १२पं०, ७ ए० \* इति च द्रष्टव्यम् । ‡ पा० सू० ५, २, १०७ ।

§ बन्धन्यन्तर्गतग्रन्थोऽयं च-पुस्तकमात्रे विद्यते ।

‘तस्मात्’ एव पृथिवीमध्ये ‘अधोऽधः’ खनन्तः, पृथिव्या  
अन्तरधक्षात् समीपे ‘चरन्तः’ तद्रसास्वादनसम्बन्धिनि ‘यत्र’  
यस्थाने ‘रसं’ ‘विदुः’ जानन्ति, तत् स्थानं गत्वा ‘रसम्’  
उपजीव्य पांशून् बहिः ‘उत्किरन्ति’ उत्क्षिपन्ति । “कृ  
विक्षेपे”—इति \* धातुः । अत आखूत्करस्य पृथिवीरसत्वात्  
तेनैव ‘एनम्’ अग्निं समृद्धं करोति । प्रकारान्तरेण स्तौति —  
“पुरीष इतीति । ‘यः’ खलु ‘श्रियं’ सम्पदं ‘गच्छति’, ‘तं  
पुरीष इति’ लोका वर्णयन्ति । तच्चैवं पुरीषस्यैव श्रीप्राप्ति-  
हेतुता, करीषस्य कि मायात मित्यत आह — “समान मिति ।  
पुरीषकरीषशब्दावच समानार्थावित्यर्थः । अतः करीषसम्बन्धा-  
दग्निः श्रियं प्राप्नोति । तादृशस्याग्नेरवरोधाय करीषसम्भरणं  
कार्यं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

शर्कराणां सम्भरणं विधत्ते—“अथ शर्करा इति ।  
मृन्मिश्रिताः सूक्ष्मपाषाणाः शर्कराः । तेषा मधिश्रितानां  
दारुण्यहेतुत्वं मितिहासेन दर्शयति—“देवाश्च वा इति ।  
देवासुरा उभये स्पृष्ट्वाञ्चक्रिरे । देवासुरेषु युद्धाय कृतोद्यमेषु  
तद्भयात् ‘पृथिवी अलेलायद्’ चाञ्चल्यं प्राप्नोति । तत्र दृष्टान्त  
माह — “यथेति । ‘यथा’ जलस्योपरि ‘पुष्करपर्णम्’ इतस्ततः  
चञ्चलं भवति, ‘एवम्’ पृथिव्यपि इतस्ततः कम्पिता । ‘तां’  
तदवस्था मापन्नां पृथिवीं ‘वातः’ वायुः पुष्करपर्णवदेव ‘संवहति  
स्म’ । यथा दारुमयीं (नावं) कश्चित् परपारं नयति, स्थानात्  
स्थानान्तरं प्रापयति । सा’ त्वेवं कम्पमाना पृथिवी उभय-  
विधानपि तान् ‘उपाजगाम’ ॥ ८ ॥



यदा च सा देवानप्राप्नोत्, तदा तत्कृतं परिहारं दर्शयति — “तद्वोचुरिति । ‘प्रतिष्ठां’ प्रतिष्ठितां ‘वंहामहे’ दृढीकर-  
वामहे । ‘ध्रुवावां’ निश्चलायाम्, ‘अश्विथिलायां’ दृढायाम् ।  
वाक्यार्थः स्पष्टः । ‘ततः’ तस्मात् अग्न्याधानात् ‘अस्यै’ अस्याः  
पृथिव्याः सकाशात् शत्रुभूतानसुरान् ‘निर्मच्यामः’ निर्भक्तान्  
भागरहितान् कुर्यामेत्यर्थः । इत्थं प्रतिज्ञायथाः ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञातैः कृतं दर्शयति— “तद्यथेति । ‘यथा’ आर्द्रं  
‘चर्म’ भूमौ प्रसार्य ‘शङ्कुभिः’ परितो ‘विहन्त्यात्’, ‘एवं’ ‘प्रतिष्ठां’  
सर्वप्राण्यासदभूताम् ‘इमां’ पृथिवीं शर्कराभिः ‘पर्यवृंहन्त’  
परितः शर्करास्थापनेन दृढीकृतवन्तः । निगदसिद्ध  
मन्यद् ॥ १० ॥

एवं पुरावृत्त मुदाहृत्यैतद्वृष्टान्तेन प्रकृत मनुसन्धत्ते —  
“तथो एवेति । उक्तार्थं मेतत् ॥ ११ ॥

विहितसम्भरणं मनूय तत्सङ्ख्योपजीवनेन प्रशंसति—  
“तान् वा एतानिति । ‘तान्’ पूर्वोक्तान् ‘पञ्च सभारान्’  
‘सम्भरति’ । उदकहिरण्योषाखुकरीषशर्कराः पञ्च सभाराः ।  
“पाङ्क्तो यज्ञ इति । पञ्चपदा पङ्क्तिः \* ; ‘यज्ञः’ अपि  
धानाकरन्धादिपञ्चहविष्क इति † पञ्चसङ्ख्यायोगात् ‘पाङ्क्तः’ ।  
अस्थिमज्जेतिपञ्चधातुमयत्वात् ‘पशुः’ अपि ‘पाङ्क्तः’ ‡ । संवत्सर-  
सम्बन्धिनः ‘ऋतवः’ वसन्ताद्या अपि पञ्चसङ्ख्याकाः । हेमन्त-  
शिशिरयोः समासाभिप्रायं मेतत् । तथा चैतरेयकम्— “हेमन्त-  
शिशिरयोः समासेन”—इति ॥ १२ ॥

\* ऐ० ब्रा० ६, ४, ४ ; ५, ४, २ ।

† ‘धानाः, करन्धाः, परिवापः पुरोडाशः, पयस्थिति’ ऐ० ब्रा० २, ३, ६ ।

‡ ऐ० ब्रा० ६, ५, ३ ।

॥ ऐ० ब्रा० १, १, १ ।

तदेतत् पञ्चत्वं लोकप्रसिद्धिविरुद्धं मित्याक्षिपति— “तदाहु-  
रिति । हेमन्तशिशिरो हि पृथक्त्वेन लोके प्रसिद्धौ ; अतस्तयो-  
रेक्यं न युक्तं मितिभावः । परिहरति— “न्यूनमिति । ‘तर्हि’  
तथा सति ऋतुषट्के मिथुनत्रयसम्पत्तिः ; पञ्चके तु तन्मिथुनत्रय  
मेकेन ‘न्यूनं’ भवति, तच्च प्रजननसाधनम् \* । अतः लोक-  
प्रसिद्धिमाह— “न्यूनादिति । स्त्रीपुंसयोर्वीर्यस्य परस्परन्यूनत्वे  
सति तस्मात् ‘न्यूनात्’ मिथुनात् स्त्रीपुंसलक्षणानि अपत्यानि  
‘जायन्ते’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ पञ्चसम्भारलक्षणेन यत् मिथुनस्य  
न्यूनत्वम्, ‘तत्’ ‘श्वःश्रेयसम्’, ‘श्वः’ परदिवसे श्रेयसो जनकम् ।  
“श्वसो वसीयःश्रेयसः”—इत्यच् समासान्तः † । तथा ‘उत्तरा-  
वत्’, ‘उत्तरा’ आगामिनी अभिहृद्भिः, तथोपेतमित्यर्थः । एव  
मृतूनां षट्केऽपि सम्भाराणां पञ्चसङ्ख्याकत्वं सुपपाद्यायापि  
न्यूनत्वं नाम कश्चित् नेष्ट इत्याशङ्क्य ‡ परिहरति— “यद्यु इति ।  
यदि षडृतुत्वं संवत्सरस्य सङ्ख्यास्ति, तर्हि एतेषां सम्भाराणां  
मांघीयमानः ‘अग्निरेव’ ‘षष्ठः’ षट्सङ्ख्यापूरकः ॥ १३ ॥

असम्भारपक्षमाह— “तदाहुरिति । “एकचनेति । एक  
मपीत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह— “अस्यामिति । आरोपित  
सर्वसम्भारभूतायां पृथिव्या माधानादेव तत्कार्यप्राप्तेर्न पृथक्  
सम्भारापेक्षेत्यर्थः । सम्भरणपक्षमेव निगमयति— “तदु स  
मेवेति । “यदु सम्भारैरिति । ‘यत्’ खल्वाधाने सम्भृतैः ‘सम्भारैः’  
निष्पन्नं भवति, ‘तत्’ खल्वाधानं भवति ; सम्भारविरहे तु

\* ‘तच्चाप्रजननसाधनम्’—इति च, ।

† पा० सू० ५, ४४, ८० ।

‡ ‘कश्चिन्नन्येत्याशङ्क्य’—इति च ।



तदाधान मेव न भवतीति कुतस्तस्य दृष्टिवीसम्भन्धवशात्  
सम्भरणप्राप्तिरित्यर्थः ॥ १४ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

कृत्तिकास्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽअग्नि-  
नक्षत्रं यत्कृत्तिकास्तद्वै सुलोमं योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी  
आदधातै तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत \* ॥ १ ॥

एकं द्वे त्रीणि । चत्वारोति वा ऽअन्यानि  
नक्षत्राण्यथैता एव भृयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद्भूमान  
मेवैतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥ २ ॥

एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सुर्वाणि  
ह वा ऽअन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते तत्  
प्राच्या मेवास्यैतद्दिश्याहितौ भवतस्तस्मात् कृत्तिका-  
स्वादधीत † ॥ ३ ॥

अथ यस्मान्न कृत्तिकास्वादधीत । ऋक्षाणां ‡

\* 'दधीत'—इति ग, घ, ङ ।

† 'दधीत'—इति ग, घ, ङ ।

‡ 'ऋक्षाणां'— इति ग, घ, ङ ।

ह वा ऽएता अग्ने पुत्रा आसुः सप्तऽर्षीन् ह स्म वै  
 पुरऽर्चा इत्याचक्षते ता मिथुनेन व्यार्ध्यन्तामी  
 ह्यतराहि सप्तऽर्षेभ्य उद्यन्ति पुर एता अश मिव वै  
 तद्यो मिथुनेन व्यृद्धः स नेन् मिथुनेन व्यृद्धा ऽवृत्ति  
 तस्मान्न कृत्तिकाखादधीत ॥ ४ ॥

तद्वैव दधीत । अग्निर्वा ऽएतासां मिथुन मग्नि-  
 नेता मिथुनेन समृद्धास्तस्मादेव दधीत ॥ ५ ॥

रोहिण्या मग्नी ऽआदधीत । रोहिण्याऽ ह  
 वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नी ऽआदधे स प्रजा  
 असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तव्यास्तस्य  
 रोहिण्य इवैव तद्वै रोहिण्यै रोहिणीत्वं बहुर्हैव  
 प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ६ ॥

रोहिण्या मु ह वै पशवः । अग्नी ऽआदधिरे  
 मनुष्याणां कामः रोहिमेति ते मनुष्याणां काम  
 मरोहन् य मु हैव तत् पशवो मनुष्येषु काम मरोहन्  
 मु हैव पशुषु कामः रोहति य एवं विद्वान् रोहिण्या  
 माधत्ते ॥ ७ ॥

मृगशीर्षेऽग्नी ऽआदधीत । एतद्वै प्रजापतेः



शिरौ यन् मृगशीर्षं श्रोत्रैश्च शिरः श्रीर्हि वै शिर-  
स्तुच्छाद्योऽर्च्यश्च श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्णार्च्यश्च शिर-  
इत्याहुः श्रियं ह गच्छति य एवं विद्वान् मृगशीर्षं  
ऽआधत्ते ॥ ८ ॥

अथ यस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधोत । प्रजापतेर्वपु-  
एतच्छरीरं यत्र वा ऽएनं तदुविध्यंस्तदिषुष्णा त्रिकाण्डे-  
नेत्याहुः स एतच्छरीरं मजहाद्वास्तु वै शरीरं मय-  
न्नियं निर्व्वीर्यं तुस्मान्न मृगशीर्षं ऽआदधीत ॥ ९ ॥

तद्वै दधीत । न वा ऽएतस्य देवस्य वास्तु-  
नायन्नियं न शरीरं मस्ति यत् प्रजापतेस्तुच्छादैव-  
दधीत पुनर्व्वसोः पुनराधेयं मादधीतेति ॥ १० ॥

फल्गुनीष्वग्नी ऽआदधीत । एता वा ऽइन्द्र-  
नक्षत्रं यत् फल्गुन्योऽप्यस्य प्रतिनाम्नोऽर्जुनो ह वै  
नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नामार्जुन्यो वै नामैतास्ता-  
एतत् परोऽक्ष माचक्षते फल्गुन्य इति को ह्येतस्या-  
र्हति गुह्यं नाम ग्रहीतु मिन्द्रो वै यजमानस्तत्सु ऽएवै-  
तन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्त ऽइन्द्रो यज्ञस्य देवतैतेनो हास्यै-  
तत्सेन्द्र मग्न्याधेयं भवति पूर्व्वयोरादधीत पुरस्तात्  
क्रतुर्हैवास्त्रौ भवत्युत्तरयोरादधीत श्वः श्रेयसु हैवा-  
स्त्रा ऽउत्तरावद् भवति ॥ ११ ॥

हस्तेऽग्नी ऽआदधीत । य इच्छेत् प्र मे दीये-  
तेति तदा ऽअनुष्ठया यद्वस्तेन प्रदीयते प्र हैवाक्षौ  
दीयते ॥ १२ ॥

चित्राया मग्नी ऽआदधीत । देवाश्च वा असुरा-  
श्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे त ऽउभय ऽएवामुं  
लोकं समाकुरुचाञ्चक्रुर्दिव मेव ततोऽसुरा रौहिण  
मित्यग्निं चिक्षिरेऽनेनामुं लोकं समागोच्याम  
इति ॥ १३ ॥

इन्द्रो ह वा ऽईक्षाञ्चक्रे । इमं चेद्वाऽइमे चिन्वते  
तुत एव नोऽभिभवन्तीति सु ब्राह्मणो ब्रुवाण  
एकेष्टकां प्रवध्येयाय \* ॥ १४ ॥

सु होवाच । हुन्ताहु मिमा मय्युपदधा ऽइति  
तथेति ता मुपाधत्त तेषा मल्पकादेवाग्निरसञ्चित  
आस ॥ १५ ॥

अथ होवाच । अन्वा ऽअहं तां दाखे या मुमे-  
हेति ता मभिपद्या ववर्ह † तस्या मावृढाया मग्नि-  
र्व्यवशशादाग्नेर्व्यवशद मन्वसुरा व्यवशेदुः स ता  
एवेष्टका वज्रान् कृत्वा ग्रीवाः प्रचिच्छेद ॥ १६ ॥

ते ह देवाः समेत्योचुः । चिचं वा ऽअभूम य



ऽद्वयतः सपुनानुबधिष्तेति तद्वै चित्रायै चित्रात्वं\*  
 चित्रं ह भवति हन्ति सपुनान् हन्ति द्विषन्तं  
 आहव्यं य एवं विद्वांसिचित्राया माधत्ते तस्मादेतत्  
 चत्रिय एव न चत्र मुपेत्येज्जिघांसतीव क्षेष सपुनान्  
 वीव जिगीषते ॥ १७ ॥

नाना ह वा ऽएतान्यग्रे चित्राण्यासुः । यथैवासौ  
 सूर्य्य एवं तेषा मेषु उद्यन्नेव वीर्य्यं क्षत्र मादत्त  
 तस्मादादित्यो नाम यदेषां वीर्य्यं क्षत्र मादत्त ॥ १८ ॥

ते ह देवा ऊचुः । यानि वै तानि क्षत्राण्य-  
 भूवन् न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां  
 नक्षत्रत्वं तस्मादु सूर्य्यनक्षत्र ऽएव स्यादेषु क्षेपां वीर्य्यं  
 क्षत्र मादत्त यद्यु नक्षत्रकामः स्यादेतदा ऽअनपराहं  
 नक्षत्रं यत् सूर्य्यः स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्ष-  
 त्राणां कामयेत तदुपेत्येज्जस्मादु सूर्य्यनक्षत्र ऽएव  
 स्यात् ॥ १९ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ १. २ ] ॥

कर्मणः कालसापेक्षत्वात् आधानस्य नक्षत्रं † विधत्ते—  
 “कृत्तिकास्त्रित्यादिना । ‘अनी’ गार्हपत्याहवनौथावित्यर्थः ।

\* ‘चित्रात्वं’—ग, घ ।

† ‘नक्षत्राणि’— इति च ।

अग्निदेवताकत्वादग्निनक्षत्रं कृत्तिकान्त्यम् । श्रूयते हि—  
 “कृत्तिकानक्षत्रं मग्निदेवतेति \* । तस्मिन्तन्मग्निनक्षत्रेऽग्न्याधानं  
 ‘सलोम’ सदृशं, योग्यं मिति यावत् ॥ १ ॥

अथैतस्य नक्षत्रस्य बहुत्वोपजीवनेन प्रशंसति—“एक  
 मिति । कृत्तिकातः ‘अन्यानि नक्षत्राणि’ एक-द्वि-त्रि-चतुः-  
 रुक्ष्याकाधिष्ठानान्यस्यीयांसि, कृत्तिकास्तु षट्संख्याधिष्ठानयोगात्  
 ‘भूयिष्ठाः’ बहुतराः । तत्रार्द्रादीनाम् ‘एकम्’ अधिष्ठानम्,  
 फल्गुन्यादीनां ‘द्वे’, अश्विन्यादीनां ‘त्रीणि’, पुनर्वसादीनां  
 ‘चत्वारि’ । ‘तत्’ तस्मात्, एभ्यो भूयिष्ठनक्षत्राधानात् यज-  
 मानोऽपि ‘भूमानं’ बहुत्वमेवोपगच्छतीत्यर्थः ॥ २ ॥

नियतदिक्सम्बन्धवशेनैताः प्रशंसति—“एता ह वा इति ।  
 ‘प्राची’ प्राच्याः ‘दिशः’ सकाशात् ‘न चवन्ते’ दक्षिणत उत्तरतो  
 वा विक्षेपवशात् न चलन्ति, किन्तु नियमेन शङ्खप्राच्यामेवो-  
 च्यन्ति; ‘अन्यानि’ तु ‘नक्षत्राणि’ प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
 उत्तरतो वा विक्षेपवशात् चलन्ति, प्राचीदिग्भागाद् दक्षिणत  
 उत्तरतश्च नियमेन परिवर्तन्ते । “तत् प्राच्या मित्यादि ।  
 निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

कृत्तिकास्त्राधानपक्षं मिथुनवृद्धिहेतुत्वान्निषेधति—“अथ  
 यस्मादिति । ‘यस्माद्’ वक्ष्यमाणदोषोऽस्ति, तस्मात् ‘कृत्तिकास्तु  
 न आदधीत’ । कोऽसौ दोषः ? तमुपन्यस्यति—“ऋक्षाणां  
 हेति । ऋक्षशब्दार्थमाह—“सप्तर्षीनिति । ‘ऋक्षं’ नक्षत्रम्;  
 तद्रूपेणावस्थानात् । इह ‘ऋक्ष’-शब्देन सप्तर्षयोऽभिधीयन्ते । “पुर



ऋक्षा इति \* प्रकृतिभावो ऋक्षश्च । 'व्यार्धन्त' विगतर्द्धिका  
अभवन् । व्यृद्धि मेव ‡ देशभेदोदयेन स्पष्टयति—“अमी ह्रीति ।  
'अमी' खलु 'समर्षयः' 'उत्तराहि' । “आहि च दूरे”—इति §  
आहिप्रत्ययः । दूरदेशे उत्तरदिग्भागे 'उद्यन्ति' । 'एताः  
कृत्तिकाः 'पुरः' पूर्वस्यां दिशि । अत एव तासां विभिन्नदेशा-  
वस्थानेन ¶ पुरुषसम्भोगविरहात् मिथुनवृद्धिः । तच्चासमीचीन  
मित्याह—“अथ मिव वै तदिति । अतः कृत्तिकास्वाधानं  
कुर्वन्नपि तद्वत् मिथुनेन व्यृद्धयते, अतो 'न इत्' नैवाहं 'मिथुनेन'  
'वृद्धौ' व्यृद्धो भवानीत्यभिप्रेत्य तत्र नादधातीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैतद्दोषं परिहरन्नाधानपक्ष मेव निगमयति—“तद्वै-  
वेति । 'तत् उ आ एव' तस्मिन्नपि नक्षत्रे आदधीतैव ।  
'अग्निर्वा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ ५ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रशंसति—“रोहिण्या मिति । 'आदधे'  
आधानं कृतवान् । 'उपस्तब्धाः' प्रतिबद्धगतयो ॥ विनाश-  
रहिताः पुत्रपौत्रादिरूपेणैकरूपा अविच्छिन्नप्रवाहाः 'तस्थुः'  
स्थितवत्यः \*\* । ताश्च 'रोहिण्यः' स्वर्गादिलोकारोहणसाधन-  
भूता इति स्थिताः †† । एतदुपजीवनेन नामनिर्वचनं करोति—  
“तद्वा इति । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६ ॥

रोहिण्याधानं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“रोहिण्या मु हेति ।

\* पुरर्चा इत्येव पाठो दृश्यते मूलपुस्तकेषु ।

† पा० ६. १. १२० सूत्रं दृष्टव्यम् । ‡ 'वृद्धि मिव'— इति च ।

§ पा० सू० ५. ३. ३७ ।

¶ 'अत एवातीवसम्भिन्नदेशावस्थानेन'— इति च ।

॥ 'प्रतिबद्धजातयो'— इति च । \*\* 'स्थितवन्तः'— इति च ।

†† 'साधना इति'— इति च ।

मनुष्याणां कामं रोहेमेति । 'मनुष्याणां' 'कामः' भोग्यवस्तु-  
विषयः, तत्पूरणसामर्थ्ययोग्येन तं प्राप्नुयामेत्यर्थः । "य मु  
हेवेति । रोहिण्याधानेन काम्यमानं भोग्यवस्तुजातं पूरण-  
सामर्थ्यायोगात् 'मनुष्येषु' अवस्थितं 'य मु' य मेव 'कामं'  
प्राप्नुवन्, 'तम्' एव 'पशुषु' अवस्थितं रोहिण्या माधानतः  
प्राप्नोति \* । एत मेव सर्वे जना उपजीव्यत्वेन कामयन्त इति  
भावः ॥ ७ ॥

नक्षत्रान्तरं विधाय प्रशंसति — "मृगशीर्षं इति । पुरा  
खलु प्रजापतिः मृगरूप † मास्थाय मृगीमूतां खदुहितर मप्या-  
गमत् ‡ । "एतद्वा इति । एतत् ज्ञात्वा अकार्यकारिणः  
प्रजापतेः शिरः क्तेतुं देवाः कञ्चित् क्रोधमयं पुरुषं निर्माय  
प्रत्यतिष्ठन् । स चेष्मणा तस्य शिरश्चिच्छेद । तच्च मृग-  
शरीरं मिषुच्छिन्नशिरश्चेत्येतदुभय § मन्तरिक्षं मुत्प्लुत्य नक्षत्रात्म-  
नावस्थितं सन्दृश्यते । तथा चैतरेयकम् — "प्रजापतिर्वै स्वां  
दुहितर सम्यध्यायत्" — इत्युपक्रम्य "सो एषेषुस्त्रिकाण्डा" — इत्यन्ते-  
नाय मर्थः प्रतिपादितः ¶ । ईदृशी श्रुत्यन्तरप्रसिद्धिरत्र 'वै'-  
शब्देन द्योत्यते ॥ । "श्रीर्वैशिर इत्यादि । व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

तदेतन्मृगशीर्षाधानं निषेधति — "अथ यस्मान्नेति । मृग-  
शीर्षाधानं न कार्यम्, अत्र हेतुः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । कोऽसौ  
हेतुः ? त माह — "प्रजापतेरिति । मृगशीर्षाख्यस्य नक्षत्रस्य

\* "यो रोहिण्या मणि माधत्ते, ऋभोत्येव" — इति तै० ब्रा० १.१.२.२ ।

† 'कृष्णमृगरूप' — इति च । ‡ 'मेवोपागमत्' — इति च ।

§ 'इषुः शिरश्चेत्येतदुभय' — इति च । ¶ ऐ० ब्रा० ३.३.६ ।

॥ 'प्रतिपाद्यते' — इति क, ज ।



प्रजापतिशरीरत्वं माह— ‘यत्र’ यस्मिन् समये ‘एनं’ प्रजापतिं  
 मृगरूपम्, \* ‘तत्’ तेन स्वदुहितृगमनरूपेण दोषेण हेतुना  
 देवाः ‘अविध्यन्’, ‘तत्’ तदानीं पत्रदारुशल्यरूपावयव-  
 त्रयोपेतैः † ‘इषुणा’ खलु तच्छिरश्छिन्नम् ‡ ‘इत्याहुः’ ब्रह्मवा-  
 दिनः । ‘सः’ च प्रजापतिस्तदानीम् ‘एतच्छरीरम्’ त्यक्तवान् । अतो  
 निरात्मकत्वात् ‘निर्वीर्यं’ नक्षत्रात्मनावस्थितं मृगशिरः ‘वास्तु’  
 शून्यस्थानम् । यत एवात्मना त्यक्तम्, अत एव ‘शरीरं’ विग्रहण-  
 शीलम् ; अतएव च ‘अयन्नियं’ यज्ञानर्हम्, न हि मृगशरीरस्य  
 यज्ञात्मत्वं सम्भवति । ‘तस्मात्’ तदात्मके मृगशीर्षाख्ये नक्षत्रे  
 आधानं न युक्तमित्यर्थः ॥ ८ ॥

इमं दोषं परिहरन् प्रागुक्तं मेव पक्षं निगमयति—  
 “तद्वैवेति । “देवस्येति । मनुष्येण त्यक्तस्य वास्त्वादिरूपत्वम्,  
 अयं हि प्रजापतिर्देवः, तेन त्यक्तस्य तत्त्वाभावात् वास्त्वादि-  
 रूपो दोषो नास्ति ; मृगरूपस्य शिरः स्वमहिम्नैव नक्षत्र-  
 रूपत्वं सम्पन्नम्, न खलु मानुषं शिरस्तथा भवितुमर्हति ।  
 तस्मात् तदाधाने नोक्तदोष इत्यर्थः ॥

पुनर्वस्वाख्यस्य नक्षत्रस्य लिङ्गवशात् पुनराधेय-विषयता  
 माह—“पुनर्वस्वोरिति । आहितानां मप्यग्नीनां पुनर्वस्वा-  
 भिन्नवशादाधानं पुनराधेयम् § । नक्षत्रं चैतत् नष्टस्य वसुनः

\* ‘कृष्णमृगरूपम्’—इति च ।

† “‘त्रिकाण्डा’ अनीकं, शाल्याः, तेजः मित्यवयवत्रयोपेता”— इति  
 रे० ब्रा० ३. ३. ८. सा० भा० । ‡ ‘श्छिन्नन्ति’—इति कृ. ज ।

§ ‘पुनराधेय माधानाप्रतिज्ञातस्य’—इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि  
 ( का० श्रौ० सू० ११. १.—१५. ) ।

पुनःप्राप्तिहेतुत्वात् पुनर्वस्वाख्यम् \* । तथाच तैत्तिरीयको स्रष्ट  
मान्नातम्—“स पुनर्वस्वोरग्नि मादधीत, पुनरेवेनं वामं  
वसूपावर्त्तते”—इति † ॥ १० ॥

“फलगुनीष्वग्नी इति । पूर्वोत्तरफलगुन्याख्ययोर्नक्षत्रयोः  
प्रत्येक मधिष्ठानद्वित्वयोगात् द्वित्वम् । फलगुनीनामोपजीवनेन  
प्रशंसति—“एता वा इति । कथं मस्य नक्षत्रस्येन्द्रसम्बन्ध इत्यत  
आह—“अप्यस्येति । ‘अस्य’ इन्द्रस्य प्रतिनिधिभूताः फलगुन्यः  
सम्भाव्यते । ‘अपि’ सम्भावनार्थः । प्रतिनिधित्वं च समान-  
शब्दाभिधेयत्वादित्याह—“अर्जुनो हेति । ‘अर्जुनः’ इति’  
हि इन्द्रस्य रजस्यं नाम ; अत एव खलु तत्पुत्रे पाण्डुमध्यमे  
प्रवृत्तिः । अर्जुनफलगुनशब्दो च पर्यायी ; अर्जुनः फलगुनः  
पार्थ इति समानार्थपरिगणनात् । ‘अर्जुन्यः’ एव ‘एताः’,  
पारोक्ष्येण ‘फलगुन्य इति’ उच्यन्ते । न तु किं पारोक्ष्येणेत्यत  
आह—“कोऽर्हतीति । अतः फलगुनोशब्दस्य परम्परयेन्द्रोप-  
लक्षकत्वात् तन्नामकं नक्षत्रम् । “इन्द्रो वा इत्यादि, स्रष्टम् ।  
फलगुनीषु पूर्वोत्तरत्व मुपजीव्य हित माधानं प्रशंसति—  
“पूर्वयोरित्यादिना ‡ । “पुरस्तात् क्रतुरिति । पूर्वस्मिन्ना-  
गामिनि कालेऽग्निष्टोमादिलक्षणः ‘क्रतुः’ शीघ्रं सिद्धयतीत्यर्थः ।  
“श्वःश्रेयस मित्यादि । उक्तार्थम् § ॥ ११ ॥

\* ‘पुनर्वस्वोः’—इति का० श्रौ० सू० ४. ११. ५ ।

† तै० ब्रा० १. १. २. ३ ।

‡ “पूर्वयोः फलगुन्योरग्नि मादधीत”—इत्यादि, “उत्तरयोः फलगुन्यो-  
रग्नि मादधीत”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. १. २. ४ ।

§ “अतिकारोद्धिणीन्द्रगशिरःफलगुनीषु”—इति का०श्रौ०सू० ४. ७. २ ।



“हस्तेऽग्नीत्यादि । निगदसिद्धम् । स्वहस्तेन ‘यत्’ खलु दानम्, ‘तद्’ एव ‘अनुष्ठया’ अनुष्ठानेन समीचीनम् । अतो हस्तनक्षत्रे अग्न्याधानात् परकर्तृकं हस्तेन दानं प्राप्नोतीति तात्पर्यार्थः \* ॥ १२ ॥

“चित्राया मित्यादि । “आरुरुक्षाश्चक्रुरिति । आरोढु मिच्छां कृतवन्त इत्यर्थः । अमु मिति ‘अदस्’-शब्देन पारोक्ष्येण यो लोको निर्दिष्टः, तं विशिनष्टि— “दिव मेवेति । ‘ततः’ अनन्तरम् ‘असुराः’ ‘रौहिण मिति’ एतन्नामकं रोहणसाधनम् ‘अग्निं’ ‘चिक्रे’ । व्यत्ययेनैकवचनम्, † ‘चिक्रिरे’ चितवन्तः । “अग्नेनेत्यादि । अष्टम् ॥ १३ ॥

“इन्द्रो हेति । “इमं चेत्यादि । यम् ‘इमम्’ अग्निं वयं चेत्यामः, इम मेव चेदसुरा अपि चिन्वीरन्, ‘ततः’ तस्मात् ‘एव’ साधनात् ‘नः’ अस्मान् ‘अभिभवन्ति’ असुराः, अभिभवितुं समर्था भवन्ति । ‘इति’ विचार्य, ‘सः’ इन्द्रः ‘ब्राह्मणः’ भूत्वा असुरहितं ब्रुवाण एव ‘एका मिष्टकां’ ‘प्रवध्य’ गृहीत्वा ‘इयाय’ जगाम ॥ १४ ॥

“स होवाचेति । गत्वा च तान् असुरान् ‘उवाच’ । ‘अहम्’ अपि ‘इमाम्’ इष्टकां भवदीयेऽग्नी ‘उपदधै’ उपधानं करवाणि ‘इति’ । ‘तथा इति’ तैरनुज्ञातः, ‘ताम्’ इष्टकां तत्र ‘आधत्त’ । अन्यदीये चयने अन्यदीयेष्टकोपधानं मशास्त्रीय मित्येतस्मात् ‘अल्पकादेव’ श्लेषात् ‡ ‘तेषाम्’ असुराणाम् ‘अग्निः’ असम्यक् चितो विकल्पो बभूव ॥ १५ ॥

\* “हस्तो लाभकामस्य”— इति का० श्रौ सू० ४. ७. ३ ।

† पा० सू० १. ४. ६ । ‡ ‘अग्नेर्भृशो यथोचितात्’— इत्यमरः २. ८. २३ ।

‘अथ’ हीवाचेति । ‘अथ’ कालान्तरे स एव ब्राह्मणरूप इन्द्रः तानसुरान् ‘उवाच’ । ‘इह’ अस्मिन् चित्तप्रदेशे ‘या’ ‘मम’ इष्टका, ‘ताम्’ ‘आदास्ये’ इत्युक्त्वा तत्समीपं मभिप्राप्य, ‘ताम्’ इष्टकाम् ‘आववर्ह’ \* उद्ययाम्, तस्मात् स्थानादचालय-  
दित्यर्थः । “वृद्ध उद्यमने”—इति † धातुः । ‘तस्यां’ चैष्टकायां  
चित्त्यानेः सकाशाच्चालितायां सत्यां, सः ‘अग्निः’ व्यवशशाद‡  
विशीर्णो बभूव । तदनन्तरं तच्चेतारः ‘असुराः’ च ‘व्यवशेदुः’ §  
व्यवसन्नाः ¶ शिथिला बभूवुः । “स ता इत्यादि स्पष्टम् । “ग्रीवा  
इति । असुरसम्बन्धिनीः ॥ १६ ॥

“ते ह देवा इति । चित्राख्येष्टका । अस्या एवं चित्र-  
हेतुत्वात् ‘चित्रा’ नाम सम्पन्नमित्यर्थः । “चित्रं हेत्यादि निगद-  
सिद्धम् । “तस्मादेतदित्यादि । यस्मादुत्तरीत्या चित्रा-  
नक्षत्रस्य शत्रुहननसाधनत्वम्, ‘तस्मात्’ आधाने ‘क्षत्रिय एव’  
‘एतत्’ नक्षत्रं (‘उपेक्षेत्’) स्वीकुर्यात् ॥ । तत्र कारणं माह—  
“जिघांसतीवेति । ‘एषः’ खलु क्षत्रियः अन्यान् शत्रून्  
‘जिघांसति’ हन्तुं मिच्छति ‘इव’, तथा ‘विजिगीषने ‘इव’ विजेतुं  
मिच्छतीव । तस्माच्छत्रुहननकामस्य क्षत्रियस्यैतन्नक्षत्रम्,  
नान्यस्येत्यर्थः \*\* ॥ १७ ॥

\*—† ‘आववर्ह’—इति, ‘वृद्ध’—इति च कृ—पाठौ, मतान्तरेऽस्ति  
चैष धातुरन्यस्यपूर्वोऽपि । ‡ ‘व्यवशसाद’—इति कृ ।

§—¶ ‘व्यवशेदुः’—इति च । ‘व्यवशन्नाः’—इति कृ, ज ।

॥ “स चित्राया मग्निं मादधौत”—इत्यादि ते ब्रा० १. १. २. ६ ।

\*\* “चित्रायां क्षत्रियस्य”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ४ ।



सूर्येणापहृतवीर्याणि कृत्तिकादिनक्षत्राण्यनादृत्य तेजस्विनि  
सूर्यात्मके नक्षत्रे उद्यति सति आधानं कार्यं मित्याह—“नाना  
ह वा इति । पुरा खलु कृत्तिकादिनक्षत्रमण्डलानि सूर्यमण्डल-  
वत् तेजस्विन्येव बभूवुः । ‘एषः’ खलु ‘सूर्यः’ ‘उद्यन्’ चतं  
तेजः सामर्थ्यं च उद्य माप्नुवन् ‘एव’ ‘तेषां’ ‘वीर्यं’ ‘आदत्त’  
स्वीकृतवान् । ‘तस्मात्’ आदानात् ‘आदित्यः’ इति  
उच्यते ॥ १८ ॥

नक्षत्रनामधेयं निर्वक्ति—“ते हेति । ‘यानि’ खलु पुरा  
‘क्षत्राणि’ ‘अभूवन्’, ‘तानि’ इदानीं सूर्येण क्षत्रगुणस्यापहृत-  
त्वात्, न विद्यते क्षत्र मेषा मिति व्युत्पत्त्या ‘नक्षत्राणि’ सम्प्रवा-  
नीत्यर्थः । यस्मादेवं कृत्तिकादीन्यपहृतवीर्याणि, ‘तस्मात्’  
एव कारणात् सूर्यात्मके ‘एव’ तेजस्विनि नक्षत्रे आधानं स्यात् \* ।  
तत्र हेतु माह—“एष हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘एषः’ सूर्यः  
‘एषां’ नक्षत्राणां वीर्यादिकम् ‘आदत्ते’, तस्मात् सर्वोयं तस्मि-  
न्नाधानं युज्यत इत्यर्थः । यदि च यजमानः तत्तत्पूजार्थं  
नक्षत्रकामः स्यात्, तदानीं मपि सूर्यात्मक मेव नक्षत्रं सुपा-  
ददीतेत्याह—“एतद्वा इति । ‘अनपराहम्’—इति हेतु-  
गर्भविशेषणम् । यतस्तेजोवियोगलक्षणापराधरहितम्, अतस्तदेव  
सूर्यात्मकं नक्षत्रं कामयेत्यर्थः । तेन कृत्स्ननक्षत्राणां प्राप्ति  
माह—“स एतेनैवेति । ‘एतेनैव’ सूर्येणोद्यता पुण्यकालात्मना

\* सूर्यो नक्षत्रं कालोपलक्षणं यस्य सोऽयं सूर्यनक्षत्रः; सूर्या-  
पेक्षिते एव काले आदधीत, न नक्षत्रोपलक्षिते इत्यर्थः । कथं तत् सूर्यकालं  
लक्षयति ? उदगयनम्—इत्याद्याहेह हरिश्चामी !

कृत्स्ननक्षत्रेऽप्याधानफलं सुपगच्छेत् । 'तस्मात्' सूर्यात्मके  
एव नक्षत्रे उद्यति सति आधानं स्यात्, न रात्रा-  
वित्यर्थः \* ॥ १८ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* (१) "अग्नेः कृत्तिकाः ००० । (२) प्रजापते रोहिणी ००० ।  
३) सोमस्येन्वका [ ऋगशिराः ] ००० । (४) रुद्रस्य वाहू [ आर्द्रा ]  
००० । (५) अदित्यै पुनर्वसू ००० । (६) बृहस्पते स्तिष्ठः [ पुष्यः ]  
००० । (७) सर्पाणां मन्वेष्टाः ००० । (८) पितॄणां मघाः ००० ।  
(९) अर्यमणः पूर्वे फल्गुनी ००० । (१०) भगस्योत्तरे ००० ।  
(११) देवस्य सवितुर्हस्तः ००० । (१२) इन्द्रस्य चित्रा ००० । (१३) वायो-  
निष्ठा [ स्वाती ] ००० । (१४) इन्द्राग्नयोर्विशाले ००० । (१५) मित्र-  
स्यानूराधाः ००० । (१६) इन्द्रस्य रोहिणी [ ज्येष्ठा ] ००० । (१७) निर्वृत्यै  
मूलवर्हिणी ००० । (१८) अपां पूर्वाषाढाः ००० । (१९) विश्वेष्ठां देवानां  
मुत्तराः ००० । (२०) विष्णोः श्रौणा [ श्रवणा ] ००० । (२१) वसूनां  
अविष्ठाः [ धनिष्ठाः ] ००० । (२२) इन्द्रस्य शतभिषक् ००० ।  
(२३) अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदः ००० । (२४) अहेबुध्नियस्योत्तरे  
००० । (२५) पूष्यो रेवती ००० । (२६) अश्विनोरश्वयुजौ ००० ।  
(२७) यमस्यापभरणीः ००० ।— "इति तै० ब्रा० १.५.१ अ० । ततो-  
ऽग्रे २ अ०— (२८) "अभिजिन्नाम नक्षत्रं सुपरिष्ठादषाढानां मधस्ताच्छ्रो-  
णायै"—इत्यादि उत्तराषाढानक्षत्रस्य यच्चतुर्थः पादः, श्रवणनक्षत्रस्य  
च यः प्रथमः पादः, तदुभयं मिलित्वा नक्षत्रसन्धिरूपं मभिजिदाख्यं किञ्चि-  
न्नक्षत्रम्—इति च तत्र सा० । अत्र च "कृत्तिकाः प्रथमं विशाले  
उत्तमम्, तानि (१—१४) देवनक्षत्राणि ; अनूराधाः प्रथमं मपभरणी-



( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः \* । ते देवा ऋतवः शर-  
हेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्यतेऽर्द्धमांसः स  
देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः  
पितरः पुनरङ्गः पूर्वाह्णो देवा अपराह्णः पितरः ॥ १ ॥

ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवाः पितरः स यो हैवं  
व्विद्वान् देवाः पितर इति ह्वयत्या हास्य देवा  
देवह्वयं गच्छन्त्या पितरः पितृह्वयं मुवन्ति हैनं देवा  
देवह्वयेऽवन्ति पितरः पितृह्वये य एवं व्विद्वान् देवाः  
पितर इति ह्वयति ॥ २ ॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते† । देवेषु तर्हि भवति‡ देवां-  
स्तुर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्त्तते पितृषु तर्हि  
भवति पितॄस्तुर्ह्यभिगोपायति ॥ ३ ॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते§ । तर्ह्यग्नी ऽआदधीतापहत-

रुत्तमम्, तानि ( १५-२८ ) यमनक्षत्राणि । यानि देवनक्षत्राणि, तानि  
दक्षिणेन परियन्ति ; यानि यमनक्षत्राणि, तान्युत्तरेण । ००० । यान्येव  
देवनक्षत्राणि, तेषु कुर्वीत यत्कारौ स्यात् ; पुरयाह एव कुरुते—इति च  
तत्रैव तत उत्तरम् ।

\* 'वर्षाः'—इति ग, घ ।

†, § 'दङ्गावर्त्तते'—इति क । 'दगावर्त्तते'—इति ग, घ ।

‡ 'भवति'—इति च दृश्यो डा०-वेवरेण ।

पाप्मानो देवा अप पाप्मानः हतेऽमृता देवा  
नामृतत्वस्याशस्ति सर्व मायुरेति यस्तुर्ह्याधत्तेऽथ  
यत्र दक्षिणावर्त्तते यस्तुर्ह्याधत्तेऽनपहतपाप्मानः  
पितरो न पाप्मान उपहते मर्त्याः पितरः पुरा  
हायुषो म्रियते यस्तुर्ह्याधत्ते ॥ ४ ॥

ब्रह्मैव व्वसन्तः । चत्रं ग्रीष्मो विडेव वर्षा-  
स्तस्माद् ब्राह्मणो व्वसन्तऽआदधीत ब्रह्म हि व्वसन्त-  
स्तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्मऽआदधीत क्षत्रं हि ग्रीष्म-  
स्तस्माद् वैश्य वर्षास्वादधीत विडि व्वर्षाः ॥ ५ ॥

स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी स्या मिति व्वसन्ते  
स आदधीत ब्रह्म वै व्वसन्तो ब्रह्मवर्चसी हैव  
भवति ॥ ६ ॥

अथ यः कामयेत । क्षत्रं श्रिया यशसा स्या मिति  
ग्रीष्मे स आदधीत क्षत्रं वै ग्रीष्मः क्षत्रं हैव श्रिया  
यशसा भवति ॥ ७ ॥

अथ यः कामयेत । बहुः प्रजया पशुभिः  
स्या मिति वर्षासु स आदधीत विड् वै वर्षा अन्नं  
विशो बहुहैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान्  
वर्षास्वादत्ते ॥ ८ ॥



ते वा एत ऋतवः । उभय एवापहतपाप्मानः  
सूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्तीद्यन्नेवैषा मुभयेषां पाप्-  
मान मुपहन्ति तस्माद्यद्वैतं कदा च यज्ञोऽउपनमे-  
दयान्नीऽआदधीत नु श्वःश्व मुपासीत को हि मनु-  
ष्यस्य श्वो व्वेद ॥ ६ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [१.३.] ॥

अथाधानस्य वसन्ताद्यृतुविध्यं सृत्वादीनां देवपित्रात्मना  
हेधा विभाग माह— “वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्यृतुसमये  
देवानां सूर्यदर्शनादहर्भवतीति तेषां तादात्म्यम् ; शरदादीनां  
तद्द्वैलक्षणात् पितृरूपत्वम् । “य एवापूर्यते”—इत्यादि, निगद-  
सिद्धम् ॥ १ ॥

“ते वा एत ऋतव इति । “स यो ह्येवं विद्वानित्यादि ।  
एव सृतूनां देवत्वं पितृत्वं च ‘विद्वान्’ तान् ऋतून् ‘देवाः  
पितरः’ ‘इति’ ‘ह्वयति’ व्यवहरेदित्यर्थः । तस्य फल माह—  
“आ हास्येति । ‘अस्य’ आह्वातुः ‘देवहूयं देवाह्वानं प्रति देवा  
आगच्छन्ति, तथा ‘पितृह्वयं’ पितृक माह्वानं प्रति पितरोऽप्या-  
गच्छन्ति । आगताश्च ते स्वसम्बन्धे कर्मणि ‘एनम्’ आह्वाता-  
रम् ‘अवति’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

आधानस्योदगयनं कालं विधित्सुर्ह्ययोरप्यनयोर्देवपितृ-  
सम्बन्धं क्रमेणाह— “स यत्नेति । ‘सः’ सूर्यो यस्मिन् काले  
दक्षिणगोलादुत्तरगोलं प्रति ‘उदङ्’ पर्यावर्तते, ‘तर्हि’ तदा,  
तस्मिन् समये मेरुरूपरिभागेऽवस्थितानां देवानां स दृष्टि-

गोचरो भवतीति तेषु उदङ् 'देवेषु' प्रकाशो भवतीति । 'अथ' 'यत्' यस्मिन् काले पुनरुत्तरगोलाद् दक्षिणगोलं पर्यावर्त्तते, तदा दक्षिणदिगवस्थितस्य प्रकाशः, स तु तेषु 'पितृषु' भवति ॥ ३ ॥

एव मुत्तरायणे दक्षिणायने च देवपितृसम्बन्ध मभिधाय, तत्सम्बद्ध माधान मपि तत्रैव कार्य मिति विधत्ते—“स यत्वेति । “अपहृतपाप्मान इति । देवानां पापराहित्यात् सरणधर्मराहित्याच्च तत्सम्बन्धिन्ययनेऽग्न्याधानकारिणोऽपि तदुभयं सिद्धयतीत्यर्थः । दक्षिणायने आधातुरुक्तवैपरीत्य माह—“अथ यत्वेति ॥ ४ ॥

एव मुदगयनं विधाय तत्रापि ब्रह्मचत्रादिवर्णानुसारेण ऋतुव्यवस्थां करोति—“ब्रह्मैव वसन्त इत्यादिना । वसन्ताद्या ऋतवः जात्या ब्रह्मचत्राद्यात्मकाः, अतस्तेषां क्रमेण तत्तज्जात्या-धानकालत्वम् \* ॥ ५ ॥

एवं नित्यपक्ष मभिधाय काम्यपक्ष माह—“स य इति । “ब्रह्मवर्चसी हैवेति । ब्राह्मणजात्यात्मके वसन्ते आधानात् क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणतेजस्सम्पन्नो भवतीत्यर्थः । एव मुत्तर-त्रापि योज्यम् ॥ ६ ॥

“अथ यः कामयेतेति । “क्षत्रं श्रियेति । क्षत्रियजाते-रपि 'श्रिया' सम्पदा कीर्त्या च क्षत्रात्मकः स्या मिति कामय-मानस्य ब्राह्मणादेः ग्रीष्म आधानकाल इत्यर्थः ॥ ७ ॥

\* “वसन्तो ब्राह्मण-ब्रह्मवर्चसकामयोः, ग्रीष्मः क्षत्रिय-श्रीकामयोः, वर्षाः प्रजापशुकाम-वैश्यरथहताम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. ७. ५, ६, ७ । “शिशिरः सार्ववर्णिकः”—इति च शाखान्तरम् ।



“अथ यः कामयेतेति । बहुप्रजापश्वादिसृष्टिकामस्य  
वैश्यस्यापि तत्फलप्राप्तये वर्षास्वाधानं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एव मयनविशेषं ऋतुविशेषं चाभिधाय पक्षान्तरं च वक्तुं  
सर्वेषां मध्यतूनां पापसम्बन्धराहित्यं माह — “ते वा एत इति ।  
“उभय एवेति । देवपितृसम्बन्धितया द्विधा प्रतिपादिता  
एवेत्यर्थः । पापराहित्ये कारणं माह — “सूर्य एवेति । यस्मा-  
देव सर्वेऽप्यृतवः पापराहित्येन शुद्धाः, ‘तस्मात्’ यस्मिन् कस्मिं-  
श्चिद्वृत्तौ सोमयागं मभिगच्छेत्, ‘अथ’ अनन्तरं मेव अग्न्या-  
धानं कुर्यात् ; “न श्वः—श्वं मुपासीतेति । ‘श्वः’ करवाणि’—इत्येवं  
कालान्तरप्रतीक्षा न कुर्यात् । तत्र हेतुं माह — “को हीति ।  
‘मनुष्यस्य’ ‘श्वः’ श्वःकालसम्बन्धिं जीवनं ‘कः’ नाम ‘वेद’  
जानीयात् ? आयुषोऽस्थिरत्वादित्यर्थः ॥ ९ ॥ ३ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

यदुहरस्य श्वोऽग्न्याधेयः स्यात् । दिवैवाग्नी-  
यान्मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति तेऽस्यैतच्छ्रो-

ऽग्न्याधियं विदुस्तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति  
तेऽस्य गृहेषूपवसन्ति स उपवसथुः ॥ १ ॥

तुन्वे\*वानवकृप्तं यो मनुष्येष्वनश्नत्सु पूर्वी-  
ऽग्नीयादथ किं सु यो देवेष्वनश्नत्सु पूर्वीऽग्नीयात्  
तस्मादु द्विवैवाग्नीयात्तदपि† काममेव नक्त मग्नीयान्नो  
ह्यनाहिताग्नेर्वृतचर्यास्तिमानुषो ह्येवैष तावज्जुवति  
यावदनाहिताग्निस्तस्मादपि काममेव नक्त मग्नी-  
यात् ॥ २ ॥

तद्वैकेऽजमुपव्वधन्ति । आग्नेयोऽजोऽग्नेरेव  
सर्व्वत्वायेति व्वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद्यद्यस्याजः  
स्यादग्नीधुऽएवैनं प्रातुर्दद्यात्तेनैव तं काममाप्नोति  
तस्मादु तन्नाद्रियेत ‡ ॥ ३ ॥

अथ चातुष्प्राश्यु मोदनं पचन्ति । कुन्दाण्यनेन  
प्रीणीम इति यथा येन व्वाहनेन खन्तखन्तस्यात्तत्  
सुहितं कर्त्तवै ब्रूयादेव सेतदिति व्वदन्तस्तदु तथा न  
कुर्याद्यद्वा ऽअस्य ब्राह्मणाः कुले व्वसन्त्यृत्विजश्चा-

\* 'तुन्वे'—इयि क, ख, ड ।

† 'तुदपि'—इति च डा०-वेवरेण च डट् ।

‡ 'तं नाद्रियेत'—इति ख, डा०-वेवरेण च डट् ।



नृत्विजश्च तन्नैव तं काम माप्नोति तस्मादु तन्ना-  
द्रियेत \* ॥ ४ ॥

तस्य सर्पिंरासेचनं कृत्वा । सर्पिरासिच्याश्व-  
त्थीन्तिष्ठः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृत-  
वतीभिर्हृग्मिरभ्यादधति शमीगर्भं मेतुदाप्नुम इति  
वृद्धन्तः स यः पुरस्तात्स्ववत्सर मभ्यादध्यात् स ह तं  
काम माप्नुयात् तस्मादु तन्नाद्रियेत ‡ ॥ ५ ॥

तदु होवाच भ्रातृवेयः § । यथा वा ऽन्यत्-  
करिष्यन्त्सोऽन्यत् कुर्याद्यथान्यद्वादिष्यन्त्सोऽन्यद्देद्य-  
थान्येन पृथैष्यन्त्सोऽन्येन प्रतिपद्येतैवं तद्य एतं चातु-  
ष्प्राश्य मोदनं पुचेदुपराद्विरेव सेति न हि तदव-  
कल्पते यस्मिन्नग्नावृचा वा साम्ना वा यजुषा वा  
समिधं वाभ्यादध्यादाहुतिं वा जुहुयाद्यत्तं दक्षिणा  
वा हरेयुरनु वा गमयेयुर्दक्षिणा वा ह्येन हुरत्य-  
न्वाहार्यपुचनो भविष्यतीत्यनु वा गमयन्ति ॥ ६ ॥

अथ जायति जायति देवाः ¶ । त॥ देवानेवैतदुपा-

\*, ‡ 'तं नाद्रियेत'— इति ख, डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'सर्पिं'— इति च दृष्टो वे० ।

§ 'भ्रातृवेयो'— इति क, छ ।

¶ 'देवाः'— इति ग, घ ।

॥ 'देवा' स्तु— इति क, छ ।

वर्त्तते स सदेवतरः \* आन्तरस्तपस्वितरोऽग्नी  
 ऽआधत्ते तद्वपि काम मेव स्वप्यान्नो ह्यनाहिताग्नेऽर्त्त-  
 चर्यास्ति मानुषो ह्येवैष तावद् भवति यावदनाहि-  
 ताग्निस्तस्मादपि काम मेव स्वप्यात् ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽनुदिते मथित्वा † । त मुदिते प्राञ्च मुञ्च-  
 रन्ति तदु तदुभे ऽअहोरात्रे परिगृह्णीमः प्राणोदानयो-  
 र्मुनसश्च व्वाचश्च पर्याप्ता ऽद्भुतिव्वदन्तस्तदु तथा न  
 कुर्यादुभौ हैवाद्य तथा नुदित ऽआहितौ भवतो-  
 ऽनुदिते हि मथित्वा त मुदिते प्राञ्च मुञ्चरन्ति स  
 य उदित ऽआहवनीयं मन्येत् सु ह तत्पर्याप्नु-  
 यात् ॥ ८ ॥

अहव्यैः देवाः ‡ । अनपहतपाप्मानः पितरो न  
 पाप्मान उपहते मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते  
 योऽनुदिते मन्यत्यपहतपाप्मानो देवा अप पाप्मान-  
 हतेऽमृता देवा नामृतत्वस्याशस्ति सर्व्व मायुरेति  
 श्रीर्देवाः श्रियं गच्छति यशो देवा यशो ह भवति य  
 एवं विद्वानुदिते मन्यति ॥ ९ ॥

\* 'सदेवतरः'— इति ग, घ ।

† 'मथित्वा'— इति ग, घ ।

‡ 'देवाः'— इति ग, घ ।



तदाहुः । यन्नऽर्चान साम्ना न युजुषाग्नि-  
राधीयतेऽथ केनाधीयत इति ब्रह्मणो हेवैष ब्रह्म-  
णाधीयते व्याग्वै ब्रह्म तस्यै व्याचः सत्य मेव ब्रह्म ता  
वा एताः सत्य मेव व्याहृतयो भवन्ति तदस्य  
सत्येनैवाधीयते ॥ १० ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । इमा \* मजनयत भुव  
इत्यन्तरिक्षं स्वरिति दिव मेतावद्वा इदं सर्वं  
यावदिमे लोकाः सर्व्वेणैवाधीयते ॥ ११ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । ब्रह्मा†जनयत भुव  
इति क्षत्रं स्वरिति विश्व मेतावद्वा इदं सर्व्वं  
यावद् ब्रह्म क्षत्रं विट् सर्व्वेणैवाधीयते ॥ १२ ॥

भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मान‡ मजनयत  
भुव इति प्रजां स्वरिति पशून्मेतावद्वा इदं सर्व्वं  
यावदात्मा प्रजा पशवः सर्व्वेणैवाधीयते ॥ १३ ॥

स वै भूर्भुव इति । एताऽवतैव गार्हपत्य माद-  
धात्यथ यत्सर्व्वैरादध्यात्केनाहवनीय मादध्याद् हे

\* 'प्रजापति । रिमा'— इति क, ड ।

† 'प्रजापति । ब्रह्मा'— इति क, ड ।

‡ 'प्रजापति । आत्मान'— इति क, ड । § 'इत्ये । ता'— इति ड ।

ऽअक्षरे पुरिणिनष्टि तेनो ऽएतान्ययातयामानि  
भवन्ति तैः स्रुवैः पञ्चभिराहवनीय सादधाति भूर्भुवः  
स्वरिति तान्यष्टावक्षराणि सम्पद्यन्ते ऽष्टाक्षरा वै  
गायत्री गायत्र मग्नेऽश्रुन्दः स्त्रेनैवैन मेतच्छ्रुन्दसा-  
धत्ते ॥ १४ ॥

देवान्ह वा ऽअग्नी ऽआधात्यमानान् । तान-  
सुररक्षसानि ररक्षुर्नाग्निर्जरिष्यते नाग्नी आधा-  
त्यध्व ऽइति तद्यद्वरक्षंस्तस्माद्रक्षाऽसि ॥ १५ ॥

ततो देवा एतं वृज्जं ददृशुः । यदुश्वं† तं पुर-  
स्तादुदश्वंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तच्छा-  
द्यवाग्निं मन्यिष्यन्त्यात्तदुश्व मानेतवै ब्रूयात् स  
पूर्वणोपतिष्ठते वृज्ज मेवैतदुच्छयति तस्याभयेऽनाष्ट्रे  
निवातेऽग्निर्जायते ॥ १६ ॥

स वै पूर्वशाट् स्यात् । स ह्यपरिमितं वीर्यं  
सम्भिवर्द्धते‡ यदि पूर्वशहं न विन्देदपि य एव कश्चाश्व  
स्याद्यदश्वं न विन्देदप्यनड्वानेव स्यादेष ह्येवानड्वो  
वस्युः ॥ १७ ॥

\* 'मानां । स्तान्'—इति क, ड ।

† 'ददृशु । यैदृश्वं'—इति क, ड ।

‡ 'वर्द्धते'—इति ड ।



तं यत्नं प्राञ्चः हरन्ति । तत्पुरुस्तादृशं नयन्ति  
तत्पुरुस्तादेवैतन्नाष्टा रुचाः स्वपद्मन्नेत्यथाभयेनानाष्टेण  
हरन्ति ॥ १८ ॥

तं वै तथैव हरेयुः । यथैन \* मेष प्रत्यङ्मुपाचरे-  
द्देष वै यज्ञो यदग्निः प्रत्यङ् हैवेनं यज्ञः प्रविशति तं  
क्षिप्ते यज्ञ उपनमत्यथ यस्मात्पराङ् भवति पराङ्  
हैवास्माद्यज्ञो भवति स यो हैनं तन्नानुव्याहरे-  
त्पराङ्स्माद्यज्ञोऽभूद्वितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥ १९ ॥

एष उ वै प्राणः † । तं ‡ वै § तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेष प्रत्यङ्मुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवेनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ यस्मात् पराङ् भवति पराङ् हैवास्मात् प्राणो  
भवति स यो हैनं तन्नानुव्याहरेत् पराङ्स्मात्  
प्राणोऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तदैव स्यात् ॥ २० ॥

अयं वै यज्ञो योऽयं पवते । यं वै तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेष प्रत्यङ्मुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवेनं यज्ञः प्रवि-

\* हरेयुः । यथैन— इति ख, ड ।

† 'प्राणः'— इति ग, घ ।

‡ 'प्राण । स्तं'— इति क, ड ।

§ 'तै'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

शति तं क्षिमे यज्ञ उपनमत्यथ युस्मात् पराङ् भवति  
पराङ् हैवास्माद् यज्ञो भवति स यो हैनं तन्नानुव्या-  
हरेत्पराङ्स्माद् यज्ञोऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तथैव  
स्मात् ॥ २१ ॥

एष उ वै प्राणः । तं \* वै † तथैव हरेयु-  
र्यथैन मेषु प्रत्यङ्ङुपाचरेत्प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रवि-  
शत्यथ युस्मात् पराङ् भवति पराङ् हैवास्मात् प्राणो  
भवति स यो हैनं तन्नानुव्याहरेत्पराङ्स्मात् प्राणो-  
ऽभूद्वितीश्वरो ह यत् तथैव स्मात् तथैव  
हरेयुः ॥ २२ ॥

अथाश्व माक्रमयति । त माक्रमय्य प्राञ्च मुन्न-  
यति तं पुनरावर्त्तयति त मुदञ्चं प्रमुञ्चति व्वीर्य्यं  
वा ऽअश्वो नेदस्मादिदं पराव्वीर्य्यं मसद्विति तस्मात्  
पुनरावर्त्तयति ॥ २३ ॥

त मश्वस्य पद ऽआधत्ते । व्वीर्य्यं वा ऽअश्वो  
व्वीर्य्यं ऽएवैन मेतदाधत्ते तस्मादश्वस्य पद ऽआ-  
धत्ते ॥ २४ ॥

\* 'प्राण । स्त'—इति क, ड ; प्राणः । ते—इति ग, घ ।

† 'वै' इति च दृष्टो डा० वेवरेण ।



स वै तूष्णीं मेवाग्र उपस्पृशति । अथोद्यच्छत्य-  
थोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति  
त्रयो वा ऽङ्गमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकानाप्रोत्ये-  
तन्वेकम् \* ॥ २५ ॥

अथेदं द्वितीयम् । तूष्णीं मेवाग्र उपस्पृशत्यथो-  
द्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति यो वा  
ऽअस्या मुप्रतिष्ठितो भारु मुद्यच्छति नैनं शक्नोत्यु-  
द्यन्तुं सः नैनं शृणाति ॥ २६ ॥

स यत्तूष्णीं मुपस्पृशति । तदस्यां प्रतिष्ठायां  
प्रतिष्ठितो सोऽस्यां प्रतिष्ठित आधत्ते तथा न  
व्यथते तदु हेतुपञ्चैव दध्निरऽआसुरिः पाञ्चिर्मा-  
धुकिः सर्व्वं वा ऽअन्यदियसितु मिव प्रथमेनैवोद्यत्या-  
दध्याद् भूर्भुवः स्वरिति तदेवानियसित मित्यतो  
यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥ २७ ॥

अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्व्वार्द्धं मुल्लुकाना  
मभिपद्य जपति द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव व्वरिम्णेति  
यथासौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैरेवं बहुर्भुयास मित्येवैतदाह  
यदाह द्यौरिव भूम्नेति पृथिवीव व्वरिम्णेति युथेयं

\* 'तं न्केकम्'—इति क, ड ; 'तं न्केकम्'— इति ख ।

पृथिव्युर्ध्वमुर्ध्वमूयास मित्येवैतदाह तस्यास्ते पृथिवि  
 देवयजनि पृष्ठ ऽद्वत्यस्यै ह्येनं पृष्ठ ऽआधत्तेऽग्नि  
 मन्नाद् मन्नाद्यायादध ऽद्वत्यन्नादोऽग्निरन्नादो भूयास  
 मित्येवैतदाह सैषाशीरेव स यदि कामयेत जुषेदे-  
 तद्यद्यु कामयेतापि नुद्वियेत ॥ २८ ॥

अथ सर्पराज्ञा \* ऋग्भिरुपतिष्ठते । आयं गोः  
 पृथ्वीरक्रमीदुसदन्मातरं पुरः † । पितरं च प्रयुन्तस्वः ।  
 चन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्म-  
 हिषो दिवम् ॥ त्रिंशद्भाम विराजति व्याक्पतङ्गाय  
 धीयते । प्रति वसोरुह द्युभिरिति तद्यदेवास्याच  
 सम्भारैर्व्वा नक्षत्रैर्व्वर्तुभिर्व्वाधानेन वानाप्तं भवति  
 तदेवास्त्येतेन सर्व्व माप्तं भवति तस्मात् सर्पराज्ञा  
 ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥ २९ ॥

तदाहुः । नु सर्पराज्ञा ऋग्भिरुपतिष्ठेतेतीयं  
 वै पृथिवी सर्पराज्ञी स यदेवास्या माधत्ते तत्  
 सुर्व्वान् कामानाप्नोति तस्मान्न सर्पराज्ञा ऋग्भिर-  
 उपतिष्ठेतेति ॥ ३० ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [ १. ४. ] ॥

\* 'सर्पराज्ञा'—इति ऊ, एव मिहोत्तरत्रापि सर्वत्र । † 'पुरः'—इति क, ख ।



अग्न्याधेयदिवसात् पूर्वस्मिन् उपवसथदिवसे कर्त्तव्यं व्रतमुपदिशति— “यदहरस्येति । ‘दिवैव’-इत्येवकारेण रात्रावशनं व्यावर्त्तते । “मनो ह वै देवाः”—इत्यादि दर्शपूर्णमासिकप्रस्तावे प्रागेव व्याख्यातम् \* ॥ १ ॥

दिवैव भोजनं न रात्राविति प्रतिपाद्य पक्षान्तरमाह— “तन्वेवेति । “तदपीति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘कामं’ यथोक्तं रात्रावपि ‘अग्नीयात्’ । तत्र कारणमाह— “नो ह्यनाहिताग्नेरिति । ‘न’ खलु ‘अनाहिताग्नेः’ व्रतचरणम् ‘अस्ति’; तस्येतरपुरुषवन्मानुषत्वात्, आहिताग्निर्हि संस्कारेण देवभावं प्राप्नोति व्रतचरणमर्हतीति भावः ॥ २ ॥

“तद्वैक इति । “अजमुपवध्मन्तीति । उपवसथदिवसस्य रात्रौ गार्हपत्यागारे कस्यचिदजस्य बन्धनं कार्यमित्येकेषां मतम् । तेषां मभिप्रायमाह— “आग्नेयोऽज इति । अग्निना सह प्रजापतिमुखजातत्वात् ‘अजः आग्नेयः’ † ; अतोऽजस्य सम्यन्धमाधीयमानस्य ‘अग्नेः’ ‘सर्वत्वाय’ काटस्न्याय सम्पद्यते, ‘इति’ इममभिप्रायं वदन्त इत्यर्थः । तदेतन्निरस्यति— “तदुतथा नेति । कथं तर्हि कार्यमिति, तदाह— “यदीति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अजः’ विद्यते चेत्, ‘एनम्’ अजम् ‘प्रतः’ आधानदक्षिणाकाले ‘अग्नीधे’ आग्नीध्राय ‘दद्यात्’ । तथाच

\* १. १. १. ७, ८ ( १ भा० २३८० ) ।

† “प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवतामन्वह्यत, गायत्रीच्छन्दो रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनाम् । तस्मात् ते मुख्या मुखतो ह्यह्यन्त” — इति तै० सं० ७. १. १. ६ ।

कात्यायनः— “गार्हपत्यागारेऽजं बध्नाति न वा, विद्यमानं प्रातरग्नीध्रे दद्यात्”—इति \* । तेनैवेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मोदनपाकविधिं मतभेदकथनेनोक्तं प्रतिपादयति— “अथ चातुष्प्राश्य मोदन मिति । चतुर्भिः अर्घ्यैर्ब्रह्मादिभिर्ऋत्विग्भिः प्राशितव्यं मित्यर्थः । “छन्दांस्यनेनेति । ‘अनेन’ ब्रह्मोदनपाकेन गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्याख्यानि छन्दांसि ‘प्रीणीमः’ तर्पयाम इत्यभिप्रायः । अस्योदनस्य चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशनं युक्तमिति दृष्टान्तेनोपपादयति— “यथेति । ‘येन वाहनेन’ अश्वदिना ‘स्यन्त्यन्’ यास्यन् ‘स्यात्’, ‘तद्’ वाहनं ‘सुहितं’ सुदमं कर्तुं यथा ब्रूयात्, ‘एव मेतत्’; आदौ ऋत्विजां कर्मापयुक्तानां प्राशनं युक्तं मित्यर्थः । स्यन्त्यन्निति “स्यन्दू अवणे †”—इत्यस्मात्तटः सत्रादेशः ।

इमं प्राशनपक्षं निषिध्योपपादयति—“तदु तथेति । ‘ऋत्विजश्च अनृत्विजश्च ब्राह्मणाः’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘कुले वसन्ति’ इति ‘यत्’, ‘तेनैव’ वासेन ‘तं काम माप्नोति’, यः कामः प्राशननिमित्तकः प्रागुक्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ पक्षस्योदनस्य कसुर्ह्युपयोग इत्याह— “तस्य सर्पिरासेचनमिति । सर्पिरासिच्यतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेचनम्, घृताधारणार्थं मोदनं निम्नं ‘कृत्वा’ इत्यर्थः । “सर्पिरासिच्येत्यादि स्पष्टम् । “समिदतीभिर्घृतवतीभिरिति । समिच्छद्-युक्ताभिर्घृतशब्दयुक्ताभिश्चेत्यर्थः । ताश्च कात्यायन उदाजहार— “आश्वत्थोस्तिस्त्रः समिधो घृताक्ता आदधाति समिधानि मिति



प्रत्यृच मिति”—इति \* । समिदाधानं कुर्वता मभिप्राय माह— “शमीगर्भं मिति । शमीगर्भी योऽश्वत्थः, तत्रस्थो योऽग्निः, तम्, ‘एतत्’ एतेनाश्वत्थसमिदाधानेन ‘आप्सुः’ ‘इति’ ब्रुवाण इत्यर्थः । तस्य च समिदाधानस्य कालविशेष माह— “स य इति । अग्न्याधानस्य ‘पुरस्तात्’ ‘यः’ यजमानः समिधः ‘अभ्यादध्यात्’, ‘सः’ खलु ‘तं कामम्’ प्राप्नुयात् । ‘तस्मात्’ समिदाधानार्थ एव ‘तत्’ प्राशनं नादरणीय मिति । निगमयति— “तस्मादिति ॥ ५ ॥

अस्मिन्नर्थे संवादं दर्शयति— “तदु होवाच भाल्लवेय इति । ‘तत्’ तत्र विषये इन्द्रद्युम्नः ‘भाल्लवेयः’ उक्तवान् † । कथ मिति ; तदाह— “यथा वा इत्यादि । ‘यथा’ ‘अन्यत्’ चिकीर्षतः ; तदनुपयुक्तस्यान्यस्य करणं यथा व्यधिकरणत्वादसङ्गतम्, तथा अग्नीनाधिष्ठाताग्नाविव किञ्चित् कर्तव्यम् ‘एतत्’ चातुष्प्राश्यकरण मसङ्गतम् ; अतोऽसमृद्धिः एव तथा-विधौदनपाक इति भाल्लवेयाभिप्रायः ॥

त मिसं दोषं परिहृत्य प्राशनपक्ष मेव निगमयति— “न हि तदित्यादिना । ऋक्सामादिमन्त्रैर्यस्मिन्नग्नी समिध माहुतिं च प्रक्षिपेत्, तस्याग्नेर्दक्षिणाहरण मनुगमनं च यदि स्यात्, सोऽग्निरन्वाहार्यपचनः । अन्वाहार्यः ओदनः, तस्य पाकहेतुर्भविष्यति । अतो दक्षिणाहरण मनुगमनं वाहुतिसंस्कृतस्याग्ने-

\* का० श्रौ० सू० ४. ८. ५ ।

† इहैव पुनरुपरिष्ठादन्वाह्यते “इन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयः”— इति ( १०. ६. १. १. ) । अन्यत्र च— छा० उप० ५. ११. १ ।

नान्वकल्पते । अतः पक्षतण्डुलो न होमार्थः, किन्तु प्राशनार्थ इत्यभिप्रायः । गत मन्यत् ॥ ६ ॥

तस्यां रात्रौ यजमानस्य जागरणं विधत्ते— “अथ जाग्रतीति । व्यत्ययेन बहुवचनम्, जागर्त्तीत्यर्थः । “जाग्रति देवा इत्यादि । श्वः करिष्यमाणेष्वधाणादिकर्मस्वङ्गभूता ये देवा उपवसयेऽहनि यजमानगृह मागताः, ते स्वस्वस्यां रात्रौ ‘जाग्रति’ जागरणं कुर्वन्ति । तेषु च जाग्रत्सु यजमानस्य स्वापो न युक्त इति तेन जागरणेन यजमानो ‘देवानिव’ जाग्रतः ‘उपावर्त्तते’ उपगता भवन्ति । ‘सः’ च यजमानः ‘सदेवतरः’ अतिशयेन देवसहितः । निद्राभावादिना अतिशयितं अस्म माप्तः । अग्न्याधानयोग्यतां जागरणवशात् प्राप्नोतीत्यर्थः । अथ स्वापमप्यनुजानाति—“तद्वपीति ॥ ७ ॥

एवं रात्रौ नीताया माधास्यमानस्याग्नेर्मन्यनविषय मेकीयं मतमुपन्यस्यति— “तद्वैक इति । ‘अनुदिते’ सूर्योदयात् प्रागेवोषाकाले मन्यनं कार्यम् । सूर्ये चोदिते आहवनीयायं तस्य प्रागुद्हरणम् । एवं वदता मभिप्राय माह— “तदिति । तेन मन्यनोद्हरणयोः अहोरात्रसम्बन्धित्वेन, अत एव ‘अहोरात्रे’ ‘परिगृह्णीमः’ कर्माङ्गतया स्वीकुर्मः । तस्यापि प्रयोजनमाह— “प्राणोदानयोरिति । अहोरात्रे परिग्रहस्य तद्रूपयोः ‘प्राणोदानयोः’ वाङ्मनसयोश्च ‘पर्याप्तिः’ प्रयोजनमित्येवं प्रतिपादयन्त इत्यर्थः । तस्मिन् पक्षं निषेधति— “न कुर्यादिति । तत्र दोषमाह— “उभौ द्वेवेति । गार्हपत्याहवनीयौ ‘उभौ’ अपि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अनुदिते’ रात्रावेव ‘आहिती’ भवतः । कथमुभयोरनुदिते आधानमिति, तत्राह— ‘अनुदिते द्वीति ।



‘अनुदिते’ मथितो योऽग्निः, स एवाहवनीयत्वेन स्थाप्यत इति तस्यापि रात्रिसम्बन्धो दुर्निवारः । तस्मात् ‘उदिते’ एव ‘आहवनीयम्’ अग्निं ‘मथ्येत्’ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥

रात्रौ मन्यनस्य दोषाभिधानसाधनत्वं विधातुं प्रसूति—  
“तदाहुरिति । ऋक्सामयजुरात्मकास्त्रिविधामन्त्राः, तैः ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्निः न आधीयते’, केन तर्हि स आधेय इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । तस्योत्तरम्— “ब्रह्मणो हेति । ब्रह्मणः सम्बन्धि यद् ब्रह्म तेनाधानं कायेम् । किमिति, तदुभयं दर्शयति— “वाग्वा इति । षष्ठ्यन्तेन निर्दिष्टं यद् ब्रह्म, तद् वागात्मकम् ; तस्या वाचः सम्बन्धि यद् वाक्यम्, ‘सत्यम्’ विश्वमानार्थप्रतिपादि, तत् ‘एव’ ‘ब्रह्म’ । तत्र वाचः सत्यं किमिति, तद् दर्शयति— “ता वा एता इति । ‘ताः’ एताः भूरादिव्याहृतयो यदुदीरितसत्यरूपाः, ‘तत्’ तस्मात् ‘अस्य’ यजमानस्य व्याहृतिभिरग्न्याधाने ‘सत्येनैव’ सोऽग्निराहितो भवति ॥ १० ॥

व्याहृतीनां सत्यरूपत्वं मुपपादयंस्तत्कारणक माधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । सृष्टिसमये प्रजापतिः ‘भूरिति’ अनया व्याहृत्या ‘इमां’ भूमिम् ‘अजनयत्’ । “भुव इत्यन्तरिक्षं मित्वादावप्येवं योजना । “इमे त्रयो लोका इति । यावदस्ति, एतावदेव हीदं सर्वं जगदतो भूरादिलोकहेतुभिराधीयमानोऽग्निरनेन ‘सर्वेणैव’ जगता आहितो भवति ॥ ११ ॥

ब्रह्मचरादिवर्णत्रयोत्पत्तिहेतुत्वेन तत्कारणक माधानं प्रशंसति— “भूरिति वा इति । ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः, ‘क्षत्रं’ क्षत्रियजातिः ॥ १२ ॥

आत्मप्रजापशुसर्जनहेतुत्वेन तत् प्रशंसति— “भूरिति वा

इति । “एतावद्वा इति । ‘इदं सर्वं’ सर्वजगत् ‘एतावद् वै’ एतावदेव । ‘यावत्’ स्वरूपेणावस्थितं स्वात्मभोगसम्पादनहेतवः ‘प्रजाः’ ‘पशवः’ चेति एतत्तितयान्तर्गतं मेव सर्वं जगत्, अनेन ‘सर्वेण’ सोऽग्निराहितो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

एवं साधारण्येन व्याहृतीनां माधानसाधनत्वं प्रतिपाद्य, गार्हपत्याधाने विशेष माह— “स वा इति । हाभ्या मेव व्याहृतिभ्यां ‘गार्हपत्यम्’ ‘आदधाति’ । तिसृभिरपि व्याहृतिभिः गार्हपत्याधाने आहवनीयाधानस्य मन्त्रो न स्यात्, अतः सुव-  
रिति ‘हे अक्षरे’ परिशेषयेत् । ‘तेन’ कारणेन परिशिष्टा-  
क्षरद्वयसहितानि भूराव्यक्षराणि ‘अयातयामानि’ अगतसाराणि ‘भवन्ति’ । आहवनीयाधाने तिसृणां व्याहृतीनां विनियोग माह— सर्वैरिति । “तान्यष्टाक्षराणि”—इत्यादि निगदसिद्धम् । “गायत्र मग्नेष्छन्द इति । उभयोः प्रजापतिमुखजात-  
त्वात् ॥ १४ ॥

अग्निमन्यनसमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारणं विधित्सुरिति-  
हासं दर्शयति— “देवानिति । ‘अग्नौ’ गार्हपत्याहवनीयौ । ‘ररक्षुः’ निरुद्धवन्त इत्यर्थः । निरोधप्रकार माह— “नाग्नि-  
रिति ॥ १५ ॥

देवैः कृतं परिहारं दर्शयति— “ततो देवा इति । अश्वा-  
ख्यं यं ‘तं’ मन्यनदेशस्य ‘पुरस्तात्’ ‘उदश्रयन्’ उच्छ्रित मस्था-  
पयन् । ‘तस्य’ वक्षस्य सम्बन्धिनि, ‘अभये’ भयरहिते, ‘अनाद्रे’  
रक्षःप्रभृतिनाशकरहिते, ‘निवाते’ वातरहिते एवम्भूते स्थाने  
मन्यनाद् ‘अग्निः’ उदपद्यतेत्यर्थः । एव मितिहास सुपन्यस्य



प्रकृते योजयति— “तस्मादिति । ‘आनेतवै’ आनेतु मित्यर्थः ।  
तुमर्थे तवैप्रत्ययः \* । “स पूर्वेणेत्यादि उक्तप्रायम् ॥ १६ ॥

स चाश्वः पूर्ववयस्क एवानेतव्य इत्याह— “स वै पूर्वेवा-  
डिति । पूर्वं वयसि वहतीति पूर्ववाट् । ‘वहश्च’-इति  
ण्विः † । तस्यालाभे पक्षान्तर माह— “अपि य एवेति ।  
निगदसिद्ध मन्यत् । “एष ह्येवेति । अश्वविधेयः स्तावको-  
ऽर्थवादः, अनडुहिधेरपि एष एव स्तावक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

आहनीयदेशं प्रत्यग्नेर्हरणं समाध्याश्वस्यापि पुरस्तात् नयनं  
विधत्ते— “त मिति । तस्य प्रयोजन माह— “तत्पुरस्ता-  
दिति । स चाश्वोऽग्नेः पुरस्तात् गमनमार्गे विद्यमानं रक्षः-  
प्रभृतिकम् ‘अपघ्नन्’ हिंसन् ‘एति’ गच्छति । तथा च भयादि-  
रहितेन मार्गेण तस्याग्नेर्हरणं सिध्यतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

तस्मिन् हरणे विशेष माह— “तं वा इति । ‘यथा’ ‘एनं’  
यजमानम् ‘एषः’ अग्निः ‘प्रत्यङ्’ ‘उपाचरेत्’ अभिमुख मुपा-  
वर्त्तेत, ‘तम्’ अग्निम् ‘अवहरेयुः’ आहवनीयायतनस्य पूर्वभागं  
प्रापयेयुरित्यर्थः । तस्य प्रयोजन माह— “एष वा इति ।  
‘एषः’ ‘वै’ खलु अग्निः ‘यज्ञः’ तन्निष्पादकत्वाद् । तस्य प्रत्य-  
गावर्त्तनेन ‘एनं’ यजमानं ‘यज्ञः’ एव प्रत्यङ् प्रविशति’ अभि-  
मुख आवर्त्तते । तथा च ‘तं’ यजमानं ‘क्षिप्रे’ अल्पकाले  
एव, शीघ्रं यज्ञः उपगच्छति । एतद् व्यतिरेकमुखेनोपपाद-  
यति— “अथ यस्मादिति । सः अग्निः ‘यस्मात्’ बहुयजमानात्  
‘पराङ्’ पराङ्मुखः भवति, तर्हि ‘अस्मात्’ ‘यज्ञः’ अपि पराङ्मुखो

‘भवति’ । ‘तत्र’ तथा सति ‘यः’ कश्चिद् द्वेष्टः ‘एनं’ यजमानम्  
 ‘अनुव्याहरेत्’ । किमिति— “यज्ञोऽस्मात् पराङ् अभूत्”—इति ।  
 स यजमानः ‘तथैव’ भवितुम् ‘ईश्वरः’ ‘स्यात्’ ॥ १९ ॥

एव मग्नेर्यज्ञरूपत्वेन प्रत्यगावर्त्तनं प्रतिपाद्य प्राणात्मकत्वा-  
 दपि तत् प्रतिपादयति— “एष उ वा इति । ‘एषः’ खल्वग्निः  
 ‘प्राणः’ । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २० ॥

अथैनं यज्ञात्मक मग्निं वायुतादात्म्येन स्तौति— “अयं वा  
 इति । “तं वा इत्यादि, पूर्ववत् ॥ २१ ॥

वाह्यात्मक मग्निं प्राणरूपतया स्तौति— “एष उ वा इति ।  
 अन्यत् पूर्ववत् ॥ २२ ॥

एव मग्नेर्हरणप्रकारं प्रतिपाद्य तदनन्तरकर्त्तव्यता माह—  
 “अथाश्व मिति । आहवनीयायतने सम्भारान् निधाय दक्षिण-  
 पूर्वपादेन ‘अश्व माक्रमयति’ । एवम् ‘आक्रमय्य’ ‘प्राञ्चं’ नीत्वा  
 ‘तम्’ अश्वम् ‘पुनरावर्त्तयति’ आहत्य स्थापयति । अनन्तर  
 मश्वम् ‘उदञ्चम्’ उदञ्चुखं प्रमुञ्चति । सूत्रगते हि कात्या-  
 यनेन— “सम्भारानधिष्ठाप्य दक्षिणपूर्वपादेन प्राञ्चं नीत्वावर्त्त्य  
 स्थापयति”— इति \* । पुनरावर्त्तनस्य प्रयोजन माह—  
 “वीर्यं वेत्यादि । अश्वलक्षणं यत् ‘इदं’ वीर्यम्, तत् ‘नेत्’ नैव  
 ‘अस्मात्’ ‘पराग्’-भूतम् भवेदित्यनेनाभिप्रायेण तस्याश्वस्य पुन-  
 रावर्त्तनं कार्यं मित्यर्थः ॥ २३ ॥

आहृतस्याग्नेराधानं विधत्ते— “त मश्वस्येति । आहव-  
 नीयायतने यदश्वस्य पदम्, तस्मिन् ‘तम्’ अग्निं मन्त्रेण स्थाप-  
 येत् । तदेतत् प्रशंसति— “वीर्यं वा इति ॥ २४ ॥



तत्र विशेष माह — “स वा इति । ‘अग्ने’ प्रथमम् अश्वस्य  
पदं मग्निना ‘तूष्णीम्’ ‘उपसृशति’ । त मग्निं मुद्यम्य पुनरपि  
‘उपसृशति’ । एवं द्विरुपसृश्य तृतीयेनोपसर्गनेन व्याहृतिभिः  
त मग्निं तस्मिन् पदे स्थापयति । व्याहृतिगतं त्रित्वं प्रशं-  
सति — “त्रयो वा इति । इमं पक्षं निगमयति — “एत-  
दिति । ‘एतत्’ खल्वाहवनीयाधानस्य ‘एकं’ विधानं  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

पक्षान्तरं मपि वक्तुं प्रतिजानीते — “अग्रेदं द्वितीयं मिति ।  
“तूष्णीं मेवेत्यादि । अश्वपदं ‘तूष्णीं’ सक्तदेवानिजोपसृश्य,  
त मुद्यम्य द्वितीयेनोपसृशति । न व्याहृतिभिः तत्र स्थापये-  
दित्यर्थः । एतस्योपसर्गनस्य प्रयोजनं माह — “यो वा अस्या  
मिति । ‘अस्यां’ भूम्यां दृढं मनवस्थितः सन् ‘यः’ वोढा ‘भारम्  
उद्यच्छति’, सः ‘एनं’ भारम् ‘उद्यन्तु’ ‘न शक्नोति’; प्रत्युत  
निपततोऽस्योपरि निपतन् भार एव ‘एनं’ पुरुषं हिनास्ति ॥ २६ ॥

“स यत् तूष्णीं उपसृशतीति । यस्तु भूम्यां प्रतिष्ठाय भारं  
मुद्यच्छति, स भारं वोढुं शक्नोतीति । तत्समानं मेवेतद् भूमिः  
सक्तदुपसर्गनम् । तथा च तेन स्पर्शनेन भूम्यां प्रतिष्ठित एवा-  
ग्निराहितो भवति, ‘न व्यथते’ न चलते । “व्यथं भयस्य-  
नयोः” — इति \* धातुः । पक्षान्तरं वक्तुं मन्यस्मिन् पक्षे दोषं  
माह — “तदु हैतदिति । आसुरिप्रभृतयस्त्रयो सुनयः तदे-  
तदुपसृश्योद्भूतं द्वितीयस्पर्शनेनाधानं ‘पथेव’ पश्चाद्भूतं सिव  
‘दध्निरे’ आधारयन् । एतावता को दोष इति । अग्निनीप-

सृष्ट्य पुनस्तत्प्रोद्यमनेन तद्व्यतिरिक्तं सर्वं मायतनस्थं सञ्चारा-  
दिकम् 'इयसितम्' इयत्तया परिच्छिन्नं व्यक्तं सिव भवति ।  
अतोऽग्निं मुद्यम्य प्रथमेनैवोद्यमनेन व्याहृतिभिः 'आदध्यात्' ।  
तथा एवं सति 'अनियसितम्' \* अव्यक्तं मेव सर्वं भवति ।

उक्तानां पक्षाणां मिच्छया विकल्प माह — "यतमयेति ।  
एतत् पक्षत्रयं मपि सूत्रितं कात्यायनेन — "अग्निना पदं  
द्विरुपसृष्ट्य तृतीयेनादधाति, द्वितीयेन प्रथमेन वा भूर्भुवः-  
स्वरिति"—इति † ॥ २७ ॥

आहितस्याग्नेः पूर्वभागस्य मुखमुक्तं मन्वारभ्य मन्त्रस्य  
जपं विधत्ते — "अथ पुरस्तादिति ‡ । मन्त्रतात्पर्यं माह —  
"यथासाविति । बहुभिः 'नचत्रैः' 'यथासौ द्यौः' 'बह्वी' बहु-  
त्वोपेता, 'एवम्' अहं मपि पुत्रपौत्रादिवहुत्वेन 'बहुः भूया-  
सम्' इति, "द्यौरिव भूम्ना"— इत्यस्य भागस्य अर्थः । पृथि-  
वीत्यादिकं मनूय तात्पर्यं माह — 'यथा इयं पृथिवी' 'उर्वी'  
विह्वीर्णा, 'एवम्' अहं मपि 'वरिष्णा' उरुत्वेन सुविह्वीर्णी  
भूयास मिति । भागान्तरं मनूय व्याचष्टे — "तस्यास्तु  
इति । उरुत्वं प्रति उपमानभूतायाः 'तस्याः' 'ते' तव 'पृष्ठे'  
उपरि भागे "अग्निम् आदधे"—इत्युरत्तत्र सम्बन्धः । "अस्यै  
हीति । अस्या एव खलु पृथिव्याः 'पृष्ठे' उपरि आधत्ते, अतो  
युक्तं तस्यास्तु इति वाक्य मिति भावः । अन्तिमं भागं मनूय  
व्याचष्टे — "अग्निं मन्नाद मिति । आहवनीयादिरूपेण हवि-

\* पूर्वस्मिन् काण्डे ( ६१० पृ० ५ पं० ) "इयसितं" द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. १६ ; मन्त्रत्वविधेः वा० सं० ३. ५. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १७ । मन्त्रस्तु — वा० सं० ३. ५. २ ।



लक्ष्मणम्, तद्विलक्षणं च सर्वं मन्त्र मतीत्य 'अन्नादोऽग्निः' ।  
एव मन्त्रादशब्देनाग्नेर्विशेषणादहं मय्यन्नादो भूयास मिति  
तात्पर्यगम्योऽर्थः । "सैषाग्नीरित्यादि । 'एषा' मन्त्रात्मिका  
ऋक् 'आग्नीः' फलप्रार्थन मेव ; अतः सत्यां कामनायां तस्य  
मन्त्रस्य जपः ; तदभावे तु जपोऽपि न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ तस्याग्नेः सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं विधत्ते — "अथ सर्प-  
राज्ञा इति \* । सर्पणशीलानां प्राणिनां राज्ञी 'सर्पराज्ञी',  
तत्सखन्विनीभिर्ऋग्भिरग्निं मुप्रतिष्ठते । का पुनस्ता इति तिस्र-  
ऋचः पठति — "आयं गोरिति प्रथमा †, "अस्त्यगरति रोच-  
नेति द्वितीया ‡, त्रिंशद्वामेति तृतीया § । अस्योपस्थानस्य  
प्रयोजनं साह — "तद् यदेवेति । 'अस्य' यजमानस्य 'अत्र'  
अस्मिन्नाधाने सभारादिभिर्विकल्पनिमित्तेन यत् 'अनाप्तम्'  
अप्राप्तं भवति, 'एतेन' उपस्थानेन 'अस्य' तत् 'सर्वम्' आप्यते  
सर्पराज्ञाः सर्वाधिष्ठानभूतत्वात् । अत एव तन्नामनिर्वचनं  
मन्यत्रान्नातम् — "इयं वै सर्पराज्ञी, देवा वै सर्पाः, तेषां मियं  
राज्ञीति ¶ ॥ २९ ॥

तेषां पृथिव्या माधानादेव सभारादीनां सर्वेषां मवाप्तत्वात्,

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. १८ ।

†, ‡, § वा० सं० ३. ६, ७, ८ ।

¶ "इयं वै सर्पराज्ञी" — इत्यादि ऐ० ब्रा० ५. ४. ४ । अत्र 'सर्पराज्ञी'-  
शब्देन काचिद् ब्रह्मवादिनो गम्यते । "इयं वै सर्पतो राज्ञी" — इति तै०  
ब्रा० १. ४. ६. ६ । "देवा वै सर्पास्तेषां मियं राज्ञी" — इत्यादि च तै०  
ब्रा० २. २. ६. १ । ता० ब्रा० ६. ८. ७ (ब्रह्मवादिनी) । आर्षे० ब्रा० ३,  
२६ (सर्पाणाम्) । ऋ० सं० १०, १८६ सा० भा० (ऋषिः) ।

तदवाप्तये सर्पराज्ञीभिरुपस्थानं न कार्यं मिति पक्षान्तर माह—  
‘तदाहुरिति ॥ ३० ॥ ४ [ १. ४. ] ॥

इति श्रीसायणार्थविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्श्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्मम्,  
सताव्वीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतल्लताधेनुभीवर्णभूमीः ।  
रत्नोद्भां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्थी,  
व्यघ्राणीदिश्वक्त्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्ता तिलभव मतुलः स्वर्णं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं कपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्ता \* लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाव्यो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पात्रसाल्मिङ्गणार्थः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक—

श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥



( अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति । तद्यत्पू-  
र्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं वा ऽएतु मात्मनो जनयते\*  
यदग्निं† तस्मा ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति यथा कुमा-  
राय जाताय व्वत्साय वा स्तुन मपिदध्यादेव मस्मा  
ऽएतदन्नाद्य मपिदधाति ॥ १ ॥

सु एतेनान्नेन शान्तः । उत्तराणि हवीं॑ऽपि‡  
अप्यमागान्युपरमति शुश्रूष वा ऽअध्वर्युं॑ वा युज-  
मानं वा प्रवहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदस्मिन्नेता  
माहुतिं न जुहुयात् तस्माद्वा ऽएता माहुतिं  
जुहोति ॥ २ ॥

तां व्वै पूर्णां जुहोति । सुर्व्वं॑ वै पूर्णं॑ सुर्व्वेणै-  
वैन मेतच्छमयति स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै  
स्वाहाकारः सुर्व्वं॑ वा ऽअनिरुक्तं॑ सुर्व्वेणैवैन मेत-  
च्छमयति ॥ ३ ॥

यां व्वै प्रजापतिः । प्रथमा माहुति मजुहोत्

\* 'जनयते'— इति क, ख, ग ।

† 'यदग्निं'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

‡ 'हवीं॑ऽपि'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

स्वाहेति वै ता मजुहोत्यो खिदेष्टा निदानेन तस्मात्  
स्वाहेति जुहोति तस्यां व्वरं ददाति सुर्व्वं वै व्वरः  
सुर्व्वण्यैवैन मेतच्छमयति ॥ ४ ॥

तदाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वायोत्तराणि  
हवींषि नाद्रियेतैतयैव तं काम माप्नोति य मभि-  
काम सुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति ॥ ५ ॥

स वा ऽअग्नये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणो  
वै पवमानः प्राण मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्धेतयैवास्मिं-  
स्तद्दधात्यन्नं हि प्राणोऽन्न मेवाहुतिः ॥ ६ ॥

अथाग्नये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै  
पावक मन्न मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्धेतयैवास्मिंस्तद्दधा-  
त्येष्टा ह्येव पत्यन्न मन्न माहुतिः ॥ ७ ॥

अथाग्नये शुचये निर्व्वपति । व्वीर्य्यं वै शुचि  
यद्वा ऽअस्यैतदुज्ज्वलत्येतदस्य व्वीर्य्यं शुचि व्वीर्य्य  
मेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्धेतयैवास्मिंस्तद्दधाति यदा ह्ये-  
वास्मिन्नेता माहुतिं जुहोत्यथास्यैतद् व्वीर्य्यं शुच्यु-  
ज्ज्वलति\* ॥ ८ ॥

तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिं हुत्वायोत्तराणि



हवींषि नाद्रियेतैतयैव \* तं काम माप्नोति यं मभि-  
काम मुत्तराणि हवींषि निर्व्वपतीति तदु निर्व्वपे-  
देवोत्तराणि हवींषि परोऽक्ष मिव वा ऽएतद्यदद-  
स्तदिद मितौव ॥ ९ ॥

सु यदग्नेये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणा वै  
पवमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन् न  
जायते मातुर्व्वैव तावत् प्राण मनु प्राणिति यथा  
वा तुज्जातु ऽएवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति ॥ १० ॥

अथ यदग्नेये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै  
पावकं तुज्जातु ऽएवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ ११ ॥

अथ यदग्नेये शुचये निर्व्वपति । वीर्य्यं वै  
शुचि यदा वा ऽअन्नेन वर्द्धतेऽथ वीर्य्यं तदन्नेनैवैन  
मेतद् वर्द्धयित्वायास्मिन्नेतद् वीर्य्यं शुचि दधाति  
तस्मादग्नेये शुचये ॥ १२ ॥

तद्देतदेव सद्भिपर्य्यस्त मिव । अग्निर्ह यच्च  
देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपाववर्त्त तद्देवाञ्चक्रौ मैव सर्व्वे-  
णोवात्मना मनुष्यानभ्युपावत मिति ॥ १३ ॥

स एतास्तिष्ठस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त ।

युद्धस्य पुवमानः रूपं मासीत्तदस्यां पृथिव्यां न्यध-  
त्ताथ यत् पावकं तदन्तरिक्षेऽथ यच्छुचि तद् दिवि  
तद्वा ऽऋषयः प्रतिबुद्धिरे य उ तर्ह्युषय आसुर-  
सर्वेण वै न आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति \* तस्मा ऽए-  
तानि हवींषि निरवपन् ॥ १४ ॥

स युद्मन्ये पुवमानाय निर्व्वपति । युद्देवा-  
स्यास्यां पृथिव्याः रूपं तद्देवास्तैतेनाप्नोत्यथ युद्-  
मन्ये पावकाय निर्व्वपति युद्देवास्तान्तरिक्षे रूपं तद्दे-  
वास्तैतेनाप्नोत्यथ युद्मन्ये शुचये निर्व्वपति युद्दे-  
वास्त दिवि रूपं तद्देवास्तैतेनाप्नोत्येवमु क्तत्तु मेवाग्नि  
मनपनिहित माधत्ते तस्मादु† निर्व्वपेदेवोत्तराणि  
हवींषि ॥ १५ ॥

केवलबर्हिः‡ प्रथमः हविर्भवति । समानु-  
बर्हिषी ऽउत्तरे ऽअयं वै लोकः प्रथमः हविरयेद्  
मन्तरिक्षं द्वितीयं द्यौरेव तृतीयं बहुलेव वा ऽअयं  
पृथिवी लेलुयेवान्तरिक्षं लेलुयेवासी द्यौरुमे

\* 'वृत्तदिति'— इति ख ।

† 'तस्मादु'— इति च दृष्टो डा०-मेवरेण ।

‡ अत्रैव क्तेदचिह्नः (।) क-पुस्तके ।



चिदेनां प्रत्युद्यामिनौ\* स्ता मिति तस्मात् समान-  
बर्हिषि ॥ १६ ॥

अष्टाकपालाः सुर्वे पुरोडाशा भवन्ति । अष्टा-  
क्षरा वै गायत्री गायत्र मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेतच्छुन्द-  
साधत्ते तानि सुर्वाणि चतुर्विंशतिः कपालानि  
सम्पद्यन्ते चतुर्विंशलक्ष्यक्षरा वै गायत्री गायत्र  
मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेतच्छुन्दसाधत्ते गायत्रो याज्या-  
नुवाक्या भवन्ति गायत्र मग्नेच्छुन्दः स्वेनैवैन मेत-  
च्छुन्दसाधत्ते† ॥ १७ ॥

अथादित्यै चरुं निर्व्वपति । प्रच्यवत ऽद्वव  
वा ऽपुषोऽस्माल्लोकाद्य एतानि हवींषि निर्व्वपती-  
मान् हि लोकान्त्वमारोहन्नेति ॥ १८ ॥

स यदुदित्यै चरुं निर्व्वपति । इयं वै पृथिव्यु-  
दितिः सेयं प्रतिष्ठा तदद्या मेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रति-  
तिष्ठति तस्मादुदित्यै चरुं निर्व्वपति ॥ १९ ॥

तस्यै विराजौ संयुज्ये स्वाता मित्याहुः । विरा-

\* 'प्रत्युद्यामिनौ'— इति घ ।

† 'गायत्रो—०साधत्ते'— इत्येष ग्रन्थभागो च-पुस्तके नास्ति ।

द्वीय\* मित्यथो त्रिष्टुभौ त्रिष्टुब्भीय मित्यथो जगत्वी  
जगती हीय मिति विराजावित्वेव† स्याताम् ॥ २० ॥

तुल्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव वा ऽद्वयं मनु-  
ष्येभ्यः सुव्वान् कामान् दुहे माता धेनुर्मातिव वा  
ऽद्वयं मनुष्यान् बिभर्त्ति तस्माद् धेनुर्दक्षिणैतन्वे क‡  
मयनम् ॥ २१ ॥

अथेदं द्वितीयम् । आग्नेय मेवाष्टाकपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति परोऽक्ष मिव वा ऽएतद्युदग्नये  
पवमानायाग्नये पावकायाग्नये शुचय ऽद्वतीवा-  
थाञ्जसैवैन मेतत् प्रत्यक्ष माधत्ते तस्मादग्नयेऽथादित्यै  
चरुं निर्व्वपति स यु एव चरोर्व्वभ्युः स बभ्युः ॥ २२ ॥ ५ ॥

॥ कृति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [२.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

आदित आरभ्यैतावत्पर्यन्तं तात्पर्यार्थाभिधानविनियोगादि-  
प्रदर्शनपुरस्सरं वाक्ययोजनं कृतम् ; उपरितनाध्यायगतानि §

\* 'द्वीय'— इति क, ख, ग । † 'वित्वेव'— इति क, ख, ग ।

‡ 'तन्वेक'— इति क, ग ; 'तं न्वेक'— इति ख ।

§ 'तत्राध्यायगतानि'— इति च ।



यानि वाक्यानि, तानि समानन्धायतया \* पूर्ववदेव योजयितुं शक्यानीति ग्रन्थविस्तरभयात् केवलं प्रकटार्थकथनं विषमपद-  
विवरणं च क्रियते ।

एवं गार्हपत्याद्यग्निषु स्वरूपेण सिद्धेषु चुधितस्याग्नेः शमनाय पूर्णाहुतिं विधत्ते — “उद्धृत्याहवनीय मित्यादिना † ॥ १ ॥

“स एतेनान्नेन शान्त इति । “शश्वद् वा अध्वर्युं मिति । अग्नान्तो खल्वग्निः ‘शश्वत्’ ध्रुवम् अध्वर्युयजमानयोरन्यतरं प्रदहेत् ; ‘तौ’ खलु ‘अस्य’ अग्नेः ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमम्, समीपे सञ्चरेते इत्यर्थः । “अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ”—इती-  
ष्ठानि अन्तिकस्य नेदादेशः ‡ ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

सन्वरहितेन स्वाहाकारमात्रेण होम मुपपादयति— “यां वा इति । पुरा खलु प्रजापतिः पुरुषाश्वादि§—सर्वजगत्-सर्जनहेतुभूतां ‘प्रथमा माहुतिं’ स्वाहाकारेणैव ‘अञ्जुहोत्’, ‘एषा’ अपि पूर्णाहुतिः तथा क्रियमाणा ‘निदादेन’ ( निदान-भूतेन ¶ ) कारणेन ‘सो स्त्रित्’ सैव, प्रजापतिना हुता प्रथमा-हुतिः खल्वित्यर्थः ॥ ॥ ४ ॥

पूर्णाहुतेः सकलकामावाप्तिहेतुत्वं माह — तदाहुरिति । ‘यं’ ‘कामम्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘उत्तराणि’ पवमानादीनि ‘हवींषि’

\* ‘सोमानं धायतया (?)’— इति च ।

† का० औ० सू० ५. १०. ५ क । “जह्वरेति यजमानो ब्रूयात् साय-  
म्प्रातरग्निहोत्रे । गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्वरणं मनस्समितानुदितयोः”—  
इति च का० औ० सू० ४. १२. १, २ । ‡ पा० सू० ५. ३. ६३ ।

§ ‘पश्यादि’— इति च । ¶ गार्हपत्येतिपदं च पुस्तकादन्यत ।

॥ का० औ० सू० ४. १०. ५ ख ।

निरूप्यन्त । 'तं' कामम् 'एतयैव' पूर्णाहुत्या प्राप्तौती-  
त्यर्थः ॥ ५ ॥

तथासिक्कारण माह — “स वा इत्यादिना \* । पवमान-  
हविर्भिर्जातेऽग्नौ प्राणान्नवीर्या यथाक्रमं स्थाप्यन्ते । 'तत्'  
सर्वम् 'एतयैव' पूर्णाहुत्या ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥

तस्मादाहुरिति । भक्ष मेव सिद्धान्तयति — “उत्तरा-  
णीति । आधानान्तरभावीनि अग्नये—पवमानाय—इत्यादीनि विधे-  
यानीत्यर्थः । “परोक्ष मिव वेति । 'यदहः' † प्राणान्नवीर्य-  
धारणं पूर्णाहुत्याग्नौ क्रियते, 'एतत्' 'परोक्ष मिव', पवमाने-  
ष्टिभिः 'तत्' ‡ इदम् इति इव' प्रत्यक्षत एव क्रियते ; पवमान-  
पावकशुचिशब्दैः प्राणान्नवीर्याणां प्रतिपादनात् । अतस्मा  
इष्टयो नियमेन कर्तव्या इत्यर्थः ॥ ९ ॥

ता इष्टीर्विधाय प्रशंसति — “स यदित्यादिना । “प्राणा वै  
पवमान इति । पवनक्रिया हि वायुधर्मः, प्राणश्च वायुात्मक  
इति पवमानशब्देन तत्प्रतिपादनम् । एतेन चाग्निं विशिषन्  
प्राण सेवास्मिन् जातेऽग्नौ स्थापितवान् भवति । जननात् पूर्वन्तु  
मातुर्गर्भावस्थस्य तु प्राणो मातुः प्राणादभिन्न इति न तत्र  
पृथक् तद्वारणपेक्षेत्यर्थः ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

“अथ यदग्नये शुचय इति । “यदा वा अग्नेनेति । लौकिक-  
दृष्टान्तकथनम् । “अग्नेनैवैन मिति । पावकेष्टिरूपेणान्नेनाग्निं  
'वर्द्धयित्वा' अनन्तर मेव 'अस्मिन्' अग्नौ अनया तृतीयेष्ट्या 'शुचि'  
दोष्यमानं 'वीर्यं' च धारयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

\* का० श्रौ० सू० ४, १०, ८, ६ ।

† 'यदहः'— इति च ।

‡ 'तत्'—इति च ।



“तद्वेतदिति । ‘तदेतत्’ सर्वं पूर्णाहुतिपक्षे ‘सत्’ विद्यमानमपि ‘विपर्यस्तमिव’ भवति । अतो नासी पक्षो युक्त इत्यर्थः । न केवलमेतावदेवेष्टीनां \* प्रयोजनम्, अपि तु मनुष्यैराधीयमानस्याग्नेः कार्त्स्न्यं सप्याभिः सम्पद्यत इत्याख्यायिकापुरस्सरमाह — “अग्निर्हं यवेति । “अभ्युपाहतमिति । अभ्युपागममित्यर्थः । वृतेर्लुङि उत्तमैकवचने द्युतादित्वात् च्छेरेङ् ॥ १३ ॥

“स एतास्त्रिस्त इति ‡ । ‘सः’ अग्निर्हं मनुष्यान् प्रत्यागमनसमये ‘एताः’ पवमानपावकशुच्याख्याः ‘तिस्रः’ आत्मीयाः ‘तनूः’ पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु यथाक्रमं निधाय ‘न’ ‘सर्वेण’ कृत्स्नेनैव ‘आत्मना’ स्वरूपेण अस्मान् ‘अभि’-लक्ष्य ‘उपाहतत्’ उपागमत् । ‘इति’ इममर्थम् ‘ऋषयः’ अनुव्यन्त । ‘तस्मै’ अग्नये कार्त्स्न्यसम्पादनाय पवमानहवींषि निरवपन्नि-त्यर्थः ॥ १४ ॥

“स यदग्नये पवमानायेत्यादि, स्पष्टम् । “अनपनिहितमाधत्त इति । यत् पृथिव्यादिष्वग्निना निक्षिप्तमात्मीयं रूपम्, तद् आभिः पवमानेष्टिभिः खीकृत्य ‘कृत्स्नमेव’ तम् ‘अग्निम्’ आहितवान् भवतीत्यर्थः । “तस्मादिति, निर्वापपक्षनिगमनम् । कात्यायनोऽपि “द्वादशाहान्ते तनूहवींषि निर्वपति”—इति § तनुरूपपवमानेष्टिनिर्वापं प्रक्रम्य “सद्यो वा न वा”—इत्यकरणपक्षमपि ¶ सूत्रयामास ॥ १५ ॥

\* ‘मेतावदेष्टीनां’— इति च ।

† पा० सू० ३. १. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. ११ । § का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ क ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १०. ७ ग ।

“केवलबर्हिः” इति । अग्नये पवमानायैतत् यत् ‘प्रथमं हविः’, तत् ‘केवलबर्हिः’ यजनम्, न साधारणं तन्वयुक्तं कर्त्तव्यम्; हविरन्तरेण न समुच्चित्यानुष्ठेयमित्यर्थः । “समानबर्हिषी” इति । ‘उत्तरे’ तु हविषी समानतन्त्रे कार्ये इत्यर्थः । तदेतद् द्वयमुपपादयति— “अयं वा इत्यादिना । “लेलये-वान्तरिक्षमिति । लीनमिव ह्यन्तरिक्षं नीरूपत्वात् । तथा ‘द्यौः’ अपि विप्रकृष्टत्वात् लीयमानैव भवति । अत एते ‘उभे’ अपि ‘एनां’ पृथिवीं ‘प्रति’ ‘उद्यामिनो स्ताम्’ बाधितुमुद्युक्ते भवेताम् । अतः प्रथमं हविः पृथक् तन्त्रं कार्यम्, उत्तरे तु समानतन्त्रे कार्ये इति । निगमयति— “तस्मादिति ॥ १६ ॥

“अष्टाकपालाः सर्व इत्यादि, स्रष्टम् । “गायत्री याज्यानुवाक्या भवन्तीति । यागान्तरेषु \* हि पुरोनुवाक्या गायत्री, याज्या त्रिष्टप्; अत्र तु पुरोनुरावाक्या याज्याः सर्वा गायत्र्याः कर्त्तव्याः । अतएवाश्वलायनेन तथैव सूत्रितम्— “अग्नयूंषि पवसेऽग्ने पवस्व स्वपाः ०—० स नः पावक दीदिवोऽग्ने पावक रोचिषाग्निः शुचिव्रततम उद्यदग्ने शुचयस्तुवेति † ॥ १७ ॥

“अथादित्यै चरुमिति ‡ । “इमान् हि लोकान्त्समारोहन्तेतीति । पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकान्त्समाकानि पवमानहवींषि क्रमेण निर्वपंस्तद्वारा इमानेव पृथिव्यादिलोकान् सोपानक्रमेण सम्यगारोहन्नस्माल्लोकात् ‘प्रच्यवते’ । अतस्तत्परिहारायादित्येष्टिः कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ १८, १९ ॥

\* ‘यागान्तरेष्ठा’— इति च । † आश्व० श्रौ० सू० २. १. २०—२५ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १०. १० ।



“तस्यै विराजो संयान्ये इति । “प्रेहो अग्नेः”-“इमो अग्ने”<sup>१</sup>  
इत्येते स्विष्टकृतौ यान्यानुवाक्ये ‘स्याताम्’ इत्यर्थः । “विरा-  
जावित्वेवेति, तु-शब्देन त्रिष्टुब्जगतीपक्षौ व्यावर्त्तेते ॥ २० ॥

“तस्यै धेनुरिति § । “एतन्वेक मयन्मिति । पव-  
मानिष्टियजताम् ‘एतत् तु एकम्’ अनुष्ठानस्य विधानम् ॥ २१ ॥

अन्यदप्यस्तीत्याह— “अथेद मिति । “आग्नेयमेवेति ।  
न तु पवमानादिविशेषण मादरणीय मित्येवकारार्थः । “परोक्ष  
मिव वा इति । पवमानादिविशेषणैर्विशेष्यमाणोऽग्निस्तत्र  
वैशिष्ट्यद्वारा परोक्ष्य मापद्यते ; अतस्तत्परिहारेण ‘अञ्जसा’  
ऋजुर्नैव मार्गेण केवलान्नये निर्वपन् तं प्रत्यक्षत एव स्वीकरो-  
तीत्यर्थः । अस्मिन्नपि पक्षे अदित्ययागः कर्त्तव्य इत्याह—  
“अथादित्या इति । “स य एवेति । प्राशुक्तब्राह्मणाति-  
देशः ॥ २२ ॥ ५ [ २. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

घ्नन्ति वा ऽएतद्यज्ञं । युदेनं तन्वते युन्वेव §

\* ऋ० सं० ७. १. ३ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

† ऋ० सं० ७. १. १८ ( सां० सू० २. २. १५. ) ।

‡ का० औ० सू० ४. १०. १४ ।

§ ‘युन्वेव’— इति क, ग ; ‘युं न्वेव’— इति ख ।

राजान मभिषुण्वन्ति तत्तुं\* घ्नन्ति यत् पशुः सञ्ज्ञप-  
यन्ति विश्वासति तत्तुं† घ्नन्त्युलूखलमुसलाभ्यां द्वष-  
दुपलाभ्यां हविर्यज्ञं‡ घ्नन्ति ॥ १ ॥

स एष यज्ञो हतो न ददत्ते । तं देवा दक्षि-  
णाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा  
नाम तद्यदेवात्र युञ्जत्य हतस्य व्ययते तदेवास्यैत-  
द्दक्षिणाभिर्दक्षयत्यथ समृद्ध एव यज्ञो भवति तस्माद्  
दक्षिणा ददाति ॥ २ ॥

ता वै षड्§ दद्यात् । षड् वा ऽऋतुवः संव-  
त्सरोऽस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो  
यावत्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ३ ॥

द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः संवत्सरोऽस्य  
संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः स यावानेव यज्ञो याव-  
त्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयति ॥ ४ ॥

चतुर्विंशतिं दद्यात् । चतुर्विंशतिर्वै संव-  
त्सरोऽस्य मासाः संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः यावानेव

\* † 'तत्तुं'— इति क ।

† 'सं'— इति क । "हविर्यज्ञं"— इति च दृष्टोऽङ्गो- वेवरेण ।

§ 'षट्'— इति क ।

¶ 'द्वादश'— इति ग ।



यज्ञो यावत्त्यस्य मात्रा तावतीभिर्दक्षयत्येषा मात्रा  
दक्षिणानां दद्यात् त्वेव यथाश्चङ्गं भूयसीस्तद्यदक्षिणा  
ददाति ॥ ५ ॥

इया व्वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः श्चुवुवाऽसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां  
वेधाः† व्विभक्त एव यज्ञ आहुतय एव देवानां दक्षिणा  
मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रुषा मनूचानानां  
माहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्य-  
देवान् ब्राह्मणाञ्चुवुषोऽनूचानांस्तु ऽएन उभये  
देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥ ६ ॥

तद्यथा योनौ रेतो दध्यात् । एव मेवैतद्व-  
त्विजो यजमानं लोके दधति तद्यदेभ्य एतद्  
ददाति ये मेदुः सम्प्रापिपन्निति नु दक्षिणा-  
नाम् ॥ ७ ॥

देवाश्च वा ऽअसुराश्च । उभये प्राजापत्याः  
पस्पृधिरे त उभय ऽएवानात्मान आसुर्मर्त्या द्यासु-  
रनात्मा हि मर्त्यस्तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत

\* 'दद्यान्वेव'— इति च दृष्टो डा०-नेवरेण ।

† 'वेधा'— इति घ, ङ ।

आस त् ह स्माभयेऽमृतमुपजीवन्ति स यत् ह  
स्त्रैषां\* घ्नन्ति तद्वा स्त्रैव† सु भवति ॥ ८ ॥

ततो देवाः । तनीयाऽस इव परिशिशिषिरे  
तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेदरुतासुरान्त्सपुत्रान् मर्त्या-  
नभिभवेमेति त एतदमृतमग्न्याधेयं ददृशुः ॥ ९ ॥

ते होचुः । हुन्तेदु ममृतमन्तरात्मन्नादुधा-  
महे त एइदु ममृतमन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वा-  
स्तर्त्या भूत्वा स्तर्त्यान्त्सपुत्रान्मर्त्यानभिभविष्याम  
द्विति ॥ १० ॥

ते होचुः । उभयेषु वै नोऽयमग्निः प्रत्वे वा-  
सुरेभ्यो ब्रवामेति ॥ ११ ॥

ते होचुः । आ‡ वै व्यमग्नी धास्यामहेऽयं  
यूयं किं करिष्यथेति ॥ १२ ॥

ते होचुः । अथैनं व्यमं न्ये‡ धास्यामहेऽन्न

\* 'स्त्रैष' इति क, ग; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'स्त्रैव'— इति घ, ङ ।

‡ 'होचु । रा'— इति ग । तत्पुस्तके त्विव मेव विच्छेदेऽपि सन्धि-  
रूपं सर्वत्र ( पूर्वत्र च परत्र च ) दृश्यते ।

§ 'न्ये'— इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।



तृणानि दहन्त दाह्णि दहन्तीदनं पचात्र माप्सं  
पचेति स यं त मसुरा न्यदधत तेनानेन मनुष्या  
भुञ्जते ॥ १३ ॥

अथैनं देवाः । अन्तरात्मन्नादधत तु ऽद्भुत  
ममृत मन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वाऽस्त्यर्था भूत्वा  
स्त्यर्थाग्त्सपन्नान्मर्त्यानुभ्यभवंस्तथो ऽएवैष एतदमृत  
मन्तरात्मन्नाधत्ते नामृतत्वह्याशास्ति सर्व्व मायु-  
रेत्यस्त्यर्था हैव भवति नु हैनं सपत्नस्तुस्तूर्षमाण-  
श्च नु स्तृणुते तस्माद् यद्दाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च  
स्पृर्हेते ऽआहिताग्निरेवाभिभवत्यस्त्यर्था हि खलु स  
तर्हि भवत्यमृतः ॥ १४ ॥

तद्यच्चैन मदो मन्यन्ति । तुज्जातु मभि-  
प्राणिति प्राणो वा ऽअग्निर्जातु मेवैन मेतत्सन्तं  
जनयति स पुनरुपानिति तुदेन मन्तरात्मन्नाधत्ते  
सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १५ ॥

तु मुद्दीप्य समिन्धे । इह यच्च ऽइह मुक्तं  
करिष्यामीत्येवैन मेतत् समिन्धे योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
न्नग्निराहितो भवति ॥ १६ ॥

अन्तरेणागाद् व्यवृत्तदिति । न ह वा ऽअस्यैतं

कश्चनान्तरेणैति यावज्जीवति योऽस्यैषोऽन्तरात्म-  
न्नग्निराहितो भवति तस्माद् तन्नाद्रियेत यदनु-  
गच्छेन्न ह वा ऽअस्यैषोऽनुगच्छति यावज्जीवति  
योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥ १७ ॥

ते वा ऽएते प्राणा एव यदग्नयः । प्राणो-  
दानुवेवाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च व्यानोऽन्वाहार्य-  
पचनः ॥ १८ ॥

तस्य वा ऽएतस्याग्न्याधेयस्य । सत्य मेवो-  
पचारः स युः सत्यं वदति यथाग्निं सुमिद्धं तं  
घृतेनाभिषिञ्चेदेवुं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो  
भूय एव तेजो भवति श्रुः-श्रुः श्रेयान् भवत्यथ यो-  
ऽनृतं वदति यथाग्निं सुमिद्धं तं मुदकेनाभिषिञ्चे-  
देवुं स जांसयति तस्य कनीयः-कनीय एव तेजो  
भवति श्रुः-श्रुः पापीयान् भवति तस्माद् सत्य  
मेव वदेत् ॥ १९ ॥

तदु\* हाप्यरुण† मौपवेशि‡ ज्ञातय ऊचुः ।

\* 'तदु'— इति घ, ङ ।

† 'हाप्यरुण'— इति घ, ङ ।

‡ 'मौपवेशि'— इति ग; क-ख-ग-पुस्तकेष्वित उत्तर मेव छेदः (१) ।



स्युविरो\* वा ऽअस्यग्नी ऽआधत्स्वेति सु होवाच ते मैतद्  
ब्रूथ व्वाचंयम् एवैधि न वा ऽआहिताग्निनानृतं  
व्वदितुव्यं न वृदञ्जातु† नानृतं व्वदेत्तावत् सत्य मेवो-  
पचार इति ॥ २० ॥ ६ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [ २. २. ] ॥

षड्द्वादशादिदक्षिणा आधानस्य विधास्यन् तन्नाम निर्वक्तुं  
प्रसीति — “घ्नन्तीति । “यदेनं तन्वत इति । समान्येनोक्तं  
विभजति — “यन्वेवेति । यज्ञे सोमाभिषवपशुसञ्ज्ञपनाव-  
हननादिकरणात् तद्वारा तत्सम्बन्धो यज्ञ एव हतो भवती-  
त्यर्थः ॥ १ ॥

“स एष यज्ञ इति । “न ददच्च इति । फलं जनयितुं  
न शशाकेत्यर्थः । ‘अदच्चयन्’ दच्चं समर्थं मकुर्वन् । “तद्येन  
मित्यादि, दक्षिणानामनिर्वचनम् । एवं पुरावृत्तं सुपन्यस्य  
प्रकृते योजयति — “तद्यदिति ॥ २ ॥

“ता वा इति, दक्षिणादानविधिः । द्वादशचतु-  
विंशतिपक्षावत्र वैकल्पिकौ द्रष्टव्यौ । अतएवोक्तं सूत्रकृता—  
“षट् दक्षिणाः प्रविभज्य ददाति, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा”—  
इति ‡ । आपस्तम्बोऽप्याह स्म — “षड् देया द्वादश देया-

\* ‘ऊचु स्युविरो’— इति क, ख, ग ।

† ‘वृदन् जातु’— इति घ, ङ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १०. १२ ।

अतुर्विंशतिर्देया इति ता विकल्प्यन्ते” — इति \* । “एषा मात्रेति । एतद् दक्षिणानां परिमाण मित्यर्थः । इतोऽधिक मपि यथाविभव मिच्छानुसारेण देय मिति विधत्ते — “दद्यात् त्वेवेति † ॥ ३, ४, ५ ॥

“हया वा इति । द्वैविध्य मेव दर्शयति — “देवा अहैवेति । अग्न्यादिदेवरूपा एव देवाः केचित्, अपरे तु ब्राह्मणरूपाः । देवा विशिष्यन्ते — “शुश्रुवांस इत्यादिना । “शुश्रुवांसः’ बहुश्रुताः, ‘अनूचानाः’ साङ्गवेदाध्ययनेन ज्ञातार्थानुष्ठानपराः । एते मनुष्यरूपा देवाः । अत एव तैत्तिरीयकम् — “एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः” — इति ‡ । यथा आहुतिभिरग्न्यादिदेवानां प्रीतिर्यज्ञे, एवं मनुष्यदेवान् प्रीणयितुं दक्षिणादान मित्यर्थः ॥ ६ ॥

“तद्यथा योनाविति । यथा गर्भाशये सिक्तं रेतो गर्भरूपेण परिणमति, न व्यर्थो भवति ; एव मेवर्त्विजो यजमानं कर्मफले स्वर्गलोके स्थापयन्तीत्यर्थः । “ये मेद मिति । ‘ये’ खलु ऋत्विजो ‘मा’ माम् ‘इदं’ कर्मफलं ‘सम्प्रापिषन्’ सम्यक् प्रापितवन्तः ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणैभ्यो दक्षिणा देयेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथाधानस्य भ्रातृव्यजयहेतुत्वं वक्तु माख्यायिका माह — “देवाश्चेति । “अनात्मान आसुरिति । आत्मज्ञानरहिता अविवेकिनो जाताः । अनात्मत्वादेव ‘मर्त्याः’ मरणधर्माश्च

\* आप० श्रौ० सू० ५. २०. १३. १४ ।

† “भूयसीञ्च यथाश्रद्धम्” — इति का० श्रौ० सू० ४. १०. १३ ।

‡ तै० सं० १. ७. ३. २ ।



सञ्ज्ञाताः । 'तेषु' भूतेषु देवासुरेषु 'मर्त्येषु' सक्तु 'अग्निरेव' अमरणशीलः 'आस' । "यं ह स्मैषा मिति । 'एषां' देवानां मध्ये 'यम्' एव असुराः 'घ्नन्ति', 'तत्' तत्र सर्वहत \* एव 'भवति' ॥ ८ ॥

"ततो देवा इति । एवं क्रमेणासुरैर्हतेषु देवाः अल्पीयांस एव परिशिष्टा बभूवुः । 'ते' देवाः 'अच्यन्तः' तपस्यन्तः, 'आम्यन्तः' अयं प्राप्तवन्तः 'चिरु' । त एतदित्यादि, स्पष्टम् ॥ ९ ॥

"ते होचुरिति । "अमृत मन्तरात्मन्निति । मरणरहित मग्निम् 'आत्मनि' हृदये आधाय वयं मप्यमृता भूताः, अत एव 'अस्तूर्याः' अहिं त्याज्य भूता इत्यर्थः ॥ १० ॥

"ते होचुरिति । "उभयेषु वा इति । देवासुरेषु 'उभयेषु' अस्मासु स्थितः, 'अयं मग्निः' अतः 'असुरेभ्यः' निवेद्यैवात्माभिः स आधातव्य इति विचारितवन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥

"ते होचुरित्यादि, निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ते होचुरिति । "न्येव धास्यामहे इति । यदि यूयं देवा अग्निं धास्यध्वम्, तर्हि वयं अपि त मेवाग्निं धास्यामहे । "हृणानि दह"—इत्याद्यसुरवाक्यम् । हे अग्ने ! पृथिव्यां हृणानि दह, दारुणि दहेत्येव मग्निं प्रेषयन्तो भूमौ तं मस्थापयत् ॥ १३ ॥

"अथैनं मित्यादि । 'देवाः' तु 'एनम्' अग्निम् 'आत्मन्' आत्मनि, 'अन्तः' हृदयमध्ये 'आधाय' यथासङ्कल्पं मक्तपतेत्यर्थः ।

आख्यायिकासिद्धं मर्थं प्रकृते योजयति — "यथो एवैष

इति । “असुर्यो हीति । असुरूपानिधारणेन यस्मात्  
आहिताग्निरहिंस्यः, तस्माद् विवदमानोऽसावनाहितानि सभि-  
भवितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

नन्वग्निर्गार्हपत्याद्यायतने बहिराधीयते, कथं तस्यान्त-  
र्द्धारण मिति, तत्राह — “तद्यत्रेति । “अभिप्राणितौति । सन्ध-  
नात् ‘जातं’ ‘तम्’ अग्निम् ‘अभि’ उपरि प्राणनं करोति । “स  
पुनरपानितौति । अग्नेर्होपरि श्वासं सुत्सृज्य, तमेव श्वासं  
पुनरन्तर्नयेत् । तेन सार्द्धं मग्निरपि अन्तः प्रविशन्  
यजमानस्य हृदये आहितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

नियतस्यावाह्यस्याग्नेरुद्दीपनं समिन्धनं विधत्ते — “तमिति ।  
उद्दीपनं काष्ठप्रक्षेपः, समिन्धनं सस्यक् प्रज्वलनम्, तदुभय मन्त-  
रग्नौ \* दर्शयति — “इहेति । ‘इह’ अस्मिन् बाह्येग्नौ ‘यच्चे’  
यागं करिष्ये, तत्फलञ्च सम्पादयिष्यामीति यो मनोव्यापारो  
सङ्कल्पो, ते एवान्तराहितस्याग्नेरुद्दीपनसमिन्धने इत्यर्थः । “यो-  
ऽस्येषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवतीत्युपसंहारः ॥ १६ ॥

एव मन्तरग्नि मादधानस्य व्यवायादिदोषोऽपि नास्तीति  
प्रतिपादयति — “अन्तरेणेत्यादिना । अग्नियजमानयोर्मध्ये  
देवदत्तादेरागतेन च व्यवायादिभिः ‘व्यवृत्तत्’ व्यावृत्तो विमुखो-  
ऽभूदिति यो दोषः, सोऽप्यत्र नास्ति । तत्र हेतु माह — “न  
ह वा इति । न खलु हृदयमध्ये स्थापितस्य अग्नेर्यजमानस्य  
च मध्ये कोऽपि गच्छति यावज्जीवम् ; अतो वृथा शङ्का न  
कार्येति । एवंविदुषोऽग्न्यनुगमनशङ्कापि न कार्येत्याह — “तस्मा-  
दिति । न ह वा अस्येति बाह्यस्याग्नेरनुगमेऽपि अन्तराहित-



स्याग्नेर्यावज्जीव मवस्थानात्, न खल्वस्य यजमानस्यैषोऽग्नि-  
रनुगच्छत्युपशाम्यति ॥ १७ ॥

नन्वन्तर्गार्हपत्याद्यग्नयो न सन्ति, कथं तेषां मनुगम इत्यत  
आह — “ते वा इति । गार्हपत्यादीनां प्राणोदानव्यानात्मना-  
वस्थितत्वात् नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

आहिताग्निना सत्य मेव वदितव्यम्, न कदाचिदप्यनृत-  
मित्युभयं प्रतिपादयति — “तस्य वेत्यादिना \* ॥ १९ ॥

एतत्सत्यवदनस्याग्निसमिन्धनहेतुत्वं सृष्टिवाक्यसम्बन्धेन द्रष्ट-  
यति — “तदु हेति । ‘तत्’ तत्रोक्तविषयेऽपि खल्वेवं पूर्व-  
वृत्तान्तः सञ्जातः । उपवेशो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रम् ‘अरु-  
णम्’ तदीयाः ‘ज्ञातयः’ उक्तवन्तः । किमिति— हे अरुण !  
‘स्थविरः’ वृद्धः ‘असि’ अत आसुष्मिक-सिद्धये अग्न्याधानं  
कुर्विति । स चैवं प्रत्युक्तवान् । कथं मिति— “मैतद् ब्रूयेति  
तद्वचनम् । ‘वाचंयम एवैधि’ वाग्यत एव भवति । कुत एवं  
प्रार्थ्यते ? तत्राह — ‘न वा इति । आहिताग्निना हि  
अनृतं न वदितव्यम् । वाग्व्यवहारं कुर्वतस्तु अनृतवदननिषेधो

\* एतस्याः कण्डिकाया व्याख्यानं मेव मकारि हरिश्चामिना — “तस्य वा  
एतस्येति । वाच्याभ्यन्तरस्याग्न्याधेयस्य ; तेषां माहितानां मग्नीनां वाच्या-  
भ्यन्तराणां मित्यर्थः । ‘सत्य मेव’ नानृतम्, उपधायाचरणं मुपचारः ; सत्येनैव  
पूतवचनेन ते अग्नी यज्ञे आधीयन्तेत्यर्थः । कथम् ? यः सत्यं वदति आहि-  
ताग्निः, स एनं मग्निं माहितं मन्तर्वह्निश्च दृतेनाभिषिञ्चति; अनृतवादी तूद-  
केनाभिषिञ्चन् ‘जासयति’ । “जासु हिंसायाम्” । हिनस्ति क्षययति ।  
तस्य चाधातुरनेन कारणेनैव तेजसो वृद्धिहाणी भवतः । तस्मादाहिताग्नेः  
वचनार्थं सत्यविधिः” — इति ।

न सम्भवति । यस्मादेव सृषिणोक्तम् -- “न वदन् जातु”-इत्यादि,  
तस्मात् सत्यवचन मेवाग्न्याधेयस्याङ्गमित्यर्थः\*॥ २० ॥ ६ [२. २.]॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः † ॥

---

\* “अनृतातिथ्यापनोदपूतिदार्वाधानवीसपक्वनायुदकानि वर्जयेत्”—इति  
का० श्रौ० सू० ४, १०. १५ । “यजमानः आधानानन्तरं मेतानि यावज्जीवं  
वर्जयेत्”—इत्यादि च तत्र या० दे० ।

† “कण्डिकासङ्ख्या ११४”—इति क, ख, घ, ङ । “काण्डी ११४”—इति  
ग । तत्र १ ब्रा० १४ क०, २ ब्रा० १६ क०, ३ ब्रा० ६ क०, ४ ब्रा० ३० क०,  
५ ब्रा० २२ क०, ६ ब्रा० २० क० ; सङ्कलनया ११४ इति सिद्धम् ॥



अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

व्वरुणो हैनद्राज्यकाम आदधे । स राज्यं मग-  
च्छत्तुस्माद्युश्च वेद युश्च न व्वरुणो राजेत्येवाहुः  
सोमो यशस्कामः स यशोऽभवत्तुस्माद्युश्च सोमे  
लुभते युश्च नोभावेवागच्छतो यश एवैतद् द्रष्टु माग-  
च्छन्ति यशो ह भवति राज्यं गच्छति यु एवं विद्वा-  
नाधत्ते\* ॥ १ ॥

अग्नौ ह वै देवाः† । सुर्वाणि रूपाणि निद-

\* 'धत्ते'—इति घ, ङ ।

† 'वाः'— इति घ, ङ ।

धिरे यानि च ग्राम्याणि यानि चारुण्यानि त्विजयं  
वोपप्रैष्यन्तः कामचारस्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो  
गोपायदिति वा ॥ २ ॥

तान्यु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्यऽर्त्तून्  
प्रविवेश पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतं  
तेषां हेयसेवास किमिह कर्त्तव्यं क्वेह प्रक्षेति  
वा \* ॥ ३ ॥

तुत एतत् त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श । तदादधे  
तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम सोऽस्मा ऽउभयानि  
रूपाणि प्रतिनिःससर्ज यानि च ग्राम्याणि यानि  
चारुण्यानि तस्मादाहुस्त्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति  
त्वष्टुर्ह्येव सर्व्वं रूपं मुप ह त्वेवान्याः प्रजा यावत्सो  
यावत्स † इव तिष्ठन्ते ‡ ॥ ४ ॥

तस्मै कं पुनराधेय मादधीत । एवुं हैवान्नेः  
प्रियं धामोपगच्छति सोऽस्मा ऽउभयानि रूपाणि  
प्रतिनिःसृजति यानि च ग्राम्याणि यानि चार-

\* 'प्रक्षेतीव'— इति क ख, ग ।

† 'यावच्छो यावच्छ'— इति क, ख, ग ; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

‡ 'उपतिष्ठन्ते'— इति सा०-सम्मत इति डा०-वेवरः ।



अयानि तस्मिन्नेतान्यभयानि रूपाणि दृश्यन्ते पर-  
मता वै सा स्पृहयन्त्यु हास्यै तथा पुष्पति लोक्य-  
स्वेवापि ॥ ५ ॥

आग्नेयोऽयं यज्ञः । ज्योतिरग्निः पाप्मनो  
दग्धा सोऽस्य पाप्मानं दहति स इह ज्योतिरेव  
श्रिया यशसा भवति ज्योतिरमुत्र पुण्यलोकत्वै-  
तन्न तद्यस्मादादधीत ॥ ६ ॥

स वै वर्षास्वादधीत । वर्षा वै सर्वोऽक्ष-  
तवो वर्षा हि वै सर्वोऽक्षतवोऽथादो वर्षं मकुर्मादो†  
वर्षं मकुर्मेति संवत्सराग्न्युष्मश्रयन्ति वर्षा ह‡ त्वेव  
सर्वेषा मृतूनां० रूपं मुत हि तद्वर्षासु भवति यदाहु-  
र्ग्रीष्मः० इव वा अद्ध्येत्युतो तद्वर्षासु भवति यदाहुः  
शिशिरः० इव वा अद्ध्येति वर्षाद्विद्वर्षाः § ॥ ७ ॥

अथैतदेव परोऽक्षं रूपम् । यदेव पुरस्ताद्वाति

\* 'यज्ञः'— इति घ, ङ ।

† 'द्यो'— इति ग ।

‡ 'हि'— इति च दृष्टो डा०० वेवरेण ।

§ 'र्षा'— इति घ, ङ ।

¶ 'पम्'— इति घ, ङ ।

तद्वसन्तस्य रूपं यत् स्तनयति तद् ग्रीष्मस्य यदुर्षति  
तद् वर्षाणां यद् विद्योतते तच्छरदो यद् वृष्टोद्-  
गच्छाति तद्धेमन्तस्य वर्षाः सर्व्व ऽऋतव ऋतून्  
प्राविशदुभ्य एवैन मेतन्निर्मिमीते ॥ ८ ॥

आदित्यस्त्वेव सर्व्व ऽऋतवः । यद्वैवोदेत्यथ  
वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ  
वर्षा यदापराह्णोऽथ शरद्वैवास्त मेत्यथ हेमन्त-  
स्सुस्मादु मध्यन्दिन ऽएवादधीत तर्हि ह्येषोऽस्य  
लोकस्य नेदिष्ठं भवति तन्नेदिष्ठादेवैन मेतन्मध्या-  
न्निर्मिमीते ॥ ९ ॥

काययेव वा ऽअयं पुरुषः । पाप्मानानुषक्तः  
सोऽस्यात्र कुनिष्ठो भवत्यधस्पद् मिवेयस्यते तत् कुनिष्ठ  
मेवैतुत्याप्मानं भवबाधते तस्मादु मध्यन्दिन ऽएवा-  
दधीत ॥ १० ॥

तं वै दभैरुद्धरति । दारुभिर्व्वै पूर्व्वं मुद्धरति  
दारुभिः पूर्व्वं दारुभिरुपरं जामि कुर्यात्समुदं  
कुर्यादापो दर्भा आपो वर्षां ऋतून् प्राविशदग्नि-  
रेवैन मेतदङ्गो निर्मिमीते तस्मादभैरुद्धरति ॥ ११ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । व्रीहिमयं मपूपं कृत्वा यत्



गार्हपत्य माधाख्यन् भवति तन्निदधाति तद्-  
गार्हपत्य मादधाति ॥ १२ ॥

अर्कपलाशाभ्याम् । यवमयमपूपं कृत्वा युत्रा-  
हवनीय माधाख्यन् भवति तन्निदधाति तदाहवनीय  
मादधाति पूर्व्याभ्या मेवैनावेतुदग्निभ्या मन्तुर्दध्म  
द्वुति व्वदन्तस्तुदु तथा न कुर्व्याद्रान्निभिर्ह्वैवान्तर्हिती  
भवतः ॥ १३ ॥

आग्नेय मेव पुञ्चकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
तस्य पुञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति  
पुञ्च वा ऽऋतुव ऋतून् प्रविशद्वुभ्य एवैन सेतन्निर्मि-  
मीते ॥ १४ ॥

सुर्व्व आग्नेयो भवति । एवम् हि त्वष्टाग्नेः  
प्रियं धामोपागच्छत् तस्मात् सुर्व्व आग्नेयो  
भवति ॥ १५ ॥

तेनोपांशु चरन्ति । यद्वै ज्ञातये वा सुख्ये वा  
निष्केवल्यं चिकीर्षति तिरु द्रव वैतेन\* बोभवद्वैश्वदेवो-  
ऽन्यो यज्ज्ञोऽथैष निष्केवल्य आग्नेयो यद्वै तिरु द्रव  
तदुपांशु तस्मादुपांशु चरन्ति ॥ १६ ॥

\* 'इवैतेन'— इति घ, ङ ।

उच्चैरुत्तम मनुयाजं यजति । कृतकर्मेव हि  
स तर्हि भवति सर्व्वो हि कृत मनुबुध्यते ॥ १७ ॥

स आश्राव्याह । समिधो यजेति तदाग्नेयं  
रूपं परोऽक्षं त्वग्नीन्यजेति त्वेव ब्रूयात्तदेव प्रत्यक्ष  
माग्नेयं रूपम् \* ॥ १८ ॥

सु यजति । अग्न आज्यस्य व्यन्तु व्वौभ-  
गग्निमाज्यस्य वेतु व्वौभगग्निनाज्यस्य व्यन्तु व्वौभ-  
गग्निराज्यस्य वेतु व्वौभगिति ॥ १९ ॥

अथ स्वाहाग्नि मित्याह । आग्नेय माज्यभागं  
स्वाहाग्निं प्रवमान मिति यदि प्रवमानाय ध्रिये-  
रन्तस्वाहाग्नि मिन्दुमन्त मिति यद्यग्नय ऽहुन्दुमते  
ध्रियेरन्तस्वाहाग्निं स्वाहाग्नीनाज्यपाञ्चषाणो †  
ऽअग्निराज्यस्य वेत्विति यजति ॥ २० ॥

अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-  
भागं सोऽन्वाहाग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो  
ऽअमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधदिति स्तुपितीव  
खुलु वा ऽएतद्यदुद्वासितो भवति सम्प्रबोधयत्येवैन

\* 'रूपम्'— इति क, घ, ङ ॥

† 'पान् जुषाणो'— इति घ, ङ ।



मेतत्समुदीर्ययति\* जुषाणो ऽअग्निराज्यस्य व्वेत्विति  
यजति ॥ २१ ॥

अथ यद्यग्नये पवमानाय धियेरन् । अग्नये  
पवमानायानुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहाग्न ऽआयूष्मि  
पवस ऽआसुवोर्ज मिषं च नः । आरे वाधस्व  
दुक्कुना मिति तथाहाग्नेयो भवति सोमो वै पव-  
मानस्तदु सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति जुषाणो ऽअग्निः  
पवमान आज्यस्य व्वेत्विति यजति ॥ २२ ॥

अथ यद्यग्नय ऽइन्दुमते धियेरन् । अग्नय  
ऽइन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्सोऽन्वाहेच्छू षु ब्रवाणि  
तेऽग्न ऽइत्येतरा गिरः । एभिर्ब्रह्मस† ऽइन्दुभिरिति  
तथा हाग्नेयो भवति सोमो वा ऽइन्दुस्तदु सौम्या-  
दाज्यभागान्नयन्ति जुषाणो ऽअग्निरिन्दुमानाज्यस्य  
व्वेत्विति यजत्येव सु सर्व्व माग्नेयं करोति ॥ २३ ॥

अथाहाग्नयेऽनुब्रूहीति हविषः । अग्निं यजा-  
ग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूह्यग्निं स्विष्टकृतं यजेत्यथ यद्  
देवान् यजेत्यग्नीन् यजेत्येवैतदाह ॥ २४ ॥

\* 'दीर्घयति'— इति क ; 'दीर्घयति'— इति ख, ग ।

† 'ब्रह्मस'— इति घ, ङ ।

सु यजति । अग्नेर्व्वसुवने व्वसुधेयस्य व्वेतु  
व्वीभगग्ना ऽउ व्वसुवने \* व्वसुधेयस्य व्वेतु व्वीभग्  
देवो ऽअग्निः स्विष्टकृदिति स्वयु माग्नेयस्तृतीय एव  
व्वान्नेयाननुयाजान् करोति ॥ २५ ॥

ता वा ऽएताः† । षड् विभक्तीर्य्यजति चतस्रः  
प्रयाजेषु द्वे ऽअनुयाजेषु षड् वा ऽऋतव ऋतून्  
प्राविशद्वेतुस्य एवैन मेतन्निर्मिमीते ॥ २६ ॥

द्वादश वा त्रयोदश व्वाक्षुराणि भवन्ति । द्वादश  
वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः संवत्सर  
ऋतून् प्राविशद्वेतुस्य एवैन मेतत् संवत्सरान्निर्मि-  
मीते न द्वे च न सहाजामितायै जामि ह कुर्याद्यद्  
द्वे चित् सह स्यातां व्यन्तु व्वेतित्वेव प्रयाजानां  
रूपं व्वसुवने व्वसुधेयस्येत्यनुयाजानाम् ॥ २७ ॥

तस्य हिरण्यं दक्षिणा । आग्नेयो वा ऽएष  
यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्विरण्यं दक्षिणा-  
नङ्गान्वा स हि व्वहेनाग्नेयोऽग्निदग्ध मिव ह्यस्य  
व्वहं भवति देवानां हव्यवाहनीऽग्निरिति

\* 'व्वसुवने'— इति ख ।

† 'ताः'— इति घ, ङ ।



वृहति वा ऽएषु मनुष्येभ्यस्तस्मादनङ्गान् दक्षिणा  
॥ २८ ॥ १ ॥

॥ कृति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२.३.] ॥

अथ पुनराधेयं \* विधितुः स्वपक्षातिभूत मुक्त मग्न्याधेयं  
प्रकृतिरूपार्थवादेन † राज्ययशोहेतुत्वेन प्रशंसति— “वरुण इति ।  
“सोमो यशस्काम इति । आदध इत्यनुषङ्गः । उक्तं मर्थं प्रकृते  
योजयति— “यशो हेति । ‘यशः’ यशस्वी भवतीत्यर्थः ‡ ॥ १ ॥

पुनराधेयं विधातु माख्यायिकया प्रसूति— “अग्नी हेति ।  
निधाने कारणानि वैकल्पिकानि त्रीण्युपन्यस्यति— “विजयं  
वेति । असुरान् विजेतु सुपगमनसमये पूर्वसिद्धान्धाधान-  
स्यार्थं मर्थनिधान मित्येकः पक्षः । ‘कामचारस्य’ कामाय  
यथेच्छं क्रौडितुं सञ्चरणस्य यः कामः, तदर्थं वा तन्निधान मिति  
द्वितीयः । गृहे एव स्थितानां ‘नः’ अस्माकं देवानां मध्ये  
अय मग्निः ‘गोपिष्ठः’ गोपायित्तमो रक्षणकुशलोऽस्मदीयं धनं  
गोपायितुं § रक्षितुं शक्नोतीत्यनेनाभिप्रायेण वा तन्निधान मिति  
तृतीयः पक्षः ॥ २ ॥

\* “पुनराधेय माधानाप्रतिज्ञातस्य”— इति का० औ० सू० ४. १०. १ ।

† ‘प्रकृतिरूपार्थवादेन’— इति छ ।

‡ “राज्ययशस्कामस्य वा”— इति का० औ० सू० ४. १०. २ ।

§ ‘गोपायतु’— इति च ।

“तान्धु हेत्यादि । ‘तानि’ देवेर्निहितानि ‘ग्राम्यारण्यानि’  
 रूपाणि सः ‘अग्निः’ नितरां कामितवान्, अह मेवैतत् सर्वं सुप-  
 भोक्ष्ये इति । ‘तैः’ निक्षेपैः सह विद्यमानं सर्वं सङ्गृह्य  
 वसन्ताद्यान् ‘ऋतून्’ चोरादिः पर्वत मिव प्रविष्टवान् (अन्तर्दधेः\*)  
 देवा अपि अस्मदीयं स्थानं ‘पुनः’ आगच्छामः ‘इति’ अनेनाभि-  
 प्रायेण तं ‘तिरोभूतम्’ ‘अग्निम्’ आगच्छन् । पूर्वं यस्मिन्  
 स्थाने सोऽग्निः स्थितः, तत्र त मपश्यतां ‘तेषां’ देवानां  
 ‘इयसा इव आस’ विहीनावस्थां प्राप ॥ । अग्निरस्मदीयं सर्वं  
 धन मपहृत्य गतः, ‘इह’ अस्मिन् विषये ‘किम्’ अस्माभिः  
 ‘कर्तव्यम्’, ‘का वा’ बुद्धिः ? ‘इति’ ॥ ३ ॥

“तत एतदिति । एवं विचारयतां मध्ये ‘ततः’ अनन्तर  
 मेव ‘त्वष्टा’ ‘एतद्’ वक्ष्यमाणं ‘पुनराधेयं’ ‘ददर्श’ । ‘तदादध  
 इत्यादि, निगदसिद्धम् । “उप ह त्वेवेति । ‘उप ह तु एव’ ।  
 ‘यावच्छः’ ‡ यावत्प्रकारविशिष्टं त्वाङ्गं रूपम् ‘अन्याः प्रजाः’  
 ‘उपतिष्ठन्ते’, तावत्सो जायन्ते इत्यर्थः । वीप्सा तु सर्व-  
 सङ्गृहार्था ॥ ४ ॥

“तस्मा इति, पुनराधेयविधिः । यदाख्यायिकया प्रति-

\* नास्तीतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

† इयसा=चिन्ता, इत्याह हरिश्वासी । प्रथमकाण्डेऽप्युक्तं तेन—  
 ‘इयस्’-शब्दोऽवसानवचनः कण्ठादिषु पठ्यत इति (१भा० ६१० पृ०) । तत्-  
 तस्तु इयस्यते, इयसा, इयसित मिति त्रीण्यपि रूपाण्येकधातुजानि  
 समानार्थानि । इहैवोत्तरत्र (१० क०) ‘इयस्यते’— इति च विवेच्यम् ।

‡ “यावच्छो यावच्छ इव । यावच्छब्दोऽल्पवचनः, अल्प मल्प  
 मित्यर्थः”— इति हरिश्वासी ।



पन्नं प्रयोजनम्, अग्निप्रियधामोपगमनादिलक्षणम्, तदर्थं पुनराधानं कुर्यादित्यर्थः । प्रथमाहितस्याग्नेः \* विधानान्तरेण पुनस्तेष्वायतनेषु स्थापनं पुनराधेयम् । “एवं हेत्यादि, निगदसिद्धम् । “परमता वै सेति । येयं ग्रामारण्योभयप्राप्तिः ‘सा’ ‘परमता’ परमत्वं सर्वोत्कृष्टत्वम् । किञ्च ‘अस्मै’ पुनराधेयं कृतवते सर्वे जनाः ‘स्पृहयन्ति’ आद्रियन्ते । “स्पृहेरोप्सितः”— इति † सम्प्रदानसञ्ज्ञा ‡ । तथा अयं मपि ‘लोक्यम्’ लोकनीयम् उत्कर्षं प्राप्य ‘पुण्यति’ प्रवृद्धो भवति ॥ ५ ॥

विहितं पुनराधेयं मग्निसम्बन्धोपजीवनेन प्रशंसति— “आग्नेयोऽयं यज्ञ इति । ज्योतिरात्मको ह्यग्निः ‘पाप्मनः’ ‘दग्धा’ दाहकः । अतः ‘सः’ अग्निः स्वसम्बन्धि-यज्ञं कुर्वतः ‘अस्य’ पापं निर्दहति । “एतन्नु तदिति । यस्यै फलाय आदधीन, ‘एतत्’ उक्तविधिफलं खलु ‘तत्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषं विधत्ते— “स वा इति । ऋत्वन्तरं परित्यज्य वर्षर्तुविधाने कारणमाह— “वर्षा वा इति § । एतदुपपादयति— “वर्षा हि वा इत्यादिना । यस्मादेवं वर्षर्तुः सर्वात्मकः, तस्मात् समुदायात्मकं संवत्सरं वर्षशब्देन लोको व्यवहरतीति दर्शयति— “अथेति । सर्वर्तुरूपा वर्षा इति प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते— “वर्षा ह त्वेवेति । एतदुपपादयति— “तदिति । श्रीष्म-

\* “प्रथम माहितस्याग्नेः”— इति च ।

† पा० सू० १. ४. ३६ ।

‡ ‘स्पृहेरोप्सिततम मिति सम्प्रदानसञ्ज्ञा’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ क ।

शिशिरधर्मयोः प्रकाशशैत्ययोः वर्षासु सद्भावात्, वर्षयोगाच्च \*  
वर्षर्त्तुर्त्तावावदुभयात्मकत्वम् । तत्र † ग्रीष्मे वसन्तस्य, वर्षासु  
शरदः, शिशिरे हेमन्तस्य, समानधर्मतयान्तर्भावात् सर्वर्त्तु-  
रूपत्वं सिद्धं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

एवं प्रत्यक्षविषयं प्रकाशादिधर्मयोगेन सर्वत्र सभिधाय  
परोक्षधर्मवशादपि तत् प्रतिपादयति— “अथैतदिति । पुरो-  
वातादयो ‡ हि वसन्तादीनां परोक्षभूता धर्माः । तेषां च  
सर्वेषां वर्षासु सद्भावात् सर्वर्त्तुरूपतैत्यर्थः । “ऋतून् प्राविशदि-  
त्यादि । यस्मादग्निः प्रागुक्तरीत्या ऋतून् प्राविशत्, तस्मादेनं  
वर्षास्त्रादधानस्तेभ्य एवर्त्तुभ्यः पुनरुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

तच्च पुनराधानं महर्त्तु मध्यन्दिने कार्यं मिति § त्रिधित्सु-  
स्तदर्थं मादित्यस्य सर्वर्त्तुरूपता माह— “आदित्यस्त्वेवेति ।  
प्रातः-सङ्गव-मध्याह्न-पराह्ण-सायङ्कालात्मकाः अङ्गोऽवयवाः सूर्य-  
सम्बन्धिनः पञ्चर्त्तवः ; तत्र वर्षास्त्राधानस्य विहितत्वात् तदात्मके  
मध्यन्दिने एव तत् कुर्यादित्यर्थः । तदेतन्मध्यन्दिनाधानं प्रशं-  
सति— “तर्हीति । ‘तर्हि’ तस्मिन् मध्यन्दिने समये ‘एषः’  
आदित्यः ‘अस्य लोकस्य’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमो ‘भवति’ ।  
सिद्धं मन्यत् ॥ ९ ॥

प्रकारान्तरेण तन्मध्यन्दिनाधानं प्रशंसति— “छायायेवेति ।  
“सोऽस्येति । ‘अस्य’ पुरुषस्य छाया रूपः ‘सः’ पाप्मा ‘अत्र’

\* ‘वृथियोगाच्च (?)’— इति च ।

† ‘ततः’— इति च ।

‡ ‘पुरोवात इत्यादयो’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ११. ६ ख ।



अस्मिन् मध्यन्दिने 'कनिष्ठः' अल्पतमः 'भवति' । स च  
( पाप्मा \* ) पुरुषस्य † पादयोरधस्तादिव 'इयस्यते' प्राप्नोति ‡ ।  
“इण् गतौ”—इति धातुः § । “तत् कनिष्ठ मित्यादि सुग-  
मम् ॥ १० ॥

तस्य पुनराधिसितस्याग्नेर्दग्धैरेवोद्धरणं कार्यमिति विधत्ते—  
“तं वा इति । आधानवत् पुनराधानेऽपि दारुभिरुद्धरणे दोष  
माह — “दारुभिः पूर्वं मिति ॥ । उभयोरैकरूप्ये जामिता-  
दोषः स्यात् । तथा 'समदं' दारुविषयं परस्परं तयोः कलह  
मपि जनयेदित्यर्थः । विहितं दग्धैरुद्धरणं प्रशंसति — “आप  
इति । दर्भाणां मन्त्रिकारत्वं प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम्— “ता  
उपर्युपर्यतिपुत्रुविरेऽत इमे दर्भाः”—इति \*\* ॥ ११ ॥

व्रीहियवमययोरूपयोरर्कपर्णद्वयसङ्गृहीतयोर्गार्हपत्याहवनी-  
यायतनयोर्निधानं विधत्ते — “अर्कपलाशाभ्या मित्यादिना ।  
अतएवोक्तं कात्यायनेन — “वर्षासु मध्यन्दिने वा कुशैराधानं

\* नाख्येतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।

† 'पुरुषरूपस्य'— इति च ।

‡ 'प्रवौति — इति च ।

§ अदा० प० १४ धा० । हरिस्वामिमते तु कण्ठादेरियशब्दजघाती-  
मेवेदं रूपम्; अतएवेह 'इयस्यते = अवसीदति'— इति व्याख्यानं  
तेन । १ भा० ६१० पृ० ५ पं० “इयसितं” द्रष्टव्यम्, द्रष्टव्यञ्चेहापि  
पुरस्तात् तृतीयकाण्डग्राम् ( ८४ पृ० ) 'इयसा'-पदव्याख्यानम् ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. ११. ७ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ; “नेधनेन”—इति च तत्र ४. ६. ११ ।

\*\* १ भा० ६०, ६५ पृ० ( १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ) द्रष्टव्यम् ।

ब्रीह्यूप मर्कपलागयोः पक्कं गार्हपत्यस्य स्थाने निदधात्येव  
माहवनीयस्य याव मिति \* ॥

अपूपनिधानस्य प्रयोजन माह — “पूर्वाभ्या मिति । पूर्व  
माहिती यौ गार्हपत्याहवनीयौ ताभ्या मित्यर्थः । तदेतन्निषे-  
धति — “तदु तथेति । “रात्रिभिर्होवेति । अनुगतयोः रात्रिभि-  
रेव व्यवधानात् नापूपव्यवधानेन प्रयोजन मित्यर्थः ॥ १२, १३ ॥

‘आग्नेय मेवेति । यदाग्न्याधेयपवमानेष्टिकार्यम् †, तदा-  
ग्नेय एवकपालः करोतीति न पृथक्तया कर्त्तव्या इत्येवका-  
रार्थः ॥ १४ ॥

“सर्व आग्नेयी भवतीति । अस्यां पञ्चकपालेष्टी आज्य-  
भागादिः सर्वोऽपि यागोऽग्निदेवस्यः कार्य इत्यर्थः ‡ ॥ १५ ॥

“तेनोपांशु चरन्तीति § । विहित सुपांशुत्व सुपपाद-  
यति — “ज्ञातये वेति । ‘यद्’ हुतं ‘निष्केवल्यम्’ इतरेभ्यो  
निष्कृथ केवलम्, तदेकभागं चिकीर्षति’ कर्त्तुं मिच्छति,  
‘एतेन’ ‘तिर इव’ ‘बोभवद्’ भवति, तिरोहितं परोक्ष मेव तत्  
प्रदीयत इत्यर्थः । “यद्वै तिर इवेति । ‘यत्’ खलु तिरोहित-  
वत् ‘उपांशु’ भवति, उपांशूच्चार्यमाणस्यापि परश्रोत्रयाह्यत्वा-  
भावेन तिरोहितत्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“उच्चैरुत्तम मनुयाजं करोतीति ¶ । यावत् ‘उत्तमः’

\* का० औ० सू० ४. ११. ६-८ । “सद्यश्चेत्” — इति सूत्रशेषः ।  
‘चेददि सद्योऽग्नय उत्सृष्टास्तदायं विशेषः’ — इति तट्टीकायां या० दे० ।

† ‘यदाग्न्याधेये पवमानादि कार्यम्’ — इति च ।

‡ का० औ० सू० ४. ११. ६ क ।

§ का० औ० सू० ४. ११. ६ ख । ¶ का० औ० सू० ४. ११. ६ ग ।



तृतीयः अनुयाजः, तावत्पर्यन्तं मुपांशुस्वरः, तत ऊर्ध्वं मुद्धे-  
रेव सत्र प्रयोग इत्यर्थः \* । तत्र कारणं माह— “कृतकर्मे-  
वेति ॥ १७ ॥

प्रयाजादिषु सर्वान्वेयकरणं प्रतिपादयति— “स आग्न्याव्ये-  
त्यादिना । प्रथमप्रयाजो यत् “समिधो यज”—इति प्राकृतं  
वचनम् †, ‘तत् आग्नेयं रूपम्’; समिध्वनप्रत्यभिज्ञानात् ; किन्तु  
तत् ‘परोक्षम्’ । अतः समिध इत्येतस्य स्थाने “अग्नीन् यज”—  
‘इत्येव’ ब्रूयात् ॥ १८ ॥

प्रयाजयान्यासपि क्रमेणाग्निविभक्तिं योजयति ‡— “स  
यजतीति । प्रकृतिषु यान्यासु आज्यशब्दात् पूर्वं यथाक्रमम्  
‘अग्ने’, ‘अग्निम्’, ‘अग्निना’, ‘अग्निः’— एतावतस्तो विभक्तीः  
विहिताः § ; एताभिर्यजेदित्यर्थः ¶ ॥ १९ ॥

पञ्चमप्रयाजानुयाजयो ॥ विशेषं माह— “अथ स्वाहेति ।  
प्रकृतिवत् प्रथमाज्यभागदेवतां सङ्कीर्त्य द्वितीयाज्यभागदेवतायाः  
सोमस्य स्थाने अग्निः पवमानोऽग्निरिन्दुमान् वा अध्वर्युप्रयो-  
गानुत्तारेण विकल्पेन निर्द्देष्टव्य इत्यर्थः । स्वाहा देवानाज्य-

\* यावदित्यादीनां स्थाने “उत्तमं तृतीयम्”—इत्येतन्मात्रं मेव च-पुस्तके ।

† ‘वन्धनम्’— इति च ।

‡ ‘विभक्तियोजनं प्रतिपादयति’— इति च ।

§ का० औ० सू० ४. ११. ११, १२ ।

¶ अत्र मूले यद् वौगित्यसकृदान्नातम्, तस्य व्याख्यानं मिह नाकारि  
भाष्यकारेण कथं मिति चिन्तनीयं मेव ; पूर्वन्तु वौगित्यस्य व्याख्यानं कृतं  
मेवेति तद् द्रष्टव्यम् ( १ भा० ४६० पृ० ३५० ) ।

॥ ‘पञ्चमप्रयाजानुयाज्यायां’— इति च ।

पानिति \* प्रयाजदेवतानिर्देशेऽपि “स्वाहान्नीनाज्यपान्”—  
इति प्रयोक्तव्यम् ॥ २० ॥

“अथाहानय इति । प्रथमाज्यभागस्य “अग्निं स्त्रीमेन  
बोधय”—इति † बुधिधातुयुक्ता मनुवाक्यां दर्शयित्वा तस्याः  
धुनराधेयानुकल्प माह — “स्वपितीवेति । ‘समुदीर्ययति’  
समुद्गमयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

द्वितीयाज्यभागस्य प्रागुक्तपक्षद्वयेऽपि ‡ याज्यानुवाक्ये दर्श-  
यति— “अथ यदीत्यादिना । निगदसिद्धीर्थः ॥ २२ ॥

“अथ यद्यग्नय इति । “एव सु सर्व मिति । उक्तरीत्या  
प्रयाजानां माज्यभागयोश्चाग्निसम्बन्धकरणात् तत् सर्व मानेयं  
भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

आधानस्त्रिष्टुक्ततोस्त्वग्निसम्बन्ध § इति दर्शयति— “अथा  
हानय इति । प्रथमप्रयाजवत् प्रथमानुयाजेऽपि “देवान् यज”—  
इत्यस्य स्थाने “अग्नीन् यज”—इत्यग्निविभक्तिः कार्या ¶ ॥ २४ ॥

तथा द्वितीयेऽप्यनुयाजे “अग्नाउ”—इति विभक्तिः प्रयोक्त-  
व्येति प्रतिपादयति— “स यजतीत्यादिना । “स्वय मानेय  
इति । ‘द्वितीयः’ त्वनुयाजः ‘स्वय मानेयः’ स्वय मेवाग्निशब्द-  
वानिति न पृथक् तच्चाग्निविभक्तिः प्रक्षेप्तव्येत्यर्थः ॥ २५ ॥

एवं प्रयाजानुयाजेषु प्रक्षिप्ताः सम्भूयानूद्य प्रशंसति — “ता  
वा इति ॥ २६ ॥

\* ‘देवां व्याज्यपानिति’— इति च ।

† ऋ० सं० ५. १४. १ ।

‡ ‘प्रागुक्तपक्षद्वयार्थ’— इति च ।

§ ‘अधुना स्त्रिष्टुक्ततोऽप्यग्निसम्बन्ध’—इति च ।

¶ का० श्रौ० सं० ४. ११. ११ ।



तासां विभक्तौना मच्चरसङ्ख्या मुपजीव्य प्रशंसति — “द्वादश वेति । ‘अग्नाउ’-इत्यत्रान्तिमाच्चरत्यागे सति द्वावशाचराणि भवन्ति, तेन सह त्रयोदश भवन्तीत्यर्थः । “न हे चनेति । चनशब्दोऽप्यर्थः \* । ‘हे’ अपि वक्ष्यमाणे ‘न’ ‘सह’ प्रयुज्जीत, किमर्थम् ? ‘अजामितायै’ जामितादोषराहित्याय । व्यतिरेके तत्सङ्गाव माह — “जामि हेति । के पुनस्ते हे ? इति, ते विभज्य दर्शयति — “व्यन्तु-वेत्वित्यादिना ॥ २७ ॥

पुनराधेयस्य दक्षिणां विधत्ते — “तस्येति । “स हि वह्नेनेति । ‘सः’ खलु अनड्डान् ‘वहेन’ स्वान्धेन अग्निसम्बद्धो भवति † । तस्योपपातम् — “अग्निदग्ध मिवेति ‡ । अन-  
ड्डह्य साम्य माह — “देवाना मिति । अतो वह्नं स्यात् । पुनराधीयमानस्याग्नेः ‘अनड्डान् दक्षिणा’ § उल्कृष्टतरा इत्यर्थः ॥ २८ ॥ १ [ २. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* “असाकल्ये तु चिच्चन” — इति अम० को० ३. ४. ३ ।

†, ‡ पूर्वस्मिन् काण्डे १५० २ब्रा० ६ कण्ठीम्, तद् आख्यानञ्च पश्यतु

§ का० श्रौ० सू० ३. ११. १३ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽद्भुद मय ऽएक एवास । स  
 ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत  
 सोऽग्निं मेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे तद्यदेनं मुखाद्-  
 जनयत तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैव मेत मग्निं  
 मन्नादं व्वेदान्नादो हैव भवति ॥ १ ॥

तद्वा ऽएन मेतदग्रे देवाना मजनयत । तस्मा-  
 दग्निरग्निर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति सु जातः पूर्वः  
 प्रेयाय यो वै पूर्व एत्यग्र ऽएतीति वै त माहुः  
 सो ऽएवास्माग्निता ॥ २ ॥

स ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं वा ऽद्भु मात्स-  
 नोऽजीजने यदग्निं न वा ऽद्भु मदन्यदुन्न मस्ति  
 यं वा ऽअयं नाद्यादिति काल्वालीकृता हैव तर्हि  
 पृथिव्यास नौषधय आसुर्न व्वनस्पतयस्तुदेवास्व  
 मनस्यास ॥ ३ ॥

अथैन मग्निर्युक्तेनोपपर्याववर्त्त । तस्य भीतस्य  
 स्त्रो महिमापचक्राम व्वाग्वा ऽअस्य स्त्रो महिमा  
 व्वागस्यापचक्राम स आत्मन्येवाहुति\* मीषे स उदसृष्ट



तद्यदुदुमृष्ट तस्मादिदं चालोमक मिदं च तत्र  
विवेद घृताहुतिं वै पयआहुतिं वोभयं ह त्वेव  
तत्पय एव \* ॥ ४ ॥

सा हैनं नाभिराधयाञ्चकार । केशमिश्रेव  
हास तां वौक्षदोषं धयेति तत ओषधयः सम-  
भवंस्तस्मादोषधयो नाम स द्वितीय मुदमृष्ट तत्रा-  
परा माहुतिं विवेद घृताहुतिं वै पयआहुतिं  
वोभयं ह त्वेव तत्पय एव † ॥ ५ ॥

सा हैन मभिराधयाञ्चकार । स व्यचिकित्-  
सज्जुह्वानी३ मा हौषा३ मिति तं स्त्री महि-  
माभ्युवाद जुहुधीति स प्रजापतिर्विंदाञ्चकार  
स्त्री वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत् तस्मादु  
स्वाहेत्येव हूयते तत एष उदियाय य एष तपति  
ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते‡ तत एवाग्निः पुराङ्  
पथ्याववर्त्त§ ॥ ६ ॥

स हुत्वा प्रजापतिः । प्र चाजायतात्स्यतश्चा-

\*, † 'एव'— इति घ, ङ ।

‡ 'पवते'— इति च ङ्यो डा०-वैवरेण ।

§ 'पथ्याववर्त्त'— इति ग ।

ग्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स यो हैवं विद्वानग्नि-  
होत्रं जुहोत्येतां हैव प्रजातिं प्रजायते यः प्रजा-  
पतिः प्राजायतैव सु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं  
न्नायते ॥ ७ ॥

स युत्र म्रियते । युत्रैन मग्नावभ्यादधति  
तद्देवोऽग्नेरुधिजायतेऽथास्य शरीर मेवाग्निर्दहति  
तद्यथा पितुर्व्वा मातुर्व्वा जायेतैव मेवोऽग्नेरुधिजायते  
शुश्रूष वा ऽएष न सम्भवति योऽग्निहोत्रं न  
जुहोति तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ ८ ॥

तद्वा एतत् । एव विचिकित्सायै जुन्म यत्  
प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्य विचिकित्सञ्जुयस्यधियत यः  
प्र जाजायतात्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मान मन्त्रायत स  
यो हैव मेतद्विचिकित्सायै जुन्म वेद यद् विचि-  
क्विकित्सति श्रेयसि हैव धियते ॥ ९ ॥

सु हुत्वा न्यमृष्ट । ततो विकङ्कतः समभव-  
त्तस्मादेषु यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षस्त एते देवानां  
वीरा अजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः स यो हैव



मेतान् देवानां वीरान् वेदाहास्य वीरो  
जायते ॥ १० ॥

तु ऽउ हैतु ऽउचुः । व्यं वै प्रजापतिं पितर  
मनु स्मो हुन्त व्यं तत् सजामहै यदस्मानन्वस-  
दिति ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिङ्कारेण तुष्टुविरे  
तद्यत्पर्य्यश्रयन्त्सु समुद्रोऽप्येय मेव पृथिव्या स्तावः \*  
॥ ११ ॥

ते सुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति  
देवा एङ्गाः सुभूताः सा हैनानुदीच्य हिच्चकार  
ते देवा व्विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिङ्कार इत्यपहि-  
ङ्कारः हैव पुरा ततः सामास स एष गवि साम्नो  
हिङ्कारस्तस्मादेषोपजीवनीयोपजीवनीयो ह वै† भवति  
य एव मेतं गवि साम्नो हिङ्कारं वेद ॥ १२ ॥

ते होचुः । भद्रं वा ऽइदं मजीजनामहि ये  
गा मजीजनामहि यज्ञो ह्येवेयं नो ह्यृते गोर्यञ्ज-  
स्तायतेऽन्नं ह्येवेयं यद्वि किञ्चान्नं गौरेव  
तदिति ॥ १३ ॥

७ 'पृथिव्यास्तावः'— इति घ, ङ ।

† 'हैव'— इति ग ।

तत्रा ऽएतदेवैतासां नाम । एतद्यज्ञस्य तस्मा-  
देतत्परिहरेत्साधु पुण्य मिति बुद्धो ह वा अख्येता  
भवत्युपनामुक्त एनं यज्ञो भवति य एव विद्वाने-  
तत्परिहरति साधु पुण्य मिति ॥ १४ ॥

ता सु हाग्निरभिदध्यौ । मिथुन्यनया स्या  
मिति तां सुम्बभूव तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्तत्प्रयो-  
ऽभवत्तस्मादेतदामायां गवि सत्यां शृत मग्नेहि  
रेतरुस्माद्यदि कृष्णायां यदि रोहिण्यां शुक्ल  
मेव भवत्यग्निसङ्काश मग्नेहि रेतस्तस्मात् प्रथम-  
दग्ध सुष्णं भवत्यग्नेहि रेतः ॥ १५ ॥

ते होचुः । हन्तेदं जुह्वामहा ऽहुति कृच्छे  
न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति मुह्य मिति हैवाग्नि-  
रुवाच मुह्य मिति योऽयं पवते मुह्य मिति  
सूर्यस्ते न सम्पादयान्त्ववक्रुस्ते हासम्पाद्योचुः  
प्रजापति मेव पितरं प्रत्ययाम स युच्छे न इदं प्रथ-  
माय होतव्य वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्य-  
न्तीति ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः कृच्छे न इदं  
प्रथमाय होष्यन्तीति ॥ १६ ॥

स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्ठा स्व रेतः



|                                                                                                                                                                   |     |         |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|---------|
| Pedumawati, Face. 1-4 @ 2/                                                                                                                                        | ... | Rs. 8 0 |
| Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each...                                                                                                                   | ... | 1 14    |
| Prāk ta-Paṅgalam, Face. 1-7 @ 1/ each                                                                                                                             | ... | 2 10    |
| Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                                                                                                             | ... | 1 14    |
| Ditto (English) Part II, Fasc. 1                                                                                                                                  | ... | 12      |
| Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1                                                                                                                                  | ... | 1 8     |
| Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each                                                                       | ... | 7 8     |
| Parācara, Institutes of (English)                                                                                                                                 | ... | 0 12    |
| Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 12/ each                                                                                                                 | ... | 2 4     |
| *Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/ each Fasc.                                                                | ... | 12 6    |
| Sāṅkhyā Sūtra V, tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/                                                                                                                       | ... | 1 8     |
| Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 12/ each                                                                                                                              | ... | 2 4     |
| Sraddha Kriyā Kaumudī, Fasc. 1-6                                                                                                                                  | ... | 2 4     |
| Sucrūta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 12/                                                                                                                             | ... | 0 12    |
| Suddhi Kaumudī, Fasc. 1 3                                                                                                                                         | ... | 1 2     |
| *Taittereya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/ each                                                                                                                 | ... | 9 0     |
| Tāṇḍya Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each                                                                                                                      | ... | 7 2     |
| Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 12/                                                                                                                          | ... | 3 0     |
| Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/ each | ... | 14 4    |
| Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3                                                                                                                               | ... | 1 2     |
| Trikāṇḍa-Maṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/                                                                                                                          | ... | 1 2     |
| Upamita-bhava-prapañca-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/ each                                                                                                           | ... | 3 0     |
| Uvāsagadāsō, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 12/                                                                                                                   | ... | 4 8     |
| Vallala Carita, Fasc. 1                                                                                                                                           | ... | 0 6     |
| Varṣa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/                                                                                                                                | ... | 2 4     |
| *Vāyu Pūṇḍrī, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/ each                                                                                             | ... | 4 8     |
| Vidhano Parigata, Fasc. 1-7                                                                                                                                       | ... | 2 10    |
| Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each                                                                                                                       | ... | 2 10    |
| Vijhat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6                                                                                                                                 | ... | 2 4     |

#### Tibetan Series.

|                                                                                             |     |      |
|---------------------------------------------------------------------------------------------|-----|------|
| Pag-Sam Thi Śiṅ, Fasc. 1-4 @ 1/ each                                                        | ... | 4 0  |
| Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each            | ... | 14 0 |
| Rtogs brjod dpag khkharī Śiṅ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each | ... | 10 0 |

#### Arabic and Persian Series.

|                                                                                                                                                                                      |     |       |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-------|
| *Ālamgīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/ each                                                                                                                               | ... | 4 14  |
| Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 12/                                                                                                                                      | ... | 2 4   |
| Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each                                                                                                                                            | ... | 22 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 12/ each                                                                                               | ... | 29 12 |
| Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each                                                                                                                                  | ... | 37 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/ each                                                                                                                          | ... | 9 0   |
| Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger                                                                                                                                              | ... | 0 6   |
| Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each                                                                                                                                | ... | 7 2   |
| Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2                                                                                                                                        | ... | 2 0   |
| Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each                                                                  | ... | 3 0   |
| Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each                                                                                                             | ... | 21 0  |
| Farhang-i-Rashidī, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each                                                                                                                                       | ... | 14 0  |
| Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shī'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 12/ each                                                                                                         | ... | 3 0   |
| Futūkh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/ each                                                                                                                                | ... | 3 6   |
| Ditto of Āzādī, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each                                                                                                                                           | ... | 1 8   |
| Īstā' Asmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1                                                                                                                          | ... | 0 12  |
| History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 12/ each                                                                                                                               | ... | 4 8   |
| Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each                                                                                                                                  | ... | 1 2   |
| Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 12/ each                                                                                                                                  | ... | 38 4  |
| Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 16/ each | ... | 13 2  |
| Maghāzi of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each                                                                                                                                       | ... | 1 14  |

\*The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.



|                                                                                                                  |     |    |    |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|----|----|
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 1/ each                                                               | Rs  | 5  | 10 |
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes; Vol. III, Fasc. 1 @ 1/2 each | ... | 12 | 0  |
| Muntakhabu-l-Lubāh, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each                                                                  | ... | 7  | 2  |
| Ma'āsir-i-'Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/ each                                                                  | ... | 2  | 4  |
| Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1                                                                                  | ... | 0  | 6  |
| Nizāmī's -Khīradnāmāh-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 1/2 each                                                   | ... | 1  | 8  |
| Riyāzu-s-Salātīn, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each                                                                     | ... | 1  | 14 |
| Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5                                                                                  | ... | 3  | 12 |
| Tabaqāt-i-Nāsiri, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each                                                                     | ... | 1  | 14 |
| Ditto (English) Fasc. 1-14 @ 1/2 each                                                                            | ... | 10 | 8  |
| Ditto Index                                                                                                      | ... | 1  | 0  |
| Tārikh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each                                             | ... | 2  | 10 |
| Tārikh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/2 each                                           | ... | 2  | 4  |
| Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1/8 each                                                                   | ... | 3  | 0  |
| Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1                                                                             | ... | 0  | 12 |
| Wis o Rāmin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each                                                                          | ... | 1  | 14 |
| Zafarnāmāh, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 1/ each                                                      | ... | 6  | 6  |

## ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 1c/ each ... 20 0
2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 1/ per No. ; and from 1870 to date @ 1/3 per No.
3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1896 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/3 per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. 1, No. 1, 1905, @ 1s per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members.
5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0  
A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., J.A.S.B., 1878) ... 4 0  
Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., J.A.S.B., 1868) ... 2 0  
Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., J.A.S.B., 1875) ... 4 0
6. Anis-ul-Musharrāhin ... 3 0
7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 0
8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
9. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 16/ each ... 32 0
10. Jawāmlu-l-'ilm ir-riyyāfi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
11. Khizānatu-l-'ilm ... 4 0
12. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 2c/ each ... 40 0
13. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
14. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
15. Tibetan Dictionary, by Csoma de Kőrös ... 10 0
16. Ditto Grammar ... 8 0
17. Kacmiracabdām ta, parts I and II @ 1/3/ ... 3 0
18. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
19. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmir, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0

Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

7-9-05.

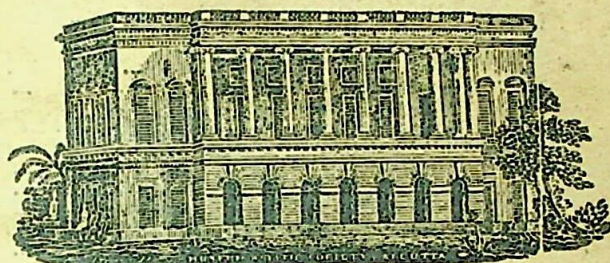
BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-P.



BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1132.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,  
WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS II.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJĪ, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,
1905.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,

15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO

HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk * cannot be supplied—some of the Fasciculi being out of stock.*

BIBLIOTHECA INDICA.

Sanskrit Series.

Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/6 each	...	Rs.	1	8
Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2	0	12
* Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/7 each	4	2
Āitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-5 @ 1/5	7	8
Aphorisms of Sāṅdilya, (English) Fasc. 1	0	12
Aśtasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/5 each	2	4
Acavavāidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5 each	1	14
Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/7 each	9	0
Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2	0	12
Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/5 each	1	2
Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5	1	14
Praddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/7 each	1	8
Praddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/7 each	2	4
Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3	1	2
Ātadusani, Fasc. 1-2	0	12
Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/1 each	8	0
Ātapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7,...	6	6
Ātasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ 1/5 each	3	12
* Caturvarga Chintāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III. Part I, Fasc. 1-18 Part II, Fasc. 1-10 @ 1/5 each; Vol. IV, Fasc. 1-4	21	6
Ālokavartika, (English) Fasc. 1-5	3	12
* Ārauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/6 each	4	8
Ditto Āṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/5 each; Vol 4, Fasc. 1	6	0
Āri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/5 each	1	2
Dan Kriya Kaumudi, Fasc. 1-2	0	12
Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...	2	10
Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...	0	6
Kāla Mādhyama, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/5 each	1	8
Kāla Viveka, Fasc. 1-6	2	4
Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12 each	4	8
Kathā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12 each	10	8
Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/5 each	3	6
Lalita-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each	2	4
Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/6 each...	4	2
Mahā-bhāṣya-pradīpodyāta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ 1/5 each	9	0
Manuṣikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/7 each	1	2
Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12 each	6	12
* Mīmāṃsā Darśana, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/5 each	4	14
Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/7	2	4
* Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/6 each	3	0
Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/5	2	10
Nityacarapradīph, Fasc. 1-6	2	4
Nyāyabinduṣikā, (Text)	0	10
Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/5 each	3	6

प्रजनिष्यते तथा प्रजनिष्यन् ऽइत्यथ तुभ्य मिति
सूर्य्यं मय यदेव ह्यमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं
पुवत ऽइति तदेभ्य इद मप्येतर्हि तथैव जुह्वत्य-
ग्नय ऽएव सायं सूर्याय प्रातरग्नय यदेव ह्यमानस्य
व्यश्नुते तदेवैतस्य योऽयं पुवते ॥ १७ ॥

ते ह्युत्वा देवाः । इमां प्रजातिं प्राजायन्तु
येषा मियं प्रजातिरिमां विजितिं व्यजयन्तु येय मेषां
विजितिरिम मेव लोक मग्निरजयदन्तरिक्षं वायु-
र्दिव मेव सूर्यः स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्ये-
तां हैव प्रजातिं प्राजायते या मेतु ऽएतत् प्राजा-
यन्तैतां विजितिं विजयते या मेतु ऽएतद्व्यजयन्तैतैरु
हैव सुलोको भवति यु एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
तस्माद् वा ऽअग्निहोत्रं होतव्यम् ॥ १८ ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२.४.] ॥

एव माधानपुनराधाने विधाय तन्निष्पन्नाना मग्नीनां
फलवत्कर्मार्थत्वात् तत्साध्यं सायम्प्रातरनुष्ठेय मग्निहोत्राख्यं *
कर्म विधिस्तुष्टदर्थं साख्यायिका माह — “प्रजापतिर्ह वा
इत्यादिना ॥ १ ॥

* ‘तत्साधनचतुष्टय मग्निहोत्राख्यं’—इति च ।

“तद्वा इति । अग्रे जातत्वात् अग्निः ; स एवाग्निरिति पारोक्ष्येणोच्यत इति नामनिर्वचनं कृत्वा प्रकारान्तरेणापि निरू-
यात् । “स जात इति । ‘अग्रे’ ‘एति’ गच्छतीति अग्निः ।
‘अस्य’ अग्नेः साधिका ‘अग्निता’ इत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं साय मग्निहोत्रदेवताया अनेकृत्यत्ति मभिधाय, होम
इत्यस्योत्पत्तिं प्रतिपादयति — “स ऐच्छतेत्यादिना । “अजी-
जन इति । अजनय मित्यर्थः । मया सृष्टोऽग्निरित्यन्नादः, तस्य
आग्नेर्न भवितव्यम् । न च मत्तोऽन्यदन्न मिह विद्यते, यदन्न
मसावद्यादित्यर्थः । ननु भूम्या मोषधयो विद्यन्ते, तदेव तस्यान्नं
भविष्यतीत्यत आह — “कल्वालीकृतेति * । ‘तर्हि’ तस्मिन्
समये, यदह्न्येव पृथिवी बभूव, तत ओषधिवनस्पतयः । एवं
सति ‘तत्’ वक्ष्यमाण मन्नम् ‘एव’ ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘मनसि’
बभूव ॥ ३ ॥

“अथैन मिति । ‘अथ’ अस्मिन्नवसरे ‘अग्निः’ ‘एनम्’
‘व्यात्तेन’ प्रजापतिविवृतेन † मुखेन भक्षयितुं पर्यावृत्तो बभूव ।
तस्माद् ‘भीतस्य’ प्रजापतेः । “सो महिमेत्यादि, स्पष्टम् । “स
आत्मन्येवेति । ‘सः’ प्रजापतिः ‘आत्मनि’ स्वगरीरे ‘एव’
आहुतिद्रव्यं सम्पादयितुं मिच्छां कृतवान् । कृत्वा च ‘सः’
‘उदमृष्ट’ हस्ताभ्यां स्वाङ्गस्योच्चारजनं कृतवान् । (यस्मादेवं ‡)
तस्मादेव कारणात् ‘इदञ्च इदञ्च’ उभय मपि पाणितलम् ‘अलो-

* “अयनीतवालाः काव्वालाः” — इत्यादि हरिश्चामी । तदेवं
खल्वालाः खल्वाटाः काव्वाला इति समानार्थाः ।

† ‘व्यात्तेन=विवृतेन’—इति च ।

‡ नास्थेयतत् पदद्वयं च-पुस्तके ।

मन्त्रं' रोमरहितं दृश्यते । उन्मार्जनेन 'तत्राहुतिं' 'विवेद' लेभे ।
तां विशिनष्टि — "घृताहुति मिति । "उभयं हेति । यदेतत्
पयोघृतसाध्य माहुतिद्वयम् 'तत् उभयम्' अपि 'पय एव' ; घृतस्य
पयोविकारत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

"सा हैन मित्यादि । 'नाभिराधयाञ्चकार' अभिराधं त्वं
न चकारेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः— "केश मिश्रेवेति । कीटादि-
द्रूषिता आहुतिर्न त्वस्मिन्, प्रत्युत बीभत्सा मेव जनयति । एवं
प्रजापतिशरीरजं द्रव्य माहुतियोग्यं नासौदित्यर्थः । 'तां'
चाहुतिं तस्मिन्नग्नौ 'व्यीक्षत्' अत्यजत् । इदं माहुतिद्रव्यम्
'ओषं' पक्वं कृत्वा 'धय' पितृ 'इति' । एव मग्नौ प्रक्षिप्तात्
तस्मात् 'ओषधयः' पृथिव्यां समभवन् । एव मोषधिरूपस्य
द्रव्यस्योत्पत्तिं सूक्ता प्रातराहुतिदेवतायाः सूर्यस्योत्पत्तिं माह —
"स द्वितीय मिति । पूर्ववद् योज्यम् ॥ ५ ॥

"सा हैन मित्यादि । "स व्यचिकित्सदिति । अस्यां द्विती-
यस्या माहुतौ स प्रजापतिः विचिकित्सां कृतवान्, — किं मिदं
मदङ्गाज्जातं द्रव्यं जुह्वानि, किं वा नेति । एवं संशयापन्ने
अग्निमयात् प्राङ् निर्गतो वायूपः स्वकीयो 'महिमा' 'अभ्युवाद'
अभिलष्योक्तवान्, — 'संशयं मा कार्षीः होमं कुरु' इति । "स्वो
वा इति । यस्मात् 'स्वो महिमा आह', तस्मात् 'सः' प्रजापतिः
'स्वाहित्ये' 'तत्' द्रव्यम् 'अजुहोत्' । "तत एष इति । तस्मा-
द्धीमात् 'एषः' सूर्यः उदितः, उत्पन्नी बभूव । पवमानो वायुरपि
तत एवोत्पन्नः । एव मनयोरुत्पन्नयोः सतीः सः 'अग्निः' (अपि *)

प्रजापतिसकाशात् भक्षणात् उपरतः पराङ्मुखः पर्यावृत्तो
बभूवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

“स हुत्वेत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिराहुत्या सूर्यादिलक्षणां
प्रजा सुत्पादयत् ‘अक्षयतः’ भक्षणं करिष्यतः ‘अग्नेः’ ‘आत्मानम्’
‘अत्रायत’ । तस्माद् विदुषोऽप्येवं भवतीत्याह—“स य इति ॥ ७

“स यत्र स्त्रियत इति । अग्निहोत्रहोमं कुर्वन्, देहावसाने
‘अग्नी’ प्रक्षिप्तः मातापितृशरीरादिवत् तस्मादग्नेः सकाशात्
दिश्यशरीरोऽभिनव उत्पद्यते । यस्त्वग्निहोत्रं न जुहोति, स त्वेवं
नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

“तदा एतदित्यादि । विचिकित्सापुरस्सर माहुत्यनुष्ठानेन
प्रजापतेः श्रेयःप्राप्तिर्जाता, ‘एवञ्चिद्’ इदानीन्तनोऽपि यजमानो
विमर्शपूर्वकानुष्ठानेन श्रेयः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अग्निहोत्रहवणीं सुक् विकङ्कतवृक्षेण निर्मातव्येत्यभिप्रेत्य *
तस्योत्पत्तिं साह— “स हुत्वेति । प्रागुक्त अग्निवायुसूर्याणां जन्म
अनुद्य, तद्देदनफलं साह— “तत एत इति । ‘देवानां’ मध्ये
‘वीराः’ प्रवृत्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ होमद्रव्यस्य पयस उत्पत्तिं वक्तुं प्रयमतो गीरुत्पत्तिं
साह— “त उ इति । यथास्मदीयः पिता प्रजापतिः अस्मान्
सृष्टवान् ‘वयं’ तम् ‘अनु’ ‘स्मः’ भवामः । ‘यत्’ यत्र ‘अस्मान्’ ‘अनु’
अनन्तरम् ‘असद्’ भवेत्, जायेत, ‘तद् वयं सृजामहे’ । एवं
प्रतिज्ञाय गां संसृजन्तः हिङ्गारवर्जितेन गायत्रिसाम्ना बहिष्पव-

* १ भा० १० पृ० २२ क०, ५६ पृ० १ टीप्पनी च द्रष्टव्या । ततः का०
श्रौ० ४, १४, ० सू० द्रष्टव्यम् ।

† ‘वक्ष्यन्’—इति च ।

मानेन 'तुष्टुविरे' सुवन्तः । 'तस्य' स्तोत्रदेशस्य 'यत्' परिश्रयणं
'स समुद्रः' अभवत् । यच्च 'स्तावः' स्तोत्रदेशः, सा 'पृथिवी'
जातेत्यर्थः ॥ ११ ॥

["ते सुत्वेति ।] "पुनरेम इति । पुनरागच्छाम इति ।
स्तोत्रदेशात् प्रागुक्तस्य * तस्मात् स्तोत्रात् 'सभूतां' 'गां' 'ते' 'देवाः'
प्राप्नुवन्त्यर्थः । "सा हैनानित्यादि । निगदसिद्धम् ॥ १२ ॥

"ते होचुरित्यादि । 'भद्रम्' उक्तृष्टं खलु 'इदम्' 'अजी-
जनामहि' अजनयाम । तदेतद् भद्रत्वं माह — "यज्ञो हीति ।
यस्माद् गोर्व्यतिरेके सा शरष्टतादिहविषोऽभावात् यज्ञो न
विस्तौर्यते, तत इयं गौः यज्ञात्मिका । अन्नरूपत्वेनापि स्तौति —
"अन्नं हीति ॥ १३ ॥

तासां गवां यज्ञस्य च साधारण मेकं नामोपदिश्य प्रशंसति—
"तद्वा इति । गां यज्ञं च एतदुभयं सुकृष्टं पुण्यरूपं मिति
अनेनाभिप्रायेण 'परिहरेत्' रक्षेत् । तस्य परिहरणस्य फलं
माह — "बह्वो हेति । 'उपनासुकः' उपनमनशीलः, यज्ञ एव
मुपगतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

पयस उत्पत्तिं माह — "ता मु हेति । 'अभिदध्यौ' अभिधानं
कृतवान् । कथं मिति — 'एतया' गवा 'मिथुनौ' भवानीति ।
"तां सञ्चभूवेत्यादि, स्पष्टम् ॥ १५ ॥

एवं पयोरूपस्य हविष उत्पत्तिं मभिधाय, अग्निसूर्यवाटूनां
मध्ये कस्मै प्रथमं देयं कस्मै चानन्तरं मिषेतद् विभजति — "ते
होचुरिति । 'ते' देवाः 'जुहुः' अस्मदीयः पिता प्रजापतिः यथा
अनुहोत्, एव मिदं वयं 'जुह्वामहे' । किञ्चेमे यजमानाः 'नः'

अस्माकं मध्ये 'कस्मै' 'प्रथमाय' 'होष्यन्ति ?' 'इति' उक्तवन्तः ।
 "सह्य मित्यादि, निगदसिद्धम् । "तेन सम्पादयाञ्चकुरिति ।
 'ते' देवाः परस्परं सम्पन्नाः ऐकमत्यं गता न बभूवुरित्यर्थः ॥ १६

"स होवाचेति । "अग्निरनुष्ठेति । एवं विश्वदमानेषु
 आगर्गेषु स प्रजापतिरेव मुक्तवान्— 'अग्नेः प्रथमं होतव्यम्' ।
 'अग्निर्हि' 'अनुष्ठया' अनुष्ठानेन प्रयत्नेन स्वकोयं 'रेतः' गवि
 पयोरूपेण निर्वर्त्तयन् * ; 'तथा' यूयमपि । तस्मादग्नेरनन्तरं मेव
 'प्रजनिष्यध्वे' प्रजाता भवथ । तस्मादग्नय एव प्रथमं होतव्य
 मित्युक्त्वा, प्रजापतिः 'अथ' अनन्तरं 'तुभ्यं' होतव्यम् 'इति'
 'द्वयम्' प्रति उक्तवान् । ह्यमन्त्य च पयसः 'यद्' 'व्यश्रुते'
 विशुद्धमाप्नोति †, स एव वायोर्भाग इति वायुं प्रत्यब्रवीत् ।
 'तदेभ्य इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतिनोक्तम्, तस्मादेव कारणात्
 तत् पय एव ‡ 'अग्नये सायं जुह्वति', 'प्रातः सूर्याय' इति
 विभागः सम्पन्नः ॥ १७ ॥

* 'निवर्त्तयति'—इति च ।

† 'मेति'—इति च ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन "क्षीरहोमी"—इति औ० सू० ४. १०. १६ ।
 'वाग्यतो दोहप्रभृत्या होमात् क्षीरहोता चेत्'—इति च तत्रैव ४. १४.
 ६१ सूत्रम् । दोहप्रकारस्त्वित्पूर्वं मेवोपदिष्टः (१ सू०) । "पयसा स्वर्ग-
 कामः पशुकामो वा, यवावा ग्रामकामः, तडुलैर्वलकामः, दध्नेन्द्रियकामः,
 अनेधिअयणं च श्रुतिसामर्थ्याभ्याम्, घृतेन तैजस्कामः, संवत्सरं
 जुहुयादेतेषा मेकैकेन कामसंयोगे"—इति च तत्रैव काम्यकर्मसु द्रव्य-
 विधायक सूत्राणि (४. १५. २१—२०.) ।

“ते हुत्वा देवा इति । ‘ते’ च ‘देवाः’ एवं ‘हुत्वा’ प्रजात्यादि
फलं प्राप्नुवन् । एतत् ज्ञात्वा इदानीन्तनोऽपि यजमानो ‘यः’
‘अग्निहोत्रं जुहोति’, सः ‘एवाम्’ अग्निसूर्यादिभिः प्राप्तां प्रजा-
तिम् । इतः रुगमम् ॥

एतावता अग्निहोत्राख्य कर्मणः पथो द्रव्यम्, तच्च साय-
म्प्रातःकालगोरनुष्ठेयम् * । तत्र सायङ्कालीनस्य अग्निर्देवता † ,
प्रातःकालीनस्य सूर्यः ‡ , इत्येतत् प्रतिपादितं भवति ॥ १८ ॥
३ [७. ४.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।
रत्नोत्सां रुक्मत्राजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,
व्यश्राणीद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

* तच्चोक्तम् का० श्रौ० सू० ४. १३. २ द्रव्यम् । काम्यकालविधयस्तु
उपरिष्ठात् पञ्चमकण्ठी-टीप्पन्यां द्रव्याः ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. २ ।

धान्याद्रिं धन्यजन्मः तिलभवः मतुलः खर्णं जं वर्णमुख्यः,
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृतं मज्जो राजतं राजपूज्यः ।
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मः लवणजः मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिः सक्तः सुदा पातसास्त्रिङ्गणार्थः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्तक-
 श्रीहरिहरसहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 द्वितीयकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

* इहल्यपठमेदास्तु पुरस्ताद् द्रष्टव्याः ।

[अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।]

सूर्यो ह वा ऽग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्नौ
ऽआहुतेरद्वैत्तम् । सूर्योऽग्निहोत्रम् । ॥ १ ॥

स यत्साय मस्तमिते जुहोति । य इदं तस्मि-
न्निह सति जुहवानोत्यथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति
य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीति तस्माद्वै सूर्यो
ऽग्निहोत्र मित्याहुः ॥ २ ॥

अथ यदस्तमेति । तदग्नावेव योनौ गर्भो
भूत्वा प्रविशति तं गर्भं भवन्त मिमाः सूर्वाः
प्रजा अनु गर्भा भवन्तीति ता हि श्रेरे सञ्जानाना
अथ यद्वातिस्तिर एवैतत्करोति तिर इव हि
गर्भाः ॥ ३ ॥

स यत्साय मस्तमिते जुहोति । गर्भं मेवैत् सन्त
मभिजुहोति गर्भं सन्त मभिकरोति स यद्गर्भं
सन्त मभिजुहोति तस्मादिमे गर्भा अनुश्रन्तो
जीवन्ति ॥ ४ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । प्रजनयत्येवैन
मेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्व वै

नोदियाद्युदस्मिन्नेता माहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वा ऽएता
माहुतिं जुहोति ॥ ५ ॥

स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येत । एवञ्च रात्रेः
पाप्मनो निर्मुच्यते यथा ह वा ऽअहिस्त्वचो निर्मु-
च्येतैवञ्च सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वा-
नग्निहोत्रं जुहोति तदेतस्त्वैवानु प्रजाति मिमाः सर्वाः
प्रजा अनु प्रजायन्ते वि हि सृज्यन्ते यथार्थम् ॥ ६ ॥

स यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीय मु-
हुरत्येते वै विश्वे देवा रश्मयो यो ऽय यत्परं भाः प्रजा-
यति सर्वा स इन्द्रो वै तदु ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं
जुहोती गृहानागच्छन्ति स यस्यानुवृत्त मागच्छन्ति
तस्माद् देवा अपप्रयन्ति तद्वा ऽअसौ तद् व्यध्यते
यस्माद् देवा अपप्रयन्ति तस्यानु व्यङ्घिं यश्च वेद यश्च
नानुवृत्त मध्यस्त मगादित्याहुः ॥ ७ ॥

अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् । आहवनीय
मुहुरति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपकृप्तेनोपा-
सीतैवं तत्स यस्यानुवृत्त मागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रवि-
शन्ति तस्याहवनीये निविशन्ते ॥ ८ ॥

स युत्साय मुस्तमिते जुहोति । अग्नावेवैभ्य
एतत्प्रविष्टेभ्यो जुहोत्यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोत्यग्ने-
तेभ्य एवैभ्य एतज्जुहोति तस्मादुदितहोमिनां
व्विच्छिन्न मग्निहोत्रं मन्यामह ऽहुति ह स्माहासुरि-
र्यथा शून्य मावसथ माहुरेदेवं तदिति ॥ ८ ॥

इयं वा ऽह्वदं जीवनम् । मूलि चैवामूलं च त-
दुभयं देवानां सन्मनुष्या उपजीवन्ति पशवो मूला
ओषधयो मूलिन्यस्ते पशवो मूला ओषधीर्मूलिनी-
र्जग्ध्वापः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति ॥ १० ॥

स युत्सायमुस्तमिते जुहोति । अथ रसस्य जी-
वनस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सुदुपजीवाम
हुति स यत्ततो रात्राश्नाति हुतोच्छिष्टं मेव तन्नि-
रुवत्तवत्यश्नाति हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वद-
शिता * ॥ ११ ॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति । अथ रसस्य जीव-
नस्य देवेभ्यो जुह्वानि यदेषा मिदं सुदुपजीवाम
हुति स यत्ततोऽह्नाश्नाति हुतोच्छिष्टं मेव तन्निरु-

वतबल्यग्राति हुतोच्छिष्टस्य होवाग्निहोत्रं जुहुद-
शिता ॥ १२ ॥

तदाहुः । स मेवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्ते ऽग्निहोत्रं मेव
न सन्तिष्ठतेऽपि द्वादशसंवत्सरं मन्त्रवदेवायैतदेवानन्तः
सायं हि हुत्वा व्वेदं प्रातर्होष्यामीति प्रातर्हुत्वा वेदं
पुनः सायं होष्यामीति तदेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं
तस्यानुपस्थितिं मन्त्रानुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्ते
ऽनुपस्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एव
मेतदनुपस्थितं मग्निहोत्रं व्वेद ॥ १३ ॥

तद्गृध्याधिग्रयति । शृतं मसदिति तदाहुर्यक्ष्य-
दन्तं तर्हि जुहुयादिति तद्वै नोदन्तं कुर्यादुप ह
दहेत्यदुदन्तं कुर्यादुप्रजज्ञि वै रेत उपदग्धं तस्मा-
न्नोदन्तं कुर्यात् ॥ १४ ॥

अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्त्रे * वैतदग्ने रेतस्तेन
व्येन शृतं युदेनदग्नावधिग्रयन्ति तेनो ऽएव शृतं तस्मा-
दधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥ १५ ॥

तद्वज्रज्योतयति । शृतं व्वेदानीत्यथापुः प्रत्या-

* 'ता'—इति ग, घ ।

† 'यन्त्रे'—इति क, ग ; डा० वेचरेणापि दृष्टः ।

नयति शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्व्वत्वायेदं हि
 यदा वर्षत्यथौषधयो जायन्तऽओषधीर्जग्ध्वापः पीत्वा
 तत एष रसः सुम्भवति तस्माद् रसस्यो चैव सर्व्व-
 त्वाय तस्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुद-
 लोक माञ्जोतयितवै ब्रूयाच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव
 सर्व्वत्वाय * ॥ १६ ॥

अथ चतुरुन्नयति । चतुर्वाव्विहितुं होदं पयो-
 ऽथ समिध मादायोदाद्रवति समिधहोमाथैव सोऽनुप-
 साद्य पूर्वा माहुतिं जुहोति स यदुपसादयेद्यथा
 यस्माऽअशन माहरिष्यन्त्यात्तदन्तरा निदध्यादेवं तदथ
 यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशन माहुरेत्तस्मा
 ऽआहृत्यैवोपनिदध्यादेवं तदुपसाद्योत्तरः नानाव्वीर्ये
 ऽएवैने ऽएतत् करोति मुनश्च ह वै व्वाक्
 चैते ऽआहुती तन्मुनश्चैवैतद्वाचं च व्यावर्तयति
 तस्मादिदं मुनश्च व्वाक् च समान मेव
 सन्नानेव ॥ १७ ॥

स वै हिरग्नौ जुहोति । हिरुपमाष्टिं द्विः
 प्रा प्राति चतुरुन्नयति तद्दश दशाक्षरा वै व्विराड् विराड्

वै यज्ञस्तुद्विराज मेवैतद्यज्ञं मभि सुम्पादयति ॥ १८ ॥

स यदग्नीं जुहोति । तद्देवेषु जुहोति तस्मा-
देवाः सन्त्यथ यदुपमाष्टिं तत्पितृषु चौपधीषु च
जुहोति तस्मात्पितरश्चौपधयश्च सन्त्यथ यदुत्वा
प्राप्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः
सन्ति ॥ १९ ॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः । पराभूता वै
ता एवमेवैतद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्तु यज्ञमुख
ऽन्नाभजति तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ता यन्मनुष्यान्नु
पशवः ॥ २० ॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः । न वै यज्ञ इव मन्तवै
पाकयज्ञ इव वा ऽद्वितीदं हि यदन्यस्मिन् यज्ञे स्तुच्यव-
द्यति सर्वं तदग्नीं जुहोत्यथैतदग्नीं हुचोत्सृयाचामति
निर्लेढि तदस्य पाकयज्ञखेवेति तदस्य तत्पशव्यं रूपं
पशव्यो हि पाकयज्ञः * ॥ २१ ॥

सैषैकाहुतिरेवाग्रे । या मेवामूं प्रजापतिरजुहो-
दथ यदेतदु एतत्पञ्चेवाध्रियन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्त-
स्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥ २२ ॥

सा या पूर्वाहुतिः । साग्निहोत्रस्य देवता तस्मा-
त्तस्यै जुहोत्यथ योत्तरां स्विष्टकृत्वा जनमेव सा
तस्मात्ता मुत्तरार्द्धे जुहोत्येषा हि दिक् स्विष्टकृत-
स्तन्मिथुनायैवैषा द्वितीयाहुतिर्हूयते दून्ध्वं हि मिथुनं
प्रजननम् ॥ २३ ॥

तद् इयमेवैते ऽआहुती । भूतं चैव भविष्यच्च
जातं च जनिष्यमाणं चागतं चाशाद् चायु च प्रवृश्च
तदयमेवानु * ॥ २४ ॥

आत्मैव भूतम् । अद्या हि तद्यद्भूतमुद्धो तद्यदात्मा
प्रजेव भविष्यदनद्या हि तद्यद्भविष्यदनद्धो तद्यत्
प्रजा † ॥ २५ ॥

आत्मैव जातम् । अद्या हि तद्यज्जातमुद्धो तद्य-
दात्मा प्रजेव जनिष्यमाणं मनद्या हि तद्यज्जनिष्य-
माणं मनद्धो तद्यत् प्रजा ‡ ॥ २६ ॥

आत्मैवागतम् । अद्या हि तद्यदागतमुद्धो तद्य-
दात्मा प्रजैवाशानद्या हि तद्यदाशानद्धो तद्यत्
प्रजा § ॥ २७ ॥

आत्मैवाद्य । अद्या हि तद्यदद्याद्धो तद्यदात्मा

प्रजैव शुक्लोऽनङ्गा हि तद्यच्छोऽनङ्गो तद्यत्
प्रजा * ॥ २८ ॥

सा या पूर्वाहुतिः । सात्मानमाधे हूयते तां
मुन्त्वेण जुहोत्यङ्गा हि तद्यन्मुन्तोऽङ्गो तद्यदात्मा-
ऽथ योत्तरा सा प्रजा मभि हूयते तां तूष्णीं जुहोत्य-
नङ्गा हि तद्यत्तूष्णीं मुनङ्गो तद्यत् प्रजाः † ॥ २९ ॥

स जुहोति । अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे-
त्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति तत्स-
त्येनैव हूयते यदा ह्येव सूर्याऽस्त मेत्यथाग्निर्ज्योति-
र्यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्यातिर्यद्वै सत्येन हूयते तद्
देवान् गच्छति ॥ ३० ॥

तदु हैतुदेवारुणये ब्रह्मवर्चसुकामाय तद्भानू-
वाचाग्निर्व्वर्चो ज्योतिर्व्वर्चः सूर्यो व्वर्चो ज्योतिर्व्वर्च
इति ब्रह्मवर्चसी हैव भवति य एवं विद्वानग्नि-
होत्रं जुहोति ॥ ३१ ॥

तद्वस्येव प्रजुननस्येव रूपम् । अग्निर्ज्योति-
र्ज्योतिरग्निः स्वाहुति तदुभयतो ज्योती रेतो
देवतया परिगृह्णात्युभयतः परिगृहीतं वै रेतः

प्रजायते तदुभयत एवैतत्परिगृह्य प्रजनयति ॥ ३२ ॥

अथ प्रातः । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः
स्वाहेति तदुभयतो ज्योति रेतो देवतया परिगृह्णात्यु-
भयतः परिगृह्योतं वै रेतः प्रजायते तदुभयत एवै-
तत्परिगृह्य प्रजनयति तत् प्रजननस्य रूपम् * ॥ ३३ ॥

तदु होवाच जीवलश्चैलकिः । गर्भं मेवारुणिः
करोति न प्रजनयतीति स एतेनैव सायं
जुह्यात् ॥ ३४ ॥

अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः
स्वाहेति तद् वहिर्द्वा † ज्योती रेतो देवतया करोति
वहिर्द्वा ‡ वै रेतः प्रजातं भवति तदेनत् प्रज-
नयति ॥ ३५ ॥

तदाहुः । अग्नावैतत्सायं सूर्यं जुहोति §
सूर्ये प्रातरग्नि मिति तद्वै तदुदितहोमिना मेव
यदा ह्येव सूर्योऽस्त मेल्यथाग्निर्ज्योतिर्यदा सूर्य
उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिर्नास्ति सा परिचक्ष्य मेव
परिचक्षा यत्तस्यै नाद्धा देवतायै ह्वयते याग्नि-

* 'रूपम्'—इति घ, ङ । †, ‡ 'वहिर्द्वा'—इति घ, ङ ।

§ 'जुहोति'—इति घ, ङ ।

होत्रस्य देवताग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति
तत्र नाग्नये स्वाहेत्यथ प्रातः सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः
सूर्यः स्वाहेति तत्र न सूर्याय स्वाहेति ॥ ३६ ॥

अनेनैव जुहुयात् । सजूर्देवेन सवित्रेति
तत्सवितृमत्प्रसवाय सजू रात्रेन्द्रवत्येति तद्रात्र्या
मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि यज्ञस्य
देवता जुषाणो ऽग्निर्व्वेतु स्वाहेति तदग्नये प्रत्यक्षं
जुहोति ॥ ३७ ॥

अथ प्रातः । सजूर्देवेन सवित्रेति तत्सवितृ-
मत्प्रसवाय सजूरुषसेन्द्रवत्येत्यक्तेति वा तदक्ला
वोषसा * वा मिथुनं करोति सेन्द्रं करोतीन्द्रो हि
यज्ञस्य देवता जुषाणः सूर्यो व्वेतु स्वाहेति तत्सू-
र्याय प्रत्यक्षं जुहोति तस्मादेव मेव जुहुयात् ॥ ३८ ॥

ते होचुः । को न इदं होष्यतीति ब्राह्मण
एवेति ब्राह्मणेदं नो जुहुधीति किं मे ततो
भविष्यतीत्यग्निहोत्रोच्छिष्टमेवेति स यत् सुचि परि-
शिनष्टि तदग्निहोत्रोच्छिष्टं मथ यत् स्थाल्यां यथा
परीणहो निर्व्वपेदेवं तत् तस्मात्तद्य एव कश्च पिबेत्

* 'तदुक्तां वोषसां'—इति घ, ङ ।

तद्वै नुब्राह्मणः पिबेदग्नीं ह्यधिश्रयन्ति तस्मान्नाह्मणः
पिबेत् ॥ ३६ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सायम्प्रातर्होमयोः * कालविशेषं विधित्सुरग्निहोत्रम् सूर्या-
क्षना प्रशंसति—“सूर्यो हिति । तदुपपादयति—“एतस्या
इति । प्रजापतिना प्रथमं हुताया इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेण सूर्यात्मकतां ब्रुवन् सायम्प्रातर्होमयोः काल-
विशेषं विधत्ते—“स यदिति । ‘यः’ यजमानः ‘इह’ अग्नी
‘तस्मिन्’ सूर्ये ‘सति’ ‘इदं’ हविः ‘जुह्वानि इति’ मन्यते, सः
साय मग्निहोत्र मस्तमिते † कुर्यात्, प्रातर्होमञ्चानुदिते ‡ ।
अनुदितो हि सूर्योऽग्निनेकीभूतो वर्त्तते ; “अग्निर्वादित्यः
सायम् प्रविशति”—इति § श्रुतेः । यस्मादेवं अग्निहोत्रं सूर्य-
सम्बद्धम्, तस्मात् तादात्म्येन सुतिः ॥ २ ॥

रात्रौ सूर्यस्थान्यवस्थानं प्रतिपादयति—“अथ यदिति ।
सूर्यस्य गर्भभाव मनु रात्रौ ‘सर्व्वः’ प्रजाः’ ‘गर्भाः’ एव ‘भवन्ति’ ।

* “उद्धरेति यजमानो ब्रूयात् सायम्प्रातयोरग्निहोत्रे”—इति का०
श्रौ० सू० ४. १३. १ ।

† “अस्तमिते जुहोति”—इति का० श्रौ० सू० ४. १४. ६ ।

‡ “प्रातर्जुहोत्यनुदिते”—इति का० श्रौ० सू० ४. १५. १ ।

§ ते० ब्रा० २. १. ३. ६ ।

तासां गर्भसाम्य माह—“ईलिता हीति । रात्रौ हि सर्वाः प्रजाः ‘सञ्ज्ञानानाः’ समान मेकविधं ज्ञानं प्राप्ताः ‘ईलिताः’ सुता दृष्टाः ‘शिरते’ । “लोपस्त आत्मनेपदेषु”—इति * त-लोपः । पुनरपि गर्भसाम्य माह—“अथ यदिति । गर्भरूपेणाग्नाववस्थितं सूर्यं ‘रात्रिः’ ‘तिर एव’ तिरोहित माच्छादितं करोति । यन्मादेवं तस्मात् असी ‘गर्भः’ ‘तिर इव हि’ । लौकिकगर्भस्य प्रसिद्धिर्हि-शब्देनोक्ता ॥ ३ ॥

एवं गर्भरूपत्वं प्रतिपाद्य अस्तमिते होम सुपपादयति—“स यत्साय मिति । “गर्भं सन्त मिति । अस्तमयात् पूर्वं हि सूर्यस्याकाशेऽवस्थानात् गर्भभावो नास्ति, तदूर्ध्वन्तु अग्नौ गर्भरूपेण प्रविशन्तम् ‘अभि’ होमं कुर्वन् परस्मिन् दिवसे पुनर्जनयितुं वर्धयति । “यद् गर्भं मित्यादि । यस्माद् गर्भभूतस्य सूर्यस्य रात्रावग्निहोत्रहविषा वर्धनम्, तस्मादेवञ्चातीया इतरे गर्भाः ‘अनन्तः’ अशन मकुर्वन्तोऽपि ‘जीवन्ति’ वर्धन्ते ॥ ४ ॥

एवं सायं-होमस्य गर्भवृद्धिहेतुना सभिधाय, प्रातर्होमस्य तज्जननहेतुत्वं सुपपादयन्, तस्य ततः प्रागेवानुदिते कर्त्तव्यता माह—“अथ यत् प्रातरिति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रातराहुते-र्जननहेतुता सुपपादयति—“सोऽय मिति । “तेजो भूत्वेति । आहुत्या वर्धिततेजस्वी भूत्वेत्यर्थः । “शश्वद्व वा इति । नित्य मेवेत्यर्थः † ॥ ५ ॥

* पा० सू० ७. १. ४१. ।

† सन्ति चात्र बहवः काम्यकालविधयः । तद्यथा—“प्रथमास्तमिते पर्युदयं च स्वर्गकामस्य, तमोऽव्यये सायं जुहुयाद् विधति प्रातरायुष्कामस्य, अन्तःपशौ पशुकामस्य सायम्प्रातः, शयाने श्रीकामस्य प्रातः”—इति का० औ० सू० ४. १५. १२-१५ । “शयाने, सुप्ते एव, समस्तलोकेऽप्रमुद्धे”—

उद्यतः सूर्यस्य तेजःप्राप्तिं दृष्टान्तेनोपपादयति—“स यथे-
ति । “रात्रेः पाम्पन इति । रात्रिरूपात् तेजःप्रतिबन्धकात्
पापादित्यर्थः । एवं सूर्यस्याग्निहोत्रहोमात्ययनिर्मीकं प्रतिपाद्य
विदुषोऽपि प्रतिपादयति—“यथा ह वा इति । “वि हि
सृज्यन्त इति । अनुदितहोमान्ते सूर्यस्योदये सन्ति ‘यथार्थ’
यथाप्रयोजनं ‘सर्वाः प्रजाः’ ‘वि सृज्यन्ते’ प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ६ ॥

साय मग्निहोत्रस्याहवनीयविहरण मस्तमयात् प्रागेव कर्त्तव्य
मिति विधि मभिप्रेत्य सिद्धवदनुवदति—“स यः पुरेति । आहव-
नीय मुहरन्तीति । गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणयेदित्यर्थः * । एत-
दुपपादयितुं यजमानगृहं प्रति देवाना मागमन माह—“एते वा
इत्यादिना । ‘एते’ खलु सूर्यस्य ‘रश्मयः’ ‘विश्वे देवाः’, ‘अथ’
‘यत्’ ‘परं भाः’ रश्मीना सुपर्यवस्थितं सूर्याख्यं ज्योतिः ‘स प्रजा-
पतिर्वा इन्द्रो वा’ तत् ज्योतिः प्रजापत्यात्मक मिन्द्रात्मकं च
विकल्पेन भवतीत्यर्थः । तेऽस्तमयात् प्रागवस्थिताः ‘विश्वे देवाः’
अग्निहोत्रिणो यजमानस्य ‘गृहान् आगच्छन्ति’ । ते चागताः
आहवनीयानुद्धरणे सत्याश्रयाभावात् निवर्तन्ते, उद्धृते त्वाहवनीयं
तं प्रविश्य निविशन्त इत्याह—“स यस्यानुद्धृत मित्यादिना † ।

इति तत्र या० दे० । तत्रैव तत् उत्तरं होमायागवस्था अपि बहुविधा
उक्ताः—“प्रथमसमिद्धे धूप्यमाने प्रजासु निहृत्वेव सहस्रान् मत्स्रतः,
भूयिष्ठार्चिषि गृहीत्वेव सहसा, प्रदीप्ततमे श्रीयशस्कामस्य, अर्चिःप्रत्यवाये
मैत्रेयान्न मत्स्रतः, अङ्गारिषु चाकश्यमानेषु ब्रह्मवर्चसकामस्य”—
इति (४. १५. १६-२०) ।

* ‘गार्हपत्यादाहवनीयं प्रणीयोद्धरन्ति’—इति च ।

† “गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरण मनस्तमितानुदितयोः”—इति का०

श्री० सू० ४. १३. ३ ।

“तद्वा अस्मा इति । आगतानां देवानां यदगमनम्, तेन ‘अस्मै’ यजमानाय ‘तद्’ अग्निहोत्रं ‘वृद्धाते’ विगतर्हिकं भवतीत्यर्थः । “तस्यानुश्रुद्धि मिति । ‘तस्य’ अग्निहोत्रस्य ‘वृद्धिम्’ ‘अनु’-लक्ष्य, ‘यश्च’ एवं ‘वेद’, ‘यश्च’ ‘न’ वेद, ते सर्वे अनुष्ठुत माहवनीय मभिलक्ष्य सूर्योऽस्त मगादिति सर्वे * निन्दन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

“अथ यः पुरेति । “आवसथेनोपल्लुप्तेनेति । आवसन्त्य-स्मिन्निति ‘आवसथम्’ आसनम्, तेनोपल्लुप्तेन आयास्यन्तं श्रेयांसं यथोपासीत, ‘एवं’ ‘तत्’ अस्तमयात् प्राक् आहवनीयोद्धरण मित्यर्थः । “निविशन्त इति । “नेर्विशः”—इत्यात्मने-पदम् † ॥ ८ ॥

“स यत् साय मित्यादि । निगदसिद्धम् । तस्मादुदितहो-मिना मित्यादि । यस्मात् सूर्यरश्मिरूपा विश्वे देवा उदयात् प्राक् अनी आसते, उदिते च सूर्ये ततोऽपगच्छन्ति, तस्मात् उदयात् परं प्रातर्होमं कुर्वताम् ‘अग्निहोत्रं’ ‘विच्छिन्नम्’ एव भवति । कथं विच्छिन्न मित्यत ऊर्ध्वं दर्शयति—“यथा शून्य मिति । ‘यथा’ आगतेऽतिथौ गृहादपगते सति ‘शून्यं’ तदावास-स्थानं प्रतिपन्न मिति न तर्पणीयान्नपानादिकम् ‡ ‘आहरेत्’, ‘एवम्’ आहवनीयाद्रश्मिरूपेषु देवेषु ‘तत्’ उदितं सूर्यं प्रति गतेषु तदुद्देशेनाहवनीयहोम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

एतावेवास्तमितानुदितहोमौ प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“इयं वा इद मित्यादिना । “देवानां सदिति । ‘देवानां’ स्वभूतं

* ‘सर्वत्र’—इति कृ ।

† पा० सू० १. ३. १७ ।

‡ ‘प्रतिपंतर्थाग्नयात्रयादिकम् (?)’—इति च ।

सदित्यर्थः । किं तत् ? मूलं किं वा मूलयुक्तम् ? । “एष रस इति । चीरात्मको रस इत्यर्थः ॥ १० ॥

“स यत् साय मस्तमित इति । “अस्य रसस्य जीवन-
स्येति । मूल्यमूलोभयनिष्पन्नस्य सर्वप्राणिजीवनहेतोः चीरात्म-
कस्य * रसस्य भागं प्रथमं ‘देवेभ्यः’ तस्वामिभ्यः ‘जुह्वानि’
पश्चात् तदुपभुक्तशेषैः सर्वे वयम् ‘उपजीवामः’ इति अनेनाभि-
प्रायेण पयसा ‘अग्निहोत्रं’ जुहुयादित्यर्थः । तस्य प्रयोजन
माह— “स यदिति । ‘ततः’ अतो होमानन्तरं रात्र्याः’ काले
‘यत्’ † अशितं भवति, ‘तत्’ सर्वं ‘हुतोच्छिष्ट मेव’ भुक्तं ‡
भवति । “निरवत्तबलीति । निष्कृष्यावत्तो बलिर्देवभागो
यस्मात्, तन्निरवत्तबलि । एवम् ‘अग्निहोत्रं जुह्वत्’ पुरुषः
‘हुतोच्छिष्टस्यैव रात्रौ ‘अशिता’ भोक्ता भवति ॥ ११ ॥

प्रातर्होमेऽप्येव माह— “अथ यदिति ॥ १२ ॥

अग्निहोत्रहोमस्येतरयज्ञवैलक्षण्येनासंस्थितत्वं प्रतिपादयति
— “तदाहुरिति । ‘अन्ये’ ज्योतिष्टोमादयो ‘यज्ञाः’ ‘सन्तिष्ठन्ते’
समाप्यन्त एव । यत्तु द्वादशसंवत्सरसाध्यं सत्रम्, तदप्यवसान-
वदेव ; अग्निहोत्रं तु ‘अनन्तम्’ । तदेवानेन्यं दर्शयति— “सायं
हीति । अस्वेव मग्निहोत्रस्यासंस्थितयज्ञत्वम्, किं तत
इत्याह— “तस्यानुपस्थिति सन्विति । अनुपस्थिताः परिसमाप्ति-
रहिताः । ‘श्रिया’ ‘अनुपस्थिताः’ अपरिसमाप्तः, सर्वदा तद्युक्त
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

* ‘शरात्मकस्य (?)’—इति च ।

† ‘तत्’—इति च ।

‡ ‘तत्सर्वहुतशिष्ट मेव भुक्तं’—इति च ।

एवं पयसो होमसाधनत्वं विधाय तस्य दोहनानन्तरं मग्नावधिश्रयणं विधत्ते—“तद् दुग्ध्वाधिश्रयतीति * । ‘शृतं मसत्’ पक्वं भवेदित्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । “शृतं पाके”—इति † निपात्यते । कियदवधिकाः ‡ पाका इत्याशङ्क्य तत्रैकं मतं सुपन्यस्यति—“तदाहुरिति । ‘र्यर्हि’ यस्मिन् काले तत् पयः ‘उदन्तं’ पाकवशादुद्गतान्तं बहुदवद् भवति, ‘तर्हि’ तस्मिन् काले तच्छृतं भवति । तदवस्थापन्नेन पयसा ‘जुहुयात्’ इत्यर्थः । तदेतन्निषिध्यते ; पक्षान्तरं माह—“तद्वा इति । ‘उप ह दहेत्’ एव । को दोष इति, तत्राह—“अप्रजज्ञीति । ‘रेतः’ संस्तुतं § ह्येतत् पयः, तच्च ‘उपदग्धम्’, ‘अप्रजज्ञि’ अप्रजननशीलम्, प्रजोत्पादकं न भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

कथन्तर्हि दातव्यं ॥ मित्याह—“अधिश्रित्यैवेति ¶ । अधिश्रयणानन्तरं मेव ‘जुहुयात्’ ; न तु पाकेनोदन्तं कुर्यात् । नन्वशृतस्य होमयोग्यत्वं नास्तीति चेत्, तत्राह—“यन्त्वेवेति । पयसोऽग्निरेतस्त्वं प्रागान्नातम्—“तस्यात् रेतः प्रासिञ्चत्, तत् पयोऽभवत्”—इति ** । तथा चाग्निरेतस्त्वादेव पयः शृतं मेव सर्वदा । अतश्चाम्नावधिश्रयणमात्रादेव तच्छृतं भवतीति तदवस्थेनैव जुहुयादित्यर्थः ॥ १५ ॥

“तदवज्योतयतीति । ज्वालायुक्तेन दर्भाद्येण †† अवाङ्मुखं प्रकाशयतीत्यर्थः । “अथापः प्रत्यानयतीत्यादि, स्पष्टम् । “उद-

* का०, श्रौ० सू० ४. १४. १, २ ।

† पा० सू० ३. १. २७ ।

‡ ‘कियदवधिः’—इति च ।

§ ‘रेतः संस्तुतं’—इति च ।

॥ ‘दग्धम्’—इति च ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १४. ५ ।

** २ प्र० ३ ब्रा० १५ क० ६६ ए०, ६६ पं० ।

†† ‘मार्गेण’—इति च ।

लोको माद्योतयितवा इति । उदकस्य विन्दुराद्योतयितव्य
सावेक्ष्य इति ब्रूयादित्यर्थः ॥ १६ ॥

“अथ चतुर्विधमतीति * । “चतुर्धा विहितं हीति । चतुर्भ्यः
स्तनेभ्यो दुग्धत्वात् चतुर्धा विहितत्वम् । “समिद्धोमार्थवेति ।
समिद्धोऽग्नी होमार्थं सुवीतपयस्कायां † वैकङ्कत्यां स्तुचि एकां
समिधं सुपरि निधाय गार्हपत्यदेशादाहवनीयं प्रति गच्छेदित्यर्थः ।
गत्वा च तस्मिन्नाहवनीयापरभागे होमद्रव्यम् ‘अनुपसाद्य’
अभिधाय, हस्ते धृत्यैव ‘पूर्वा माहुतिं’ जुहुयात् ‡ ।

“होष्यनुपसादयति”—इति § यदुपसादनं तैत्तिरीयके समा-
ज्जातम्, तदनुद्य तस्यायुक्तां दृष्टान्तेनोपपादयति—“स यदुप-
सादयेदिति । “अन्तरा निदध्यादिति । भोक्तुं सुपविष्टस्य
पुरःस्थितं पात्रं मन्त्राद्य मध्ये मार्गे अशनम् अन्नदिकं निदध्यात् ॥
‘एवं’ ‘तत्’ उपसादनमित्यर्थः । अनुपसादनस्यानुगुह्य माह—
“यदनुपसाद्येति ।

एवं प्रथमाहुतिं जुत्वा उपसादनपुरस्सरं मेव द्वितीया
माहुतिं जुहुयादिति विधत्ते—“उपसद्योत्तरा मिति । जुहोती-
त्यनुषङ्गः । एव मनुपसादनोपसादनलक्षणधर्मभेदादेति आहुती
‘नानावीर्यं’ नानासामर्थ्ये एव करोतीत्यर्थः ॥

* का० श्रौ० सू० ४, १४, १० ।

† ‘सुवीतपयस्काय’—इति, च ।

‡ ‘गार्हपत्यदेशादाहवनीयं’ प्रतिदृष्ट्यैव पूर्वा माहुतिं जुहुयात् च ।

§ ते० ब्रा० २, १, ५, ८ । “उन्नीयोपसादयति, पृथिवी मेव प्रीणाति ।
होष्यनुपसादयति, अन्तरिक्षं मेव प्रीणाति । जुहोपसादयति, दिव मेव
प्रीणाति”—इति ।

॥ ‘मध्ये मार्गे’ दिक्षित मन्त्रादिं च निदध्यात्—इति ह । -

एते अनुपसादनोपसादने प्रकारान्तरेण प्रशंसति—“मनश्च ह वा इति । ‘व्यावर्त्तयति’ धर्मभेदेन पृथक् करोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां सङ्ख्यां समुच्चित्य प्रशंसति—“स वै हिरिति । “विराड् वै यज्ञ इति । सर्वप्रकृतिभूत-
स्याग्निष्टोमस्य शतस्तोत्रियायोगेन विराट्सम्बन्धेयं यज्ञस्य विराट्त्व-
मित्यर्थः । अनयोः सुत्योपमार्जनप्राशनयोरविहितयोः स्वीतु-
मयोग्यत्वात् तयोर्विधिरुच्येतव्या ॥ १८ ॥

तेषां होमोपमार्जनप्राशनानां सुपयोग माह—“स यदिति ।
“देवाः सन्तीति । अग्नी प्रक्षिप्तेनाग्निहोत्रहविषोपचितावयवाः
सन्तः सर्वदा विद्यन्त इत्यर्थः । “षिष्टेषु चौषधीषु चेति । तत्र
प्रथमोपमार्जनेन ओषधीनां दक्षिः, द्वितीयेन पितृणां मिति
द्रष्टव्यम् । “ओषधयश्च सन्तीति । सर्वदा विद्यन्त इ-
त्यर्थः ॥ १९ ॥

“या वै प्रजा इति । ‘अनन्वाभक्ताः’ भागरहिताः, ‘ताः
परामृताः’ खलु । अत एव प्राशने सति ‘या इमाः’ सर्वाः प्रजाः
‘यज्ञमुखे’ यज्ञानां मुखभूतेऽग्निहोत्रे यजमान आहुतिभागयुक्ताः
करोतीत्यर्थः । कस्तर्हि पशूनां भाग इति, तच्चाह—“तेनो
हेति । ‘मनुष्यान् अनु’ मनुष्याधीनतया यतो गवाद्याः
‘पशवः तिष्ठन्ति, तेनैव कारणेन मनुष्यद्वारा तेऽपि भागयुक्ता
इत्यर्थः ॥ २० ॥

अस्याग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतं पाकयज्ञत्वमुपन्यस्यति—
“तदु होवाचेति । न खल्वग्निहोत्रहोमो दर्शपूर्णमासादि-
यज्ञवत् * केवलयज्ञत्वेन मन्तव्यः, अयं खलु पाकयज्ञ इव

अतवि । 'इति'-शब्दो वाक्यसमाप्ती । एतदुपपादयति—“इदं
 हीति * । इदं खल्वग्निहोत्रं वक्ष्यमाणरूपम् । तत्र पशव्याव-
 दानादिकं (कर्म) केवलो यज्ञधर्मः ; अग्नौ किञ्चिदुत्वा,
 किञ्चिदवशेषं सुत्पुष्य † वह्निर्निगम्य, आचमननिर्लेहनादिकः
 पाकयज्ञधर्मः ; तस्याग्निहोत्रस्य पाकयज्ञस्य सती रूपम् ।
 अस्त्वेवम्, किं तत इत्याह—“तदस्येति । 'तत्' पाकयज्ञियम्
 'अस्य' अग्निहोत्रस्य 'रूपं' 'पशव्यम्' पशुभ्यो हितम्, पशुप्राप्तिसाधन
 मित्यर्थः ॥ २१ ॥

“सैषेत्यादि । 'अमू' विप्रकृष्टां 'याम्' आहुतिं 'प्रजापतिः'
 ऋष्टिकाले प्रथमम् 'अजुहोत्', 'सैषा' 'एका' अग्निहोत्रस्य
 पूर्वाहुतिः । अनन्तरञ्च 'यदेते' ‡ अग्निवायुसूर्याः 'पश्चा'
 पश्चात् 'इव' 'आभ्रियन्त' अवस्थिताः ॥ २२ ॥

“सा येति । द्वितीया तु खिष्टकृत्स्थानीयेत्याह—“अथ
 येति । “एषा हि दिगिति । 'खिष्टकृतः' खिष्टकृदाहुतेः
 'उत्तरार्धे' यथाक्रमेण “भूतञ्चैव भविष्यच्च”—इत्यादिवक्ष्यमाण-
 इत्यात्मके इत्यर्थः ॥ २३ ॥

“तद् इय मेवेति । “भूत मित्यादि । 'भूतम्' अतीत-
 कालावच्छिन्नम् । 'भविष्यत्' आगामिकालावच्छिन्नम् । एवं
 जातादिषु योज्यम् । “आशा चेति । आशागोचरं प्राप्तव्य
 मित्यर्थः । “अद्य च खद्येति । वर्तमानानागतकालौ । एवं

* का० श्रौ० सू० ४. १४. २७ ।

† 'सुत्पुष्य'—इति छ. 'सुरष्ट्या'—इति च डटो डा०-वेवरेण । 'उत्पुष्य.
 वह्निर्निगम्येति माधवः'—इति या० दे० ।

‡ 'यदेतो'—इति च । 'यदेतो'—इति च डटो डा०-वेवरेण ।

बह्विधं 'तद् इय मेवानु' तन्नागरूपे यथाक्रमे ते आहुती
भवत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ तयोराहुत्योः समन्तकामन्त्रकत्वे विधाख्यं भूतभविष्य-
दादिहन्द्स्यात्मप्रजारूपत्वम्, अक्षानक्षारूपत्वं च दर्शयति—
“आत्मेव भूत मित्यादिना । ‘आत्मा’ स्वयं पिता ‘एव’, ‘भूतम्’
यच्च भूतम्, तत् ‘अक्षा’ ; अनुभूतत्वात् प्रत्यक्षम् । एव आत्मनो
भूतस्य च अक्षत्वसाम्यात् आत्मभूत मिति तादात्म्य मित्यर्थः ।
“प्रजेव भविष्यदिति, प्रतिज्ञा । तदुपपादनम्— “अनक्षा
हीत्यादि । ‘अनक्षा’ अप्रत्यक्षम् ; प्रजाभविष्यतोरप्रत्यक्षत्व-
साम्यात् तादात्म्य मित्यर्थः ॥ २५ ॥

एवम् “आत्मेव जात मित्यादिषु हन्द्धान्तरेषु योजना ॥ २६ ॥

“आत्मेवागत मिति । आत्मप्रजारूपेण अक्षानक्षारूपेण
चाहुती स्तुत्वा ह्यने, स चाक्षारूपः ; मन्त्रोऽपि देवताप्रकाशकत्वात्
तथा ॥ २७ ॥

“आत्मेवाद्वेति । अद्वेति वर्त्तमानकालः, श्व इत्यागामिकालः ॥ २८ ॥

‘सा या पूर्वाहुतिरिति । ‘तां’ पूर्वाहुतिं मन्त्रेण जुहुया-
दित्यर्थः । उत्तराहुतिस्तु भविष्यज्जनिष्यमाणा अनागताद्यात्मक-
प्रजास्थानीया, सा चानक्षारूपा ; अमन्त्रकत्व मपि तथेति ।
तूष्णीं तु भविष्यज्जनिष्यमाणानागताद्यात्मकप्रजास्थानीया, सा
चानक्षारूपा ; अमन्त्रक मपि तथेति तूष्णीं मेव सा होतव्ये-
त्यर्थः * ॥ २९ ॥

कालहयेऽपि पूर्वस्या आहुतेः क्रमेण मन्त्रो दर्शयति— “स

जुहोतीति * । मन्त्रयोः सत्यरूपत्वं सुपपादयितुं मर्यसङ्गाव
भाह—“यदा हीत्यादिना । अस्तङ्गतः सूर्योऽग्निं मेवानु
प्रविशतीति रात्रावग्निर्ज्योतीरूपो भवति । यदेतन्मन्त्रवाक्यद्वयं
तत् समवेतार्थत्वात् सत्यम् ॥ ३० ॥

अनयोः सामन्त्रातर्हीमयोर्ब्रह्मवर्चसकामस्य कर्त्तव्यतोपन्यास-
पुरस्सरं मन्त्रविशेषौ दर्शयति—“तदु हैतदिति । अग्निर्ज्योतिः
सूर्यो ज्योतिरिति चत्वारो वर्चश्शब्दाभिधेयस्य तेजसः प्रतिपादकाः ।
अत एवाभ्यां मन्त्राभ्यां जुह्वतः पुरुषस्य ब्रह्म-तेजः सम्पद्यत इत्यर्थः ।
तदुक्तं कात्यायनेन—“अग्निर्वर्च इति ब्रह्मवर्चसकामस्य”—
इति † ॥ ३१ ॥

“तद्वक्ष्येवेत्यादि । तस्मिन् होममन्त्रे ‘प्रजननस्य’ रूप
मिव ‘रूपम्’ विद्यते । ज्योतिश्शब्दाभिधेयं मध्येऽवस्थितं ‘रेतः’
‘उभयतः’ ‘देवतया’ देवतावाचिपदाभ्यां ‘परिगृह्णाति’ । उभयतः
परिगृहीतत्वं रेतसः प्रजननरूपम् । अतः “अग्निर्ज्योतिः”—
“सूर्यो ज्योतिः”—इति मन्त्रयोः ‡ प्रजननरूपसङ्गावात्
ताभ्यां होमे प्रजासम्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥ ॥ ३३ ॥

“तदु होवाचेत्यादि । एलकस्य पुत्रः ‘ऐलकिः’, ‘जीवलः’
इति तस्य नाम । “गर्भं मेवेति । कालद्वयेऽपि ज्योतिष्-
शब्दस्य देवतावाचिपदगृहीतत्वात् रेतः परिगृहीत मन्तरवस्थितं
गर्भावस्थ मेव भवति ; न तु प्रजारूपेणोत्पद्यत इत्यादिः
तद्दोषोपन्यासः, “स एतेनेत्यादिः, तत्परिहारः ॥

“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इत्येतेनेव § सायं जुहु-

* का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १४. १५ ।

‡ वा० सं० ३. ६. १, २ ।

§ वा० सं० ३. ६. १ ।

यात्, तेन गर्भो धृतो भवति । प्रातःकाले तु “ज्योतिः
सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा”-इत्यनेन * मन्त्रेण होमो
सति रेतोरूपस्य ज्योतिश्शब्दस्य हिङ्गुरणात् अन्तर्गतो गर्भो
वह्निः प्रजोत्पत्तिर्भवति † ॥ ३४ ॥

“अथ प्रातरिति । स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

“तदाहुरिति । “अग्नावेवेतदिति । अग्निर्ज्योतिरिति-
मन्त्रेण जुह्वन् ‘अग्नावेव’ सन्तं ‘सूर्यं’ ‘जुहोति’ ; अतः सूर्यो
ज्योतिरिति ज्योतिश्शब्दोऽग्निवचनः । अतो यथापठिताभ्या
मेव मन्त्राभ्यां होम इत्यभिप्रायः ।

“तदुदितहोमिना मित्यादि । ‘तत्’ उक्तविधानाम् ‘उदित-
होमिना मेव’, नामुदितहोमिनां सम्भवति । कथं मिति चेत्,
उच्यते—सूर्यं ह्यस्तङ्गते ‘अग्निः ज्योतिः’ प्रकाशमानो भवति,
उदिते त्वामेयतेजस्तद्गमात् सूर्यश्च प्रकाशवान् भवति । तस्मात्
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”—इतिमन्त्रनिष्पादस्याग्निहोत्र-
होमस्य अग्नौ पूर्वोक्तरूपं ‡ “गर्भं मेव करोति, न प्रजनयतीति
एवंरूपा निन्दा नास्तीत्यर्थः ।

तदुदितहोमपक्ष एवाश्रयणीय इत्याशङ्क्य § तत्र दोषान्तर
माह—“इयं मेव परिचक्षेति । ‘यद्’ यस्मात् ‘अग्नये स्वाहा’,
‘सूर्याय स्वाहा’ इति ‘तस्यै’ देवतायै प्रत्यक्षं न ह्ययते, किन्तु
“अग्निर्ज्योतिः—सूर्यो ज्योतिः”—इति प्रथमान्तत्वेन सम्प्रदान-

* वा० सं० ३. ६. ५ ।

† का० औ० सू० ४. १५. ११ ।

‡ पुरस्तादिहैव ११३ पृ० ६ पं द्रष्टव्यम् ।

§ “प्रातर्जुहोत्यनुदिते”—इत्येव विधिः का० औ० सू० ४. १५. १ ।

विभक्तेरभावात् देवतात्वस्य परोक्ष मेवास्य पक्षस्य निन्दे-
त्यर्थः ॥ ३६ ॥

एवं निग्यनिन्दां प्रदर्श्य, अनिग्यं पक्षान्तरं माह— अने-
नैवेति । तदुक्तं सूत्रकृता— “प्रदीप्ता * मभिजुहोति अग्नि-
ज्योतिरिति † सजूरिति ‡ वा”—इति § । “तत् सवितृम-
दित्यादि, सुगमम् । “प्रत्यक्षं जुहोतीति । ‘जुषाणः’ हविः
स्वेवमानः ‘अग्निः’ ‘वेतु’ कामयता मिति प्रतिपादनात् अग्नेर्होमः
प्रत्यक्ष इति प्रागुक्तात् पक्षात् वैलक्षण्यं मित्यर्थः । प्रातःकालीन-
मन्त्रेऽप्येवं द्रष्टव्यम् ॥ ३७, ३८ ॥

हुतशिष्टस्य स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणानां पानं विधितुः
ततोऽन्य एव ब्राह्मणोऽग्निहोत्रहोमस्याध्वर्युरिति प्रतिपादयति—
“ते होचुरित्यादिना । “अथ यत् स्थाल्या मिति । अग्निहोत्र-
होमसाधनभूतायां सुचि यत् हुतशिष्टम् ; तस्यैव हिः प्राश्नातीति
प्राशनं विहितम् ; यत् स्थाल्या मवशिष्यते, तत् नाम्निहोत्रो-
च्छिष्टम् । तत्र दृष्टान्तः— “यथा परिणह इति । परितो नहं
परिश्रितं ॥ धान्यपूर्णं शकटस्योपरि स्थापितम् ; यथा तस्माद्विषो
निर्वापयितुं तद्वत् धान्यं न शिष्यते, किन्तु पुनरपि यागान्तरयोग्य
मेव । ‘एवं तत्’ स्थाल्यां पय इत्यर्थः । तथा चाध्वर्योरेव तत्

* ‘प्रदीप्ताया मिति क् ।

† वा० सं० ३. ६. १, २ ।

‡ वा० सं० ३. १०. १, २ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १४. १४ ।

॥ ‘परिवीतं’—इति च । ‘परिश्रितं’—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

पान मिति नियमाभावात् यः कोऽपि ब्राह्मणस्तत्
पिबेदित्यर्थः * ॥ ३८ ॥ ३ [३. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

हितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्.)

एतां ह वै देवता योऽस्ति । तस्मिन्वसन्ती-
न्द्रो यमो राजा नडो नैषिधो ऽनश्नन्त्साङ्गमनो-
ऽसन् पाञ्चवः † ॥ १ ॥

तद्वा ऽएष एवेन्द्रः । यदाहवनीयो ऽथैष एव
गार्हपत्यो यमो राजाथैष एव नडो नैषिधो
यदन्वाहार्यपचनस्तद्यदेतमुहरहर्दक्षिणत आहरन्ति
तस्मादाहुरहरहर्वै नडो नैषिधो यमः राजानं
दक्षिणत उपनयतीति ‡ ॥ २ ॥

* “स्थाल्यां परिशिणष्टि तद् ब्राह्मणः पिबेत्”—इति का० श्रौ० सू०
४. १४. ११ । “नायं ब्राह्मणस्य पाने नियमः, किं तर्ह्यब्राह्मणस्य प्रतिषेधो-
ऽयम्”—इति च तट्टीकायां या० दे० ।

† ‘पाञ्चवः’—इति घ, ङ ।

‡ ‘तीति’—इति घ, ङ ।

अथ य एष सभाया मग्निः । एष एवान-
 श्न त्वङ्गमनः सद्यदेतं मनश्चित्वेवोपमङ्गच्छन्ते तस्मा-
 देषो ऽनश्नन्नथ यदेतद् भस्मोद्धृत्य परावपन्येष एवा-
 सन् पाण्डुसवः स यो ह्येव मेतद्देदैवं मय्येता देवता
 व्वसन्तीति सर्व्वान्हैवैतां लोकान् जयति सर्व्वालोका-
 ननुसञ्चरति ॥ ३ ॥

तेषा मुपस्थानम् । यदेव सायं प्रातराहवनीय
 मुप च तिष्ठत ऽउप चास्ते तदेव तृक्षोपस्थान मथ
 यदेव प्रतिपरित्य गार्हपत्य मास्ते वा श्रुते वा तदेव
 तृक्षोपस्थान मथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्
 तदेव तं मनसोपतिष्ठेत तदेव तृक्षोपस्था-
 नम् ॥ ४ ॥

अथ प्रातः † । अनशित्वा मुहूर्तं सभाया
 मासित्वापि कामं पल्ययेत तदेव तृक्षोपस्थान मथ
 यत्रैव भस्मोद्धृतं मुपनिगच्छेत्तदेव तृक्षोपस्थान मेव मु-
 हास्येता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥ ५ ॥

यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः । अथैष भ्रातृव्य-
 देवत्यो यदन्वाहार्यपचनस्तस्मादेतं नाहरहराहरेयुर्न

* 'अनश्नाङ्गमन'—इति घ, ङ ।

† 'प्रातः'—इति घ, ङ ।

ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति यस्मैवं विदुष एतं
नाहरहराहरन्त्यन्वाहार्यपुत्रनो वा ऽएषः ॥ ६ ॥

उपवसथु ऽएवैन माहरेयुः । यत्रैवास्मिन्यद्यन्तो
भवन्ति तथो हास्मैषो ऽमोघायाहृतो भवति ॥ ७ ॥

नवावसिते * वैन माहरेयुः । तस्मिन् पचेयुस्तद्
ब्राह्मणा अग्नीयुर्यद्यु तन्न विन्देद्यत्पचेदपि गोरेव
दग्ध मधिश्रयितवै ब्रूयात्तस्मिन् ब्राह्मणान्पाययितवै
ब्रूयात्पापीयासो ह वा ऽअस्य सपत्ना भवन्ति
यस्मैवं विदुष एवं कुर्वन्ति तत्मादेव मेव चिकी-
र्षेत् ॥ ८ ॥

तद्यत्नैतत्प्रथमं सुमिद्धो भवति । धूयुत † ऽइव
तर्हि हैष भवति रुद्रः स युः कामयेत यथेमा रुद्रः
प्रजा अश्रद्धयेव त्वत्सहसेव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत
ऽएव मुन्न मद्या मिति तर्हि ह सु जुहुयात्प्राप्नोति
हैवैतदन्नाद्यं यु एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ‡ ॥ ९ ॥

अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति । तर्हि हैष

* “नवावसथे”—इति स्यात् सायणसम्मतः ।

† ‘धूयुत’—इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

‡ ‘जुहोति’—इति ग, ‘जुहोति’—इति घ, ङ । इहोपरिष्ठाच्चैवम् ।

भवति व्युत्पन्नः स यः कामयेत यथेमा व्युत्पन्नः
प्रजा गृह्णन्निव त्वत्सुहृदोऽव त्वन्निघात मिव त्वत्सुचत
ऽएव मन्त्र मद्या मिति तर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति
हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ १० ॥

अथ यच्चैतत्प्रदीप्तो भवति । उच्चैर्धूमः परमया
जुह्या बलवतीति * तर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः
कामयेतेन्द्र इव श्रिया यशसा ह्या मिति तर्हि
ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं
विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ ११ ॥

अथ यच्चैतत्प्रतितुरा मिव । तिरुष्ठीवाच्चिः सः
शाम्यतो † भवति तर्हि हैष भवति मित्रः स यः
कामयेत मैत्रेणेद मन्त्र मद्या मिति य माहुः सर्व्वस्य
वा ऽअयं ब्राह्मणो मित्रं न वा ऽअयं कां च न
हिनस्तीति तर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं
य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥ १२ ॥

अथ यच्चैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इव । तर्हि हैष
भवति ब्रह्म स यः कामयेत ब्रह्मवर्चसी ह्या मिति

* 'बलवतीति' — इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'संशाम्यतो' — इति घ, ङ ।

तुर्हि ह स जुहुयात् प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं
व्विज्ञांस्तुर्हि जुहोति ॥ १३ ॥

एतेषा मेक् संवत्सर मुपेत्येत् । स्वयं जुह्वद्यदि
वासान्यो जुहुयाद्य यो ऽन्यथान्यथा जुहोति
यथापो वाभिखुनन्नन्यद्वाद्वाद्यं स सासि निवर्तेतैवं
तद्य यः सार्धं जुहोति यथापो वाभिखुनन्नन्यद्वा-
न्नाद्यं तत् क्षिप्रे ऽभितृन्द्यादेवं तत् ० ॥ १४ ॥

अभयो ह वा ऽपता अन्नाद्यास्य यदाहुतयः ।
अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणात्ति य एवं व्विज्ञानग्निहोत्रं
जुहोति ॥ १५ ॥

सा या पूर्व्याहुतिः । ते देवा अथ योत्तरां
ते मनुष्या अथ यत् स्त्रुचि परिशिनष्टि ते
पशवः ॥ १६ ॥

स वै कुनीय इव पूर्व्या माहुतिं जुहोति ।
भूय इवोत्तरां भूय इव स्त्रुचि परिशिनष्टि ॥ १७ ॥

स यत् कुनीय इव पूर्व्या माहुतिं जुहोति ।
कुनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यो ऽथ यद् भूय ऽइवोत्तरां
भूयांसो हि मनुष्या देवेभ्यो ऽथ यद् भूय इव

स्रुचि परिशिनुष्टि भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः
 कुनीयांसो ह वा ऽअस्य भार्या भवन्ति भूयांसः
 पशवो य एव ऽविद्वानग्निहोत्रं जुहोति तवै समृद्धं
 युष्य कुनीयांसो भार्या असन् भूयांसः पशवः ॥
 १८ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ [३. २.]

अयान्युपस्थानं विधित्सुस्तेषा मग्नीनाञ्च दैवतरूपता
 माह—‘एता ह वा इति । ‘योऽस्मि’ यो यजमानो विद्यते,
 तस्मिन् ‘एता.’ वक्ष्यमाणा देवता निवसन्ति । ताश्च “इन्द्रः,
 यमः, नडः, नैषिधः इति * । निषधदेशाधिपतिर्नलः प्रसिद्धो
 राजा । ‘अनश्नन्सङ्गमनः’ इति सभ्योऽग्निरुच्यते, ‘असन्
 पांसवः’—इत्यावसथ्यः ॥ १ ॥

एवं तच्छिष्टानां स्वरूपप्रतिपादनं “तद्वा इत्यादिना
 क्रियते । ‘अन्वाहार्यपचनः’ अग्निः, ‘एष एव’ (‘नडः’)
 नलः, ‘नैषिधः’—इति निर्दिष्टः । निषिधराजस्य च नलस्य,
 दक्षिणाग्नेश्च साय्य माह—“तद्यदिति । अग्निहोत्रहोमकाले
 एव † मन्वाहार्यपचनं ‘यद्’ यस्मात् ‘दक्षिणतः अहरहः
 आहरन्ति’, तस्मादेव ‘नैषिधः’ नलोऽपि यमस्य राज्ञः ‘दक्षिणतः’
 उपगच्छतीति लोकप्रसिद्धिरित्यर्थः ॥ २ ॥

“अथ य एष सभाया मग्निः, ‘एष एवानश्नन्ति ‡ ।

* ‘नलो (!) नैषध (!) इति’—इति च ।

† ‘एत’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १५, २३ ।

‘एषः’ सस्योऽग्निः, अनशित्वेव प्रातः सस्यः सङ्गम्यत इति व्युत्पत्त्या अनशन्त्सङ्गमन इति पदद्वयेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “भस्मोद्धृतेति * । गार्हपत्याहवनीयादिगतं भस्म उद्धृत्य ‘यत्’ प्रातरेव आवसये ‘परावपन्ति’ । “एष एवासन्निति । भस्मनः प्रांसुतुल्यत्वात् ‘प्रांसवः’ भस्मरूपाः प्रांसुसम्बन्धिनश्च । एवं पञ्चानां मग्नीनां देवतात्मकत्वं प्रतिपाद्य एतद्वेत्तुः फलमाह— “स य इति ॥ ३ ॥

“तेषां सुपस्थानमिति । वक्ष्यत इति शेषः । आहवनीयस्य समीपेऽवस्थानं † मासनं शयनं वा क्रियते ; ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ‡ । ‘प्रतिपरेत्य’ आहवनीयागारात् प्रतिनिवर्त्य गार्हपत्यसमीपे वासं वा शयनं वा क्रियते, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ § ; “संत्रजन्निति । तत्रैव ‘तं मनसोपतिष्ठते’, ‘तदेव तस्योपस्थानम्’ ॥ ; अग्निहोत्रं स्वाङ्गस्यापि तस्य सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

“अथ प्रातरिति । “सभाया मासित्वेति । भोजनात् प्रागेव ‘मुहूर्ते’ ‘सभायाम्’ उपविश्य, पश्चात् यथेच्छं ‘पल्ययेत’ परिगमनं ‘कुर्वीत’ ¶, ‘तत्’ आसनं ‘तस्य’ सभ्याग्नेः ‘उपस्थानम्’ । उद्धृत-भस्मोपगमनमेव आवसथ्योपस्थानम् ** ॥ ५ ॥

यदेतदन्वाहार्यस्याहरहर्दक्षिणत आहरणम्, तदुपवसथ एवाहनि कर्तव्यं नान्यत्वेति विधित्पुराह— “यजमानदेवत्यो वा इति †† अहरहराहरणे यजमानस्य शत्रुदेहसम्बन्धिता भवती-

* का० औ० सू० ४, १५, ३४ ।

† ‘समीपे यत् स्थान’—इति च ।

‡ का० औ० सू० ४, १५, ३० ।

§ का० औ० सू० ४, १५, ३१ ।

॥ का० औ० सू० ४, १५, ३२ ।

¶ ‘करोति’—इति च ।

** का० औ० सू० ४, १५, ३३ ।

†† का० औ० सू० ४, १३, ६ ।

त्यर्थः । “अन्वाहार्यपचनः”—इति यौगिकी सञ्ज्ञा, तस्मात् सोऽन्वाहार्यः ॥ ६ ॥

“उपवसथ इति * । ओदनो यस्मिन्नहनि अग्नौ पक्तव्यः, तत्रैवोपवसथेऽहनि तस्याहरणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । “अमोघायेति । सप्रयोजनायेत्यर्थः ॥ ७ ॥

“नवावसिते वेति † । नव आवसथो नवावसथः ; नूतनं स्थानम् प्राप्य ‘एनम्’ अन्वाहार्यपचनम् ‘आहरेयुः’ । आहरण-प्रयोजनं माह— “तस्मिन्निति ‡ । “यद्यु तन्न विन्देदिति । पक्तव्यालाम्भे गोर्दुग्ध्वा पय एव तस्मिन्नग्नौ ‘अधिश्रयितवै’ अधिश्रयितुं ‘ब्रूयात्’ § । तुमर्थे तवै-प्रत्ययः ॥ । एवञ्चान्वाहार्य-पचनस्याहरणहर्दक्षिणत आहरणमित्येकः पक्षः, यत्तु देशान्तरे प्रवसन् यजमानः अहरहः पाकसमये तस्माधनभूतं स्वकीयमन्वाहार्यपचनं स्मरेत् उपवसथ एवेति द्वितीयः, नवावसथे वेति तृतीयः । सूत्रकृताप्युक्तम्— “आहरणं मेक्षया उपवसथे नवावसथे वा तस्मिन् पचैयुरमांसम्, पाक्याभावे गोःपयोऽधिश्रयितवै ब्रूयात्”—इति ¶ ।

एवमन्वाहार्यपचनस्य न प्रतिदिवसमाहरणं किन्तूपवसथे नवावसथे वेति यदुक्तम्, तस्य फलमाह— “पापीयांस इति । अन्वाहार्यपचनस्य भ्रातृव्यस्थानीयत्वात् तस्य प्रतिदिवसमाहरणाभावात् शत्रुक्षयो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथाहवनीयान्नेरवस्थाविशेषमुपजीव्य रुद्रवरुणेन्द्रादिदेवता-

* का० श्रौ० सू० ४. १३. ७ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १३. ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १३. ९ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १३. १० ।

॥ पा० सू० ३. ४. ६ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १३. ६—१० ।

रूपान् प्रकल्प्य काम्यान् होमकालानाह—“तद्यत्नैतदिति * । काष्ठैः समिद्धोऽग्निर्यदा प्रथमं धूमायमानो भवति †, तस्मिन् समये एष रुद्रात्मको भवति । “यथेमा रुद्र इति । ‘यथा’ खलु ‘रुद्रः’ ‘इमाः’ सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अश्वद्वयेव त्वत्’ अप्रियेणैव एकवारम्, ‘सहसेव त्वत्’ बलात्कारेणैव एकवारम्, तथा ‘निघात मिव त्वत्’ प्रजानां हनन मिव एकवारम्, ‘सचते’ समवेति ; ‘एवम्’ एवाहं सर्वम् ‘अन्नम्’ उपसंहृत्य ‘अद्याम्’ भक्षयेयम् ‘इति’ ‘यः कामयेत’, ‘सः’ यजमानः ‘तर्हि’ तस्मिन् रुद्रावस्थोऽग्नौ ‘जुहुयात्’ । एव मुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ८ ॥

“अथ यत्नैतत् प्रदीततरो भवतीति ‡ । प्रदीप्तावस्थ आहवनीयो वरुणात्मकः । “गृह्णन्निव त्वदिति । वरुणो हि पापीयसीः प्रजाः आत्मीयेः पाशैः ‘गृह्णन्निव’ भवति, तद्वदय मपि सर्वं मन्नाद्य मुत्पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

“अथ यत्नैतत् प्रदीप्तो भवतीति § । “उच्चैर्धूम इति । यस्या भवस्थायामाहवनीयः प्रदीप्तः ‘सन्नुन्नतधूमो भूत्वा महता वेगेन ‘बलबलि’—‘इति’ एवं शब्दायते, तदवस्थोऽग्निरिन्द्रात्मक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

“अथ यत्नैतत् प्रतितरा मिवेति ॥ । काष्ठेषु दग्धेषु ‘संशाम्यतः’ ‘अग्नेः अर्चिः’ ‘प्रतितरां’ निक्षिप्यतराम् ‘इव’,

* का० श्रौ० ४. १५. १६ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

† “‘धूप्यत इव’ धूमायमान इव भवति”—इति च ।

‡ का० श्रौ० ४. १५. १७ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० ४. १५. १८ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० श्रौ० ४. १५. १९ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

ऊर्द्धाधोगमनाभावे 'तिरश्चीव' भवति * । "य माहुरिति ।
ब्राह्मणस्य यजमानस्य होमकाले इत्यर्थः ॥ १२ ॥

"अथ यत्रेतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इवेति † । सर्वासु ज्वालासु
निवृत्तासु केवल मङ्गारा अत्यर्थं दीप्यन्ते ; तस्या मवस्थायाम्
'एषः' अग्निः 'ब्रह्म' परब्रह्मात्मको 'भवति' ॥ १३ ॥

"एतेषा मेक मित्यादि । 'एतेषां' रुद्राद्यवस्थाविशेषाणां
मध्ये 'एकं' 'संवत्सरं' संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मनुतिष्ठेत् । 'यदि'
यजमानः 'स्वयम्' एवाग्निहोत्रं 'जुह्वत्' भवति, 'अन्यो वा'
अध्वर्युः 'जुहुयात्', उभयोरप्येष संवत्सरनियमः ‡ ॥

यस्तु संवत्सरमध्ये उक्तनियमं परित्यज्य 'अन्यथा' प्रतिदिवसं
प्रकारान्तरेण 'जुहोति', तस्य दोषं दृष्टान्तपुरस्सर माह—
"यथेति । 'अपः' 'अभि'-लक्ष्य वापीकूपादिकं 'खनन्', 'अन्यद्'
व्रीहियवादिकम् 'अन्नाद्यं वा' सम्पादयन्, 'सामि' अर्घ्वकृते
'यथा' 'निवर्त्येत' 'एवम्' एव 'तत्' अन्यथाग्निहोत्रहवन
मित्यर्थः ॥

संवत्सरपर्यन्तं निरन्तर मेकं पक्षं कुर्वतो यजमानस्यो-
द्दिष्टफलप्राप्ति माह— "अथ य इति । 'साङ्घि' सह. निरन्तर्येण
'यः' संवत्सरं 'जुहोति', सिद्ध मन्यत् । 'अन्नाद्यम्' 'अभितृणन्ति'
स उत्पादयतीत्यर्थः § ॥ १४. १५ ॥

पूर्वोत्तराहुतिद्रव्ययोरवशिष्टस्य चोत्तरोत्तरं भूयस्त्वं विधाय
प्रतिपादयति— 'सा येत्यादिना ॥ १६ ॥ ॥ १७ ॥

* 'ऊर्द्धाधोगमनरहित इव भवति'—इति च ।

† का० श्रौ० ४. १५. २० सू० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १५. २७ क । § का० श्रौ० सू० ४. १५. २७ ख ।

“स यत् कनीय इति । “भार्या भवन्तीति । भर्तव्याः
प्रजा भवन्तीत्यर्थः ॥

“तद्वै समृद्ध मिति । यत्र खलु भोक्तृणा मल्लीयस्त्वम्,
भोग्यसम्पत्तिर्मयसी, तत् खलु समृद्ध मित्यर्थः * ॥ १८ ॥ ४
[३. ३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः† ॥

—————

* “खयं वा जुहुयात्, उपवसथे नियमः”—इति का० श्रौ० ४. १५. ३५,
३६ सूत्रे । “सर्वदा खय मेव वाग्निहोत्रं जुहुयात्, अग्नौ वा”—इति,
उपवसथशब्देन पौर्णमास्यमावास्ये उच्यते । तत्र खय मेव एते रात्रौ
अग्निहोत्रं जुहुयादित्ययं नियमः । सूतके नृतकेऽपि तत्काल मेव स्नात्वा
खय मेव होमः कार्यः”—इति च तयोर्ग्रन्थिकदेवकते व्याख्यानम् ।

† “कण्डिकासङ्ख्या १०३”—इति क, ख-पुस्तके नास्ति, “काण्डौ १०४”
इति—ग, घ-डयोः कवत् । तत्र १ ब्रा० २८ क०, २ ब्रा० १८ क०, ३ ब्रा०
३६ क०, ४ ब्रा० १८ क० ; सङ्कलनया १०३ सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

युत वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे * । स युना-
 ग्निं० ससृजे सु इदं जातः सूर्व मेव दुग्धं
 दध्न ऽदृत्येवाविलु मेव ता यास्तुर्हि प्रजा आमुस्ता
 हैन० सृष्टेष्टुं दध्निरे सो ऽतितिक्षमाणः पुरुष
 मेवाभ्येयाय ॥ १ ॥

सु होवाच । न वा ऽग्रह मिदं तितिक्षे हन्त
 त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा विभृहि स
 युथैव मां त्व मस्त्रिलोके † जनयित्वा भरिष्यस्येव
 मेवाहं त्वा ममुष्मिलोके जनयित्वा भरिष्यामीति
 तथेति तं जनयित्वाविभः ॥ २ ॥

* 'ससृजे'—इति क, ग; 'ससृजे'—इति घ, ङ ।

† 'मस्त्रिन् लोके'—इति क; 'मस्त्रिलोके'—इति घ, ङ । एवं
 मिहोत्तरत्रापि सर्वत्र ।

स यदग्नीं ऽआधत्ते * । तदेनं जनयति तं जन-
यित्वा विभर्त्ति स यथा हैवेष एतमुष्मिंल्लोके
जनयित्वा विभर्त्स्येव मु हैवेष एतमुष्मिंल्लोके
जनयित्वा विभर्त्ति ॥ ३ ॥

तन्न साम्युद्वासयेत । सामि हास्यै सु
ग्लायति स यथा हैवेष एतस्मा ऽअस्मिंल्लोके सामि
ग्लायत्येव मु हैवेष एतस्मा ऽअमुष्मिंल्लोके सामि
ग्लायति तस्मान्न साम्युद्वासयेत ॥ ४ ॥

स यन्न म्रियते । यच्चैन मग्नावभ्यादधति
तदेषो ऽग्नेरधिजायते स एष पुत्रः सन् पिता
भवति ॥ ५ ॥

तस्मादेतद्विषिणाभ्यनूक्तम् † । शत मित्रु शरदो
ऽअन्ति देवा यन्ना नश्चक्रा जरुसं तनुनाम् ।
पुत्रासो यन्न पितरो भवन्ति मा नो मध्या
रीरिषतायुर्गन्तोरिति पुत्रो ह्येष सन्त्य ‡ पुनः
पिता भवत्येतन्न तद्यस्मादग्नीं ऽआदधीत ॥ ६ ॥

तद्वा ऽएष एव मृत्युः । य एष तपति -

* 'त्ते'— इति क, ग; 'स्ते'— इति घ, ङ ।

† 'क्त'— इति घ, ङ । ‡ 'सन्त्य'— इति च ङङो डा०-वेवरेण ।

तद्युद्देश एव मृत्युस्तस्माद् या एतस्मादव्याच्यः
 प्रजाप्ता म्रियन्ते ऽथ याः पराच्यन्ते देवास्तस्मादु-
 ते ऽमृतास्तस्येमाः सुर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्व-
 भिहिता यथाश्वो ऽश्वाभिधान्या वाभीशुभिर्व्वैव
 मस्येमाः सुर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिता
 स्तस्माद् रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते ॥ ७ ॥

स यत्नं कामयते । तत्तु प्राणं मादायोदेति सु-
 म्रियते * स यो हैतं मृत्युं मुनतिमुच्याथासुं लोकं मेति
 यथा हैवास्मिंल्लोके न संयुतमाद्रियते यदा यदैव†
 कामयते ऽथ मारयत्येव सु हैवामुष्मिंल्लोके पुनः-
 पुनरेव प्रमारयति ॥ ८ ॥

स यत् सायं मस्तमिते दे ऽग्राहुती जुहोति ।
 तदेताभ्यां पृथ्वाभ्यां पङ्क्त्या मेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठ-
 त्यथ यत् प्रातरनुदिते दे ऽग्राहुती जुहोति
 तदेताभ्यां मपराभ्यां पङ्क्त्या मेतस्मिन्मृत्यौ प्रति-
 तिष्ठति सु एन मेषु उद्यन्नेवादायोदेति तदेतं‡

* 'संम्रियते'— इति क. ग; दृष्टो डा०-वेवरेण च ।

† 'यदैव'— इति घ, ङ; 'यदैव'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

‡ 'तदेतत्'— इति क ।

मृत्यु मृतिमुच्यते सैषाग्निहोत्रे मृत्योरुतिमुक्तिरुति
ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते य एव मेता मग्निहोत्रे मृत्योरुति-
मुक्तिं वेद ॥ ९ ॥

युथा वा ऽद्भुषोरुनीकम् । एवं यज्ञाना मग्नि-
होत्रं येन वा ऽद्भुषोरुनीक मेति सर्व्वं वै तेनेषु-
रेत्येतेनो हास्य सर्व्वं यज्ञक्रतव एतं मृत्यु मृति-
मुक्ताः ॥ १० ॥

अहोरात्रे ह वा ऽअमुष्मिंल्लोके परिप्लवमाने ।
पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतो ऽर्वाचीनं वा ऽअतो
ऽहोरात्रे तथो हास्याहोरात्रे सुकृतं न
क्षिणुतः ॥ ११ ॥

स युथा रथोपस्थे तिष्ठन् । उपरिष्ठाद्रथचक्रे
पल्यङ्गमाने ऽउपावेक्षेतैवं परस्तादर्वाचीनो ऽहोरात्रे
ऽउपावेक्षते न ह वा ऽअस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो
य एव मेता महीरात्रयोरुतिमुक्तिं वेद ॥ १२ ॥

पूर्वेणाहवनीयं परीत्य * । अन्तरेण गार्हपत्यं
चैति न वै देवा मनुष्यं विदुस्त एन मेतदन्त-
रेणातियुतं विदुरयं वै न इदं जुहोतीत्यग्निर्व्वै

* 'परीत्य'— इति क, घ, ङ ।

पाप्मनो ऽपहन्ता तावत्याहवनीयश्च गार्हपत्यञ्चान्तरे-
णातियतः पाप्मान मपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योति-
रेव श्रिया यशसा भवति ॥ १३ ॥

उत्तरतो वा ऽग्निहोत्रस्य द्वारम्* । स यथा
द्वारा प्रपद्येतैवं तदथ यो दक्षिणत एत्यास्ते
यथा बहिर्धा चरेदेवं तत् † ॥ १४ ॥

नौर्ह वा ऽएषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रं तस्या
ऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च
नौमण्डे ऽत्र्येष एव नावाजो यत् क्षीर-
होता ॥ १५ ॥

स यत् प्राङ्मुपोद्वेति । तदेनां प्राची मभ्यजति
स्वर्गं लोकं मभि तया स्वर्गं लोकं समश्नुते तस्या
ऽउत्तरत ऽआरोहणं सेनं स्वर्गं लोकं
सुमापयत्यथ यो दक्षिणत एत्यास्ते यथा
प्रतीर्णाया मागुच्छेत् सु ब्विहीयेते स तत एव
बहिर्धा स्यादेवं तत् ‡ ॥ १६ ॥

अथ या मेतां समिध मभ्यादधाति सेष्टका

* 'द्वारम्'— इति क, ग, घ, ङ ।

†, ‡ 'तत्'— इति घ, ङ ।

येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुर्येनैता मिष्टका मुप-
 दधाति यदा वा ऽद्भुष्टकोपधीयते ऽयाहुतिर्हूयते
 तदस्योपहितास्त्रेवेष्टकास्त्रेता आहुतयो हूयन्ते या
 एता अग्निहोत्राहुतयः ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्व्या ऽअग्निः । संवत्सरो वै प्रजापतिः
 संवत्सरे-संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं चित्येना-
 ग्निना सन्तिष्ठते संवत्सरे-संवत्सरे चित्य मग्नि
 माप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोत्येतद् हास्या-
 ग्निहोत्रं चित्येनाग्निना सन्तिष्ठते चित्य मग्नि
 माप्नोति ॥ १८ ॥

सप्त च वै शतान्यशीतीनामृचः । विंशतिश्च
 स यत् सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति ते द्वे ऽआहुतौ
 ता अथ संवत्सर ऽआहुतयः सम्पद्यन्ते ॥ १९ ॥

सप्त चैव शतानि विंशतिश्च । संवत्सरे-
 संवत्सरे ह वा ऽअस्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते
 संवत्सरे-संवत्सरे महदुक्थ माप्नोति य एवं विद्वान-
 नग्निहोत्रं जुहोत्येतद् हास्याग्निहोत्रं महतोक्थेन
 सम्पद्यते महदुक्थ माप्नोति ॥ २० ॥ १ [३.३.] ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथैतयोर्गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानं विधितुः प्राग्विहिते
 आधानाग्निहोत्रे समुचित्वा क्रमेण स्तौति— “यच्च वा
 इत्यादिना । यदा खलु प्रजापतिः प्रजाः सृष्टवान्, तदा
 ‘अग्निम्’ इमं मपि ससर्ज । ‘सः’ च ‘जातः’ अग्निः ‘सर्वम्’
 ‘इदं’ जगत् ‘दग्धुम्’ ‘दध्ने’ उद्युक्तो बभूव, ‘इति’ इदं सर्वं
 जगद् व्याकुलं बभूव । “ता हैन मिति । ‘एनम्’ अग्निम् ।
 “सोऽतितित्तमाणा इत्यादि । ‘अतितित्तमाणाः’ प्रजाभिश्चिकी-
 र्षितं पेषणं मसहमानः कर्माधिकारिणं ‘पुबधम्’ अभिजगामे-
 त्यर्थः ॥ १ ॥

“स होवाचेति । अभिगम्य किमुक्तवानिति, तदाह— “न
 वा अह मिति । ‘तितित्ते’ सोढुं शक्नोमि । निगदस्मिन्
 मन्यत् ॥ २ ॥

एव मग्निना प्रार्थितः, ‘तथा’ ‘इति’ अङ्गीकृत्य पुरुषेण
 लघैवानुष्ठित मिति दर्शयति— “स यदग्नीत्यादिना ॥ ३ ॥

एव मग्न्याधानेन जनितस्याग्नेर्भरणं विधाय, तस्य भरणत्वं
 प्राक् उदासनं निषेधति— “तन्नेति । ‘सामि’ मध्ये यद्यग्निम्
 ‘उद्वासयेत्’ विसृजेत्, तर्हि ‘अस्मै’ यजमानाय ‘सः’ अग्निः
 ‘सामि’ अर्द्धग्लानियुक्तो भवति । “स यथेत्यादि । इह लोके
 येय मग्निग्लानिः, सा आमुष्मिकयजमानस्थानेहैस्तुर्भवतीत्यर्थः ।
 तस्मादामरणान्तम् अग्निर्द्वार्य इति निगमयति— “तस्मा-
 दिति ॥ ४ ॥

“स यत्रेति । “यत्रैनं मग्नाविति । ‘एनं’ सृतं यजमानं
 पेटमेधिकविधिना अग्नौ प्रक्षिपन्तीत्यर्थः । ‘सः’ ‘एषः’
 अग्निः । “पुत्रः सन् पिता भवतीति । यजमानस्य जीवना-

वस्थाया माधानेनोत्पादितत्वादग्निस्तस्य पुत्रः, मरणादूर्ध्वन्तु
तस्मादग्नेर्यजमानस्य जननात् पुत्र एव तस्य पिता भवति
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पुत्रस्य सतः पितृत्वं विरुद्धं मित्याशङ्क्य काचिद्वचं
संवादयति—“तस्मादिति । ‘ऋषिणा’ मन्त्रेण । स च “शत
मित्रं शरद इत्यादिकः * । तस्य चायं मर्थः । हे ‘देवाः !’
‘अन्ति’ अन्तिके, मनुष्याणां समीपे आयुश्चेन परिकल्पिताः
‘शतं’ शतसंख्याका एव ‘शरदः’ संवत्सराः खलु ‘यत्र’ यस्मिन्
आयुषि शतसंवत्सरे ‘तनूनां’ शरीराणां ‘जरसं’ जरां ‘चक्रां’
कृतवन्तः, ‘यत्र’ च ‘पुत्रासः’ सन्तोऽपि अपलोत्पादनेन
पितरो भवन्ति, ‘नः’ अस्माकं तत् ‘आयुः’ ‘गन्तोः’
ममनात् पूर्वं ‘मध्या’ मध्ये ‘मा रीरिषत’ हिंसनं मा कृषत
इति † । “पुत्रो ह्येष सन्निति । मानुषस्य यजमानस्य ‘एषः’
अग्निः आधानादुत्पन्नतया ‘पुत्रः सन्’ देवशरीरापन्नस्य तस्यो-
त्पादनेन ‘पुनः पिता भवति’ इति ‘एतत्’ खलु ‘ऋषिणा’ ‘अभ्य-
नूतम्’ इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अग्निहोत्रहोमस्यामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं वक्तुं सूर्यस्य ऋत्युरूपतां
प्रतिपादयति—“तद्वा एष एवेति । “रश्मिभिरिति । सूर्यस्य
किरणैः प्राणेषु बद्धा इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः—“यथेति । अश्वो-
ऽभिधीयते बध्यतेऽनयेत्यश्वाभिधानी, तथा ; अभीश्वोऽन्या
रज्ज्ववस्ताभिर्वेत्यर्थः । “तस्मादु रश्मय इति । यस्मात् सूर्य-
रश्मिभिः प्राणेषु प्रजा बद्धाः, तस्मादेव कारणात् ते

* ऋ० सं० १, ८६, ६ ।

† ‘हिंसतं प्राकृक् मिति’— इति च, क, ज ।

‘रश्मयः’ प्रजानां ‘प्राणान्’ ‘अभि’-लक्ष्य ‘अवतायन्ते’ अवसार्यन्ते ॥ ७ ॥

“स यस्येत्यादि । निगदसिद्धम् । “स यो हेतु मिति । ‘एतं’ सूर्यात्मकं मृत्युम् ‘अनतिमुच्य’ अनतिक्रम्य ‘यः’ स्वर्गं प्राप्नोति, ‘सः’ भूलोक इव तत्रापि ‘पुनरेव’ मार्यते, न त्वमृतत्व-प्राप्तिस्तस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

कथन्तर्हि तस्य मृत्योरतिमोक इति, तत्राह— “स यदिति । सायम्यातरग्निहोत्रे हे हे आहुती ह्वयेते, अतस्ताभिश्चतस्रभिराहु-तिभिः तस्मिन् सूर्यात्मके ‘मृत्यौ’ विषयभूते सति यजमानः ‘प्रति-तिष्ठति’ । ‘सः एषः’ सूर्यः ‘एनं’ यजमानं रश्मिभिः ‘आदाय’ एव ‘उदेति’, स च ‘एतं’ मृत्युम् अतीत्य ‘मुच्यते’ इत्यर्थः ॥

एव मग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं प्रतिपाद्य, तद्वत्तुः फलमाह— “अति हेति ॥ ९ ॥

एव मग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वतिमुक्तिः सिद्धेति दर्शयति— “यथा वा इत्यादिना । ‘यथा’ खलु ‘इषोः’ वाणस्य ‘अनीकम्’ सुखम्, प्रधानम्, ‘एवम्’ एव ‘यज्ञाना मग्निहोत्रम्’ । ‘येन’ खलु लक्षणेन ‘इषोरनीकं’ शल्यरूपम् ‘एति’ प्राप्नोति, ‘तेन’ ‘सर्वेषुः’ प्राप्नोति, एवम् अग्निहोत्रसम्बद्धाः ‘सर्वे’ दर्श-पूर्णमासादयः ‘यज्ञक्रतवः’ तद्वारा सूर्यात्मकं ‘मृत्युम्’ ‘अतिक्रान्ताः’ इत्यर्थः ॥ १० ॥

एवं मृत्योरतिमुक्तिरहोरात्राभ्या मपि यजमानेन ज्ञातव्येति प्रतिपादयति— “अहोरात्रे हेति । ‘परिप्लवमाने’ पर्यावर्त्तमाने ‘अहोरात्रे’ आमुष्मिकं स्वर्गादिमुखहेतुभूतं ‘सुक्रतं’ कर्म ‘क्षिणुतः’ क्षपयतः । यदा तु विद्वान् उदीरितरीत्या सूर्य मतिक्रम्य वर्त्तते,

तदा 'अहोरात्रे' एवाधीने * भवतः ; तथाचाहोरात्रानाक्रान्त-
त्वाद विदुषः सुकृतं न क्षीयत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति— "स यथेति । 'रथोपस्थे'
रथस्योत्सङ्गे 'उपरिष्ठात्' 'तिष्ठन्' 'पथ्यङ्गमाने' पर्यावर्त्तमाने
'रथचक्रे' 'अर्वाचीनः' अवाङ्मुखः 'अवेक्षेत' । "न ह वेत्याद्युक्ता-
र्थम् ॥ १२ ॥

होमार्थं मन्तरागमनं विधाय प्रशंसति— "पूर्वेणेति । आह-
वनीयस्य पुरस्तात् परिक्रम्य गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये गच्छे-
दित्यर्थः । तथा च सूत्रितम्— "अन्तरेणापराग्नी गत्वा दक्षिणेन
वाग्रदक्षिण † माहवनीयं परीत्योपविशति यजमानः"—इति ‡
"न वै देवा इत्यादि, सुगमम् ॥ १३ ॥

"उत्तरतो वा इति । यदेतद् दक्षिणेन वेति कात्यायनेन
विकल्पेनोक्तम्, तद् दूषयति— "अथ य इति । अग्निहोत्र-
होमार्थं सुत्तरस्यां दिशि द्वारः प्रवेगोपायः । तथा च उत्तरतः
प्रवेशं विहाय गार्हपत्याहवनीययोर्मध्य मनतिक्रम्यैव 'यः' यज-
मानः दक्षिणस्यां दिशि एवागत्य आहवनीयसमीपे 'आस्ते', सो-
ऽग्निहोत्रं प्रवेष्टुं मशक्तो बहिरेवावतिष्ठति ; यथा प्राकारपरिवृत-
स्याश्रमादेर्द्वादेश्च मप्राप्य प्रवेष्टुं मशक्तो बहिरवस्थितो भवति,
तद्वदित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथैतदग्निहोत्रं नौरूपेण स्तुवन्नुत्तरतः प्रवेशं प्रतिपादयति—

* 'एवातोऽर्वाचीने'— इति च ।

† 'वाग्रदक्षिण'— इति डा० वेवर-सुद्रित-का० सू० पाठः । तत्र तदीय-
पाठभेदादि-टीप्पणी च द्रष्टव्या ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १३. १२ ।

“नौर्हेत्यादिना । “नौमण्डे इति । ‘स्वर्ग्यायाः’ स्वर्गप्राप्ति-
हेतुभूतायास्तस्या अग्निहोत्ररूपायाः ‘नावः’ ‘आहवनीयगार्ह-
पत्यौ ‘नौमण्डे’ उभे पार्श्वे, भित्ती इत्यर्थः । “नावाज
इति । नाव मजति क्षिपति प्रेरयतीति नावाजो
(नाविकः *) ॥ १५ ॥

“स यत् प्राङ्ङित्यादि । प्राङ्मुखः सन् गार्हपत्यादाह-
वनीयं प्रति होमायोपगच्छन्, ताम् ‘एनां’ नावं प्राच्यां दिशि
अवस्थितं ‘स्वर्गम्’ ‘अभ्यजति’ अभिप्रेरयति । “उत्तरत आरो-
हण मिति । आरुह्यतेऽनेनेत्यारोहणम् प्रवेशद्वारम् । ततश्च
उत्तरत आरुह्यमाणा सा अग्निहोत्ररूपा नौः ‘एनं’ यजमानं
‘स्वर्गं लोकं’ सम्यक् प्रापयति । दक्षिणतः प्रवेशने दोष
माह— “अथ य इति । नावि ‘प्रतीर्णयां’ सत्यां यः तरीतुम्
‘आगच्छेत्’, ‘सः’ तत्रैव ‘विहीयेत’ त्यज्येत, ततश्च
। ‘बहिर्वाः’ वाह्यो भवेत्; ‘एव मेव’ ‘तत्’ दक्षिणतः प्रवेशन
मित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथैतदग्निहोत्रं चित्वाग्निसम्पत्त्या स्तौति— ‘अथ या मिति ।
। होमार्थं या समिदानी आधीयते, ‘सा’ च ‘इष्टका’; ‘येन’ च मन्त्रेण
अग्निहोत्रं ‘जुहोति’, ‘तत्’ एव इष्टकोपधानार्थं ‘यजुः’ ।
“यदा वा इत्यादि । सायम्प्रातःकालेषु समिदाधान मेवेष्टको-
पधानम् । तथा चयनसंस्कृते एवाग्नौ सायम्प्रातराहुतयः कार्त्स्न्येन
हुता भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ चित्तस्थानेः संवत्सररूपतां ब्रुवन्, तावत्कालसाध्य-

* एषोऽर्थः कृतव्युत्पत्तिलब्धः स्फुटं प्रतीयते ; न तु कस्मिंश्चिदप्यादर्श-
पुस्तके विद्यते । ‘नावोपजीवनः’— इति डा० रोथ्-गोल्ड्स्टरौ ।

स्याग्निहोत्रहोमस्य तत्सम्पत्तिं सुपपादयति— “प्रजापतिर्वा इति । चित्योऽग्निः प्रजापतिना सृष्टत्वात् तदात्मकः, प्रजापतिश्च संवत्सर-
कालात्मकः ; अतः संवत्सरपर्यन्तं सभित्तिष्ठन्तः * मग्निहोत्रं चित्ये-
न्नाग्निना समानं सत् ‘सन्तिष्ठते’ समाप्तं भवति । तथा च
एकैकसंवत्सराग्निहोत्रानुष्ठानेन चित्याग्न्यनुष्ठानं कृतं भवती-
त्यर्थः ॥ १८ ॥

अथैतदग्निहोत्रं महदुक्त्यसम्पादनेन स्तौति— “सप्त चेति ।
चित्योऽग्निः, महाव्रतं साम, बृहतीसहस्रात्मकं महदुक्त्यं †
चैतानि त्रीणि सहचराणि । तत्र चित्याग्निसम्पत्तिरुक्ता, मह-
दुक्त्यसम्पत्तिस्त्वेव ‡ भवगन्तव्या ;— तत्र हि गायत्री तृचा-
शीतिः, औष्णिही तृचाशीतिः, बार्हती तृचाशीतिरिति तिस्र-
स्तृचाशीतयो विहिताः § ; तासां तिमृणां तृचाशीतीनां सम्भूय
परिगणिता ऋचो विंशत्युत्तरसप्तशतसंख्याका भवन्ति ॥ । प्रति-
दिवसं मग्निहोत्रे सायमाहुतिरेका, प्रातराहुतिश्चैकेति द्वे आहुती ;
संवत्सरस्य षष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्याका अहोरात्राः, तेषु च क्रिय-
माणास्ता अग्निहोत्राहुतयो विंशत्युत्तरसप्तशतसंख्याका भवन्ति ।
अतश्चैकस्मिन् ‘संवत्सरे’ ‘अस्य’ यजमानस्य ‘अग्निहोत्रं’
तृचाशीतित्रयात्मकमहदुक्त्येन ‘सम्पादयते’ सम्पन्नं भवती-
त्यर्थः ॥

* ‘सन्तिष्ठन्तः’— इति च ।

† ‘बृहदुक्त्यं’— इति क ।

‡ ‘बृहदुक्त्यसम्पत्तिस्त्वेव’— इति क ।

§ ये० ५ आर० २ अ० ३-४-५ ख ङाणि द्रष्टव्यानि ।

॥ तासां तृचां प्रतीकपद्धत्येन स्वरूपप्रतिपत्तिश्च तत्रैवारण्येने द्रष्टव्या ।

एतज्ज्ञानपूर्वकानुष्ठानं प्रशंसति— “संवत्सरे संवत्सर
इति ॥ १८, २० ॥ १ [३.३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्.)

अग्नौ ह वै देवाः* । सर्वान् पशून्निदधरे ये
च ग्राम्या ये चारण्या व्विजयं व्वोपप्रैष्यन्तः काम-
चारुख्य वा कामायायं नो गोपिष्ठो गोपायदिति
वा ॥ १ ॥

तानु हाग्निर्निचकमे । तैः सङ्गृह्य रात्रिं
प्रविवेश पुनरेभ इति देवा एदग्निं तिरोभूतं ते ह
व्विदुञ्चक्रुरिह वै प्राविक्षद्रात्रिं वै प्राविक्षदिति
तु मेतत् प्रत्यायत्याः रात्रौ साय मुपातिष्ठन्त देहि
नः पशून् पुनर्नः पशून् देहीति तेभ्योऽग्निः पशून्
पुनरददात् ॥ २ ॥

तुस्मै क मग्नी ऽउपतिष्ठेत । अग्नी वै दातारौ
 तावेवैतद्याचते साय मुपतिष्ठेत साय ऽहि देवा
 उपातिष्ठन्त दत्तो * हैवास्मा ऽएतौ पशून् य एवं
 विद्वानुपतिष्ठते ॥ ३ ॥

अथ युस्मान्नोपतिष्ठेत । उभये ह वा ऽइदं
 मये सुहामुर्देवाश्च मनुष्याश्च तद्यद्वा स्म मनुष्याणां
 न भवति तद्वा स्म देवान् याचन्त ऽइदं वै नो
 नास्तीदं नोऽस्त्विति ते तस्या ऽएव याचज्जायै द्वेषेण
 देवास्तिरोभूता नेद्विनसानि नेद् द्वेष्योऽसानीति
 तुस्मान्नोपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

अथ युस्मादुपैव तिष्ठेत । यज्ञो वै देवाना
 माशीर्युजमानस्य तद्वा ऽएष एव यज्ञो यदाहुति-
 राशीरेव युजमानस्य तद्यदेवास्यान् तदेवैतदुपतिष्ठ-
 मानः कुरुते तुस्मादुपैव तिष्ठेत ॥ ५ ॥

अथ युस्मान्नोपतिष्ठेत । यो वै ब्राह्मणं वा
 शुःसमानोऽनुचरति क्षत्रियं व्याथं मे दास्यत्ययं मे
 गृहान् करिष्यतीति यो वै तं व्याद्येन वा कुर्मणा
 व्याभिरिराधयिषति तुस्मै वै स देयं मन्यतेऽथ य

आह किं नु त्वं समासि यो मे न ददासोतीश्वर
एनं हेष्टोरीश्वरो निर्व्वेदं गुन्तोस्तस्मान्नोपतिष्ठेतै-
तद्विच्छेदेषु एतं याचते यदिन्मे यच्छुहोति तस्मा-
न्नोपतिष्ठेत ॥ ६ ॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । उत वै यावन्दातारं
लभत ऽएवोतो भर्त्ता भार्य्यं नानुबुध्यते स यदेवाह
भार्य्यो वै तेऽस्मि विभृहि मेत्यथैनं व्वेदाथैनं भार्य्यं
मन्यते तस्मादुपैव तिष्ठेतेद मित्तु समस्तं यस्मादुप-
तिष्ठेत ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्व्वा ऽएष भूत्वा † । यावत् ईष्टे याव-
देन मनु तस्य रेतः सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोतीद्
मेवैतत् सुर्व्वं मुपतिष्ठमानोऽनुविकरोतीदं सुर्व्वं
मनुप्रजनयति ॥ ८ ॥

स वा ऽउपवत्या प्रतिपद्यते । इयं वा ऽउप
इयेनेय मुप यद्वीदं किञ्च जायतेऽस्यां तदुपजायते-
ऽथ यन् नृच्छत्यस्या ‡ मेव तदुपोष्यते तदुक्ता रात्रा

* 'यदिन्मि'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

† 'भूत्वा'— इति घ, ङ ।

‡ 'यन् नृच्छत्यस्या'— इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

भूयो-भूय एवाचक्ष्यं भवति तदक्ष्येणैवैतद् भूम्ना
प्रतिपद्यते ॥ ९ ॥

स आह । उपप्रयन्तो ऽअध्वर मित्यध्वरो वै
यज्ञ उपप्रयन्तो यज्ञ मित्येवैतदाह मुन्नं व्वोवे-
माग्नय ऽइति मुन्न सु ह्यस्मा ऽएतदक्ष्यन् भवत्यारे
ऽअस्त्रे च शृगवत ऽइति यद्यस्मदारकादक्ष्यन् न
एतच्छृगवेवैव * मेवैतन्मन्यस्त्रेत्येवैतदाह ॥ १० ॥

अग्निर्मूर्धा दिवः । ककुत् पतिः पृथिव्या
अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतीत्यन्वेव धावति
तद्यथा याचन् कल्याणं व्वरेदामुष्यायणो वै त्व
मखुर्ल वै त्व मेतस्मा ऽअसीत्येव मेषा † ॥ ११ ॥

अथैन्द्राग्नी । उभा वा मिन्द्राग्नी ऽआहु-
वध्वा ऽउभा राधसः सह मादयध्वे । उभा दाता-
राविषां रयीणा मुभा व्वाजस्य सातये हुवे वा
मित्येष वा ऽइन्द्रो य एष तपति‡ स युदस्त मेति
तदाहवनीयं प्रविशति तदुभावेवैतत् सह सुन्ता

* 'एतच्छृगवेवैव'— इति ग, घ, ङ ।

† 'मेषा'— इति घ, ङ ।

‡ 'एष तपति'— इति च ढ्यो ङा०-वेवरेण ।

ऽउपतिष्ठत ऽउभौ मे सह सन्तौ दत्ता मिति तस्मा-
देन्द्राग्नी * ॥ १२ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियः । यतो जातो ऽअरो-
चयाः । तं जानन्नान् ऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयि-
मिति पुष्टं वै रयिर्मूयो भूय एव न इदं पुष्टं कुर्वि-
त्येवैतदाह ॥ १३ ॥

अयं मिह प्रथमः । धायि धातुभिर्हीता
युजिष्ठो ऽअध्वरेष्ठीडाः । य मुप्रवानो भृगवो व्विह-
रुचुर्व्वनेषु चित्रं व्विभवं व्विशे-व्विश ऽइत्यन्वेव
धावति तद्यथा याचन् कल्याणं व्वरेदामुष्यायणो
वै त्व मखलं वै त्व मेतस्मा ऽअसीत्येव मेषा यथो
ऽएवैष तथो ऽएवैन मेतदाह यदाह व्विभवं व्विशे-
व्विश ऽइति व्विभुर्ह्येष व्विशे-व्विशे ॥ १४ ॥

अस्य प्रत्नाम् † । अनु द्युतं शुक्रं दुदुक्ते
ऽअक्रयः । पयः सहस्रसा मृषि मिति परमा वा
ऽएषा सनीनां यत् सहस्रसनिस्तुदेतस्यैवावरुद्धौ
तस्मादाह पयः सहस्रसा मृषि मिति ॥ १५ ॥

* 'देन्द्राग्नी'— इति घ, ङ ।

† 'प्रत्नाम्'— इति घ, ङ ।

तदेतत् समाहार्यं षडृचम्* । तस्योपवती प्रथमा
 प्रवत्युत्तमावोचाम तद्यस्मादुपवत्यथाद् एव प्रत्नं
 यावन्तो ह्येव सनाग्रे देवास्तावन्त एव देवास्तस्मा-
 दद्ः प्रत्नं तदिमे ऽएवान्तरेण सुर्व्वे कामास्ते ऽअस्मा
 ऽइमे सज्जानानि सुर्व्वान् कामान्त्सन्नमतः ॥ १६ ॥

स वै त्रिः प्रथमा जुपति । त्रिरुत्तमां त्रिवृत्-
 प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनास्तस्मात् त्रिः प्रथमां
 जुपति त्रिरुत्तमाम् † ॥ १७ ॥

यद्वा वा ऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो
 वा वर्चसो वा प्रजायै वा ॥ १८ ॥

तदु खलु तनूपा अग्नेऽसि । तन्व* मे पाच्या-
 युदा अग्नेऽह्यायुर्मे देहि वर्चादा अग्नेऽसि वर्चो
 मे देहि । अग्ने युन्मे तुन्वा जनं तुन्म ऽआपृ-
 येति ॥ १९ ॥

यद्वा वा ऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् । व्याद्येन वा
 कर्मणा वा मिथ्या करोत्यात्मनस्तद्वद्यत्यायुषो

* 'चं'— इति घ, ङ ।

† 'माम्'— इति घ, ङ ।

वा वर्चसो वा प्रजायै वा तन्मे पुनराप्याययेत्येवै-
तदाह तथो हास्येतत् पुनराप्यायते ॥ २० ॥

इन्धानास्त्वा । शतं हिमा द्युमन्तं समिधी-
महीति शतं वर्षाणि जीव्यास्तेत्येवैतदाह तावत् त्वा*
महान्तं समिधीमहीति यदाह द्युमन्तं समिधी-
महीति व्ययस्वन्तो व्ययस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृत
मिति व्ययस्वन्तो व्ययं भूयास्म व्ययस्कृतं त्वं† भूया
इत्येवैतदाह सहस्वन्तो व्ययं भूयास्म सहस्कृतं त्वं ‡
भूया इत्येवैतदाहाग्ने सपत्नदुम्भन मुदव्यासो ऽश्रुदाभ्य
मिति त्वया व्ययं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्तेत्येवै-
तदाह ॥ २१ ॥

चित्रावसो स्वस्ति ते पारु मशीयेति । त्रिरे-
तज्जपति रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयं सङ्गृह्येव
चित्राणि व्रसति तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे ॥ २२ ॥

एतेन ह स्म वा ऽकृषयः । रात्रेः स्वस्ति
पारुं समश्रुवत् ऽएतेनो ह स्मै नान् रात्रेर्नाष्टा
रुक्षांसि न विन्दन्त्येतेनो § ऽएवैष एतद् रात्रेः

*, †, ‡ 'तावत्वा', 'व्ययस्कृतं', 'सहस्कृतं'— इति क-पाठः ।

§ 'नाविन्दन्त्येतेनो'— इति सा-सम्मतः पाठ इति डा-वेवरः ।

स्वस्ति पारुः समश्नुत ऽएतेनो ऽएनः रात्रेर्नाष्टा
रुचाऽसि नु विन्दन्त्येतावन्नु * तिष्ठन् जपति ॥ २३ ॥

अथासीनः । सं त्व मग्ने सूर्यस्य व्वर्वसा
गथा इति तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रवि-
शति तेनैतदाह समृषीणाः स्तुतेनेति तद्यदुपतिष्ठते
तेनैतदाह सं प्रियेण धाम्नेत्याहुतयो वा ऽअस्य प्रियं
धामाहुतिभिरेव तदाह स मह † मायुषा संव्वर्वसा
सं प्रजया सुः रायस्पोषेण ग्मिषीयेति यथा त्व मेतैः
स मगथा एव मह मायुषा व्वर्वसा प्रजया रायस्पो-
षेणेति यद् भूमेति तदेव मह मेतैः सङ्गच्छा ऽद्वत्ये-
वैतदाह ॥ २४ ॥

अथ गा मध्येति । अथ स्याम्यो वो भक्षीय
मह स्य मुहो वो भक्षीयेति यानि वो व्वीर्याणि
यानि वो महाऽसि तानि वो भक्षीयेत्येवैतदाहोर्ज-
स्तोर्जं वो भक्षीयेति रुस स्य रुसं वो भक्षीयेत्येवैतदाह
रायस्पोष स्य रायस्पोषं वो भक्षीयेति भूमा स्य
भूमानं वो भक्षीयेत्येवैतदाह ॥ २५ ॥

* 'पुविन्दन्नेतावन्नु'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'स मुह'— इति च, ड ।

रेवती रुमध्व मिति रेवन्तो हि पशुवदुस्मादाह
 रेवती रुमध्व मित्यस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिंस्त्रोक्ते-
 ऽस्मिन् क्षये । इहैव स्त मापगातेत्यात्मन एवैतदाह
 मदेव मापगातेति ॥ २६ ॥

अथ गा मभिमृशति । संहितासि विश्व-
 रूपीति विश्वरूपा इव हि पशुवस्तुस्मादाह विश्व-
 रूपीत्यूर्जा माविश गौपत्येनेत्यूर्जेति यदाह रुसेनेति
 तदाह गौपत्येनेति यदाह भूम्नेति तदाह ॥ २७ ॥

अथ गार्हपत्य मध्येति । स गार्हपत्य मुपतिष्ठत
 ऽउप त्वाग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्हिषा व्ययम् । नमो
 भुरन्त एमसीति नम एवास्मा ऽएतत् करोति
 यथैनं न * हिंस्यात् † ॥ २८ ॥

राजन्त मध्वराणाम् । गोपामृतस्य दीदिविम् ।
 वर्द्धमानं स्वे दम ऽइति स्वं वै त ऽइदं यन्मम तन्नो
 भूयो-भूय एव कुर्वित्येवैतदाह ॥ २९ ॥

स नः पितेव सूनवे ‡ । अग्ने सूपायनो भव ।
 सचस्वा नः स्वस्त्य ऽइति यथा पिता पुत्राय सूप-

* 'यथैनं न'— इति च दृष्टो डा०-विवरणेन ।

† 'हिंस्यात्'— इति घ, ङ ।

‡ 'सूनवे'— इति घ, ङ ।

चरो नैवैन' केन चनु हिनस्त्येवं नः सूपचुर एधि
मैव त्वा केन चनु हिंसिष्येत्येवैतदाह ॥ ३० ॥

अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं नो ऽअन्तम उतु चाता
शिवो भवा व्वत्थ्यः । व्वसुरग्निर्व्वसुश्रवा अच्छा
नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥ तं त्वा शोचिष्ठ
दीदिवः सुम्नाय * नूनु मीमहे सुखिभ्यः । सु नो
बोधि शुधी † हव मुरु ष्या गो ऽअघायतुः समस्मा-
दिति ॥ ३१ ॥

यद्वा ऽआहवनीय मुपतिष्ठते । पशूंस्तुद्याचते
तस्मात्तु मुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठत ऽउच्चावचा इव
हि पशवोऽथ यद् गार्हपत्यं पुरुषांस्तुद्याचते तद्
गायत्रं प्रथमं त्रिचं गायत्रं वा ऽअग्नेश्छन्दः स्वेनैवैन
मेतच्छन्दसोपपुरैति ॥ ३२ ॥

अथ द्विपदाः । पुरुषच्छन्दसं वै द्विपदा द्विपाद्वा
ऽअयं पुरुषः पुरुषानेवैतुद्याचते पुरुषान् हि याचते
तस्माद् द्विपदाः पशुमान् ह वै पुरुषवान् भवति
यु एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥ ३३ ॥

* 'सुम्नाय'— इति संहिता-पाठ इति डा० वेबरः ।

† 'शुधि'— इति च पाठो दृश्यो डा०-वेबरेण ।

अथ गा मध्येति* । इड ऽएछदित ऽएहीतीडा
हि गौरदितिर्हि गौस्ता मभिमृशति काम्या एतेति
मनुष्याणां छेतासु कामाः प्रविष्टास्तस्मादाह
काम्या एतेति मयि वः कामधुरणं भूयादित्यहं वः
प्रियो भूयास मित्येवैतदाह ॥ ३४ ॥

अथान्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च । प्राङ्
तिष्ठन्नग्नि मीक्षमाणो जपति सोमानं खरणं
कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः † ॥ यो
रेवान्यो ऽअमीवहा व्वसुवित्यष्टिवर्जनः । स नः
सिषक्तु यस्तुरः ॥ मा नः शुंसो ऽअरक्षो धूर्तिः
प्रणङ् मर्त्यस्य । रुक्षा णो ब्रह्मणस्पत ऽइति ॥ ३५ ॥

यद्वा ऽआहवनीय मुपतिष्ठते । दिवं तदुप-
तिष्ठतेऽथ यद् गार्हपत्यं पृथिवीं तदुपेतदन्तरिक्षं मेघा
हि दिग् बृहस्पतेरेतां छेतद्दिश मुपतिष्ठते तस्माद्
वार्हस्पत्यं जपति ॥ ३६ ॥

महि चीणा मयोऽस्तु । द्युक्षं मित्रस्यार्थ्यग्णः ।
दुराधुषं व्वरुणस्य ॥ न हि तेषा ममाचन नाध्वसु
व्वारणेषु । ईशे रिपुरधुषंसः ॥ ते हि पुत्रासो

प्रदितीः प्र जीवसि मर्याय । ज्योतिर्युच्छन्त्यजस्र
मिति तत्रास्ति नाध्वसु व्वारणेष्वित्येते ह वा
ऽअध्वानो व्वारणा य ऽइमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी ऽएतान्
क्षेतुदुपतिष्ठते तस्मादाह नाध्वसु व्वारणेष्विति *
॥ ३७ ॥

अथैन्द्रो वै यज्ञस्य देवता सेन्द्र
मेवैतदग्न्यपस्थानं कुरुते कदा चन सरोरसि
मेन्द्र सञ्चसि दाशुष ऽहुति यजमानो वै दाश्वान्न
यजमानाय द्रुक्ष्यसीत्येवैतदाहोपोपेन्नु मधवन् भूय
इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽहुति भूयो-भूय एव
न इदं पुष्टं कुर्वित्येवैतदाह ॥ ३८ ॥

अथ सावित्री । सविता वै देवानां प्रसविता
तथो हास्मा ऽएते सवितृप्रसृता एव सर्व्वे कामाः
समृध्यन्ते तत् सवितुर्व्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयादिति † ॥ ३९ ॥

अथान्येयी ‡ । तदग्नय ऽएवैतदात्मान
मन्ततः परिददाति गुप्तैर परि ते दूडुभो रुथो-

* 'ष्विति'— इति घ, ङ ।

† 'दिति'— इति ग, घ, ङ ।

‡ 'यी'— इति घ, ङ ।

ऽस्माँ१॥ • ऽअस्मोतु च्चिश्चतः । येन रुक्षसि
 दाशुष इति यजमाना वै दाशुषासो यो ह वा
 ऽअस्थानाधृष्यतमो रुयस्तेनैष यजमानानभिरुक्षति
 स यस्तेऽनाधृष्यतमो रुथो येन यजमानानभिरुक्षति
 तेन नः सर्व्वतोऽभिगोपायेत्येवैतदाह त्रिरेतज्ज-
 पति ॥ ४० ॥

अथ पुत्रस्य नाम गृह्णाति । इदं मेऽयं वीर्य्यं
 पुत्रोऽनुसन्तनवदिति यदि पुत्रो न स्यादप्यात्मन
 एव नाम गृह्णीयात् ॥ ४१ ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [३. ४.] ॥

अथ सायङ्कालीन मन्त्र्युपस्थानं विधिक्षुस्तदर्थं माख्यायिका
 माह— “अस्मो हेति । एतच्च पुनराधानब्राह्मणे † व्याख्यातम् ।
 तत्र हि ‘कृतून् प्रविवेश’, अत्र तु ‘रात्रिं प्रविवेश’ इत्येतावान्
 विशेषः । “त मीतदित्यादि । ‘प्रत्यायत्याम्’ आगामिन्यां ‘रात्री’
 ‘सायं’ काले ‘तम्’ अग्निं देवम् उपतिष्ठन्ते ‡ । उपस्थानप्रकारं
 माह— “देहि न इति ॥ १, २ ॥

यस्मादेव मन्त्र्युपस्थानात् पशवो देवैर्लब्धाः, तस्माद् यज-
 मानोऽपि तदुपस्थानं कुर्यादिति विधत्ते— “तस्मा इति । तस्मै

* ‘ऽस्माँ३’— इति क, ‘ऽस्माँ३॥’— इति घ, ‘ऽस्माँ३॥’— इति ङ ।

† अत्रैव पुरस्तात् (२३० ३३० २, ३ क०) प्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० सू० ३. १२. १ ।

पशुप्राप्तिलक्षणाय फलाय । 'कम्'—इति वाक्यपूरणे * । अन्यत् निगदसिद्धम् । “दत्तो हेवेति । य एवं साय मग्नी उपतिष्ठेतैव तस्मै यजमानाय तावग्नी अभिमतं फलं प्रयच्छत इत्यर्थः । एवमुपस्थानविधिः ॥ ३ ॥

(अथोपस्थानदोषपरौ †) पूर्वपक्षौ सिद्धान्तत्वेन प्रतिपादयति— “अथ यस्मादिति । यस्मात् अन्युपस्थानं न कर्तव्यम्, तत्कारणमुच्यते । देवाः खलु पुरा मनुष्यैः सार्धं मिह लोके निवसन्तः तद्याचनेन पीडिताः सन्तस्तिरोभूताः, अतोऽग्निरपि उपस्थानेन याच्यमानस्तिरो भवति, याचितफलस्याग्रदानेन नैव यजमानं 'हिनसानि', अत एव द्वेभ्योऽपि न भवानीत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् नोपस्थेयोऽग्निरिति पूर्वपक्षः ‡ ॥ ४ ॥

“अथ यस्मादित्यादि । यस्मात् कारणादग्न्युपस्थानं कर्तव्यम्, तदुच्यते— ‘देवानां’ सम्बन्धी यो ‘यज्ञः’, स हि ‘यजमानस्य’ ‘आशीः’ फलप्रार्थनरूपः ; ‘तत्’ तथा सति येषां मग्निहोत्राहुतिः ‘एष एव यज्ञः’ सैव यजमानस्याशीः । “तद्यदेवेत्यादि, यजमानस्य यत्, तदाशीरूपं फलम् ; तदेवाग्निहोत्रेऽग्निमुपतिष्ठमानः कुरुत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

पुनरप्यनुपस्थानपक्षं प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति— “अथ यस्मादित्यादिना । “योर्वै ब्राह्मणमित्यादि । ब्राह्मणक्षत्रिययोः रन्यतर माशंसमानः फलाभिलाषी पुरुषः ‘अनुचरति’ अनु-

* ‘वाक्यप्रतिपूरणे’— इति च ।

† एषोऽशी बहुषु पुस्तकेषु न दृश्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. २ ।

वर्त्तते, तस्याभिप्राय माह— “अयं म इति । यद्येव मनुचरति पुरुषः, तं ब्राह्मणादिं ‘वाद्येन’ वदनीयेन सुतिशब्देन, ‘कर्मणा वा’ परिचरणलक्षणेन ‘अभिराधयिषति’ अभिराधयितुं सेवितुं मिच्छति, ‘तस्मै’ पुरुषायैव ‘सः’ ब्राह्मणादिः प्रभुः धनं ‘देयं’ दातव्यं ‘मन्यते’ । यस्त्वेवं निहुरं भाषते, सः ‘एनं’ ब्राह्मणादिं प्रभुं ‘हेष्टोः’ * विद्वेषणं कर्त्तुं मीश्वरः समर्थः स्यात्, तथा ‘निर्वेदं’ मनस्तापं ‘गन्तोः’ † गन्तुं मीश्वरः स्यात् । निहुर-भाषणप्रकार माह— “किं न्विति । हे देवदत्त ! यस्त्वं मच्छं न ददासि, स त्वं मम किं चासि ? न किञ्चिदपि भवसि, त्वया किं प्रयोजनं मित्यर्थः । एवं समन्तकहोमिनाग्नेराराधनं मेव कार्यम्, तदुपस्थानन्तु फलप्रार्थनरूपत्वेन निहुरभाषणवदपराध-हेतुरिति न कर्त्तव्यं मित्याह— “एतदिति । होमसमिन्धनाभ्यामग्निं प्राप्य पुनरुपस्थानेनैव याचते, याचनं चायुक्तं मित्यनुपस्थान-पक्षो ज्यायानित्यर्थः ‡ ॥ ६ ॥

“अथ यस्मादित्यादि । लोके हि ‘यावत्’ पुरुषो ‘दातारं’ प्राप्नोति, स च ‘भर्ता’ पोषकः प्रभुः ‘भार्यं’ पोष्यं याचकं स्वतो ‘नानुबुध्यते’, ‘सः’ चैव याचकः एवम् ‘आह’ विज्ञापयति,— हे स्वामिन् ! अहं ‘ते’ त्वया ‘भार्यः’ पोष्यः ‘अस्मि’, ‘मा’ मां

*, † “ईश्वरे तोमुनकमुनौ”— इति पा० सू० ३. ३. १३ ।

‡ उपस्थानानुपस्थानपक्षौ तैत्तिरीयैरपि विचार्योपस्थानं कर्त्तव्यं मित्येव सिद्धान्तितम् । तथाहि— “उपस्थेयोऽग्नीर्नोपस्थेयाश्चैत्याहुर्मनुष्या येनून्वे योऽहुरहुराहृत्यथैनं याचति स इनून्वे तं सुपार्च्छत्यथ को देवानह-रहृयाचिष्यतीति, तस्मान्नोपस्थेयोऽथो खल्वाहुराग्निवि वै कं यजमानो यजत इत्येषा खलु वै आहिताग्नेराग्नीधं दग्धिं सुपतिष्ठते, तस्मादुपस्थेयः”— इति तै० सं० १. ५. ६. ७ ।

‘बिभृहि’ पोषय ‘इति’ । एवं विज्ञापनानन्तर मेव ‘एनं’ याचकं पुरुषं ‘वेद’ जानाति । अनन्तरञ्च ‘एनं’ ‘भार्य’ पोष्यं ‘मन्यते’ । तस्मात् ऋग्विधानरूपं स्त्राभिभूतस्याग्नेरुपस्थानं न दोषाय किञ्चित् । ‘इदमित्’ इदमेव ‘समस्तं सम्पूर्णं’ मित्यर्थः ॥ ७ ॥

यस्माच्चान्यस्मात् कारणात् अग्न्युपस्थानं मवश्यं कर्त्तव्यं तदुच्यते— “प्रजापतिर्वा इति । अग्निर्होत्रहोमो हि रेतस्सेकस्थानीयः, गर्भाशये निषिक्तस्य रेतसः हस्तपादादिमत्त्वेन यद् विशिष्टरूपकरणम्, तदग्न्युपस्थानसाध्यम्, अतोऽग्निं सुपतिष्ठमानो यजमानः सर्वं मिदं निषिक्तं विशिष्टरूपं कुर्वन् ‘अनुप्रजनयति’ अनुक्रमेणोत्पादयति । तस्मादवश्यं मग्न्युपस्थानं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्र, प्रथमाया ऋचौ लिङ्गविशेष सुपन्थस्य प्रशंसति— “स वा इति । ‘उपवत्या’ उपशब्दयुक्तया ऋचा १ । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ वा उप’ योऽय सुपेत्युपसर्गः, इयं भूमिरेव सः, ‘हयेन’ द्विप्रकारेण ‘इयं’ भूमिः उपशब्दवाचा । तत्प्रकार-इयं दर्शयति— “यक्षीय मिति । ‘यत् किञ्च’ जायमानं, ‘तत्’ सर्वम् ‘अस्याम्’ ‘उपजायते’ । ‘तत्’ ‘नृच्छति’ नितरा मात्तिं प्राप्नोति, ‘तत्’ अपि ‘अस्याम्’ एव ‘उपोष्यते’ निलीयते । अतो जायमान एव अहोरात्राभ्याम् ‘अक्षय्यं भवति’ तत्सम्बद्धोपशब्द-

* एतदेवोपस्थानं वात्सप्रोपस्थानं मुच्यते । ‘उपप्रयन्तोऽध्वर मित्यत आरभ्य परि ते दूडभ इत्यन्तं वात्सप्रोपस्थानम्— इत्युक्तेः (या० दे०) । तत्र च वात्सप्रोनामर्षिणा दृष्टं स्तुतं वात्सप्रम्, तदीयर्षं एवाख्योपस्थानस्य मन्त्रा इति वीजम् ।

† ‘उपप्रयन्तो अध्वरम्’— इत्येषा ऋक् उपपत्ती । वा० सं ३. ११ ।

युक्तः प्रतिप्रद्यमानः चयरहितेनैव भूत्वा 'प्रतिपद्यते' उपस्थानं प्रारभ्यत * इत्यर्थः ॥ ८ ॥

क्रमेणोपस्थानमन्त्रान् विधित्सुस्तावदुपवती मृचं विधाय प्रशंसति— “स आहेति । “अध्वरो वै यज्ञ इत्यादि, सुगमम् । द्वितीयपाद मनूय तत्र मन्त्रशब्दो वक्ष्यमाणमन्त्रपर इति व्याचष्टे— “मन्त्र मु ह्यस्मा इति । “आरे अस्मे चेति । अस्मच्छब्दात् पञ्चम्यर्थे शि-आदेश इति व्याचष्टे— “अस्मदारकादिति ॥ १० ॥

अथ द्वितीया मृच मग्न्युपस्थाने वल्लभ्यत्वेन सिद्धवदनूय तात्पर्यं माह— “अग्निर्मूर्धेति † । “अन्वेव धावतीति । अनुधावति अनुसृत्य ‡ प्रशंसतीति यावत् । एतत् सदृष्टान्तं सुपपादयति— “तद्यथेति ॥ ११ ॥

“अथैन्द्राग्नीति । अग्निर्मूर्धेत्यनन्तरम् “उभा वाम्”—इतीन्द्राग्नीदेवताका ऋक् § अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्येत्यर्थः । अस्या मृचि 'इन्द्राग्नी'-शब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “एष वा इन्द्र इति ॥ १२ ॥

चतुर्थी मृचं पठित्वा स्तौति— “अयन्त इति ॥ । “पुष्टं वा इति । यदत्र रयिशब्दवाच्यम्, तत् पुष्टिहेतुभूतं धनम् । “भूय एवेत्यादि, मन्त्रगत-‘वर्धय’-पदाभिप्रायकथनम् ॥ १३ ॥

अथ तस्मिन्नुपस्थाने पञ्चमी मृचं विधाय तात्पर्यं कथयति— “अय मिहेति ¶ । “विभू ह्येष इति । ‘विशि-विशि’ सर्वस्य

* ‘प्रारभत’— इति च ।

† ‘अनुसरति’— इति च ।

॥ वा० सं० ३. १४ ।

† वा० सं० ३. १२ ।

§ वा० सं० ३. १३ ।

¶ वा० सं० ३. १५ ।

प्रजायै 'एषः' अग्निः 'विभूः' तदभीष्टप्रदाने समर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

पृष्ठी ऋचं विधाय प्रशंसति—“अस्येति* । “परमा वा एषा इति । ‘सनीनां’ दानानां मध्ये ‘यत्’ ‘सहस्रसनिः’ सहस्र-सङ्ख्याकस्य धनस्य दानम्, ‘एषा’ ‘परमा’ सर्वोत्कृष्टा सनिः ॥

एताश्च षडृचो मन्त्रकाण्डे एव व्याख्याता इति नात्र पुनर्व्याख्यायन्ते † ॥ १५ ॥

अथैता ऋचः समूहीकृत्य प्रथमोत्तमयोर्लिङ्गविशेषोपजीवनेन स्तौति—“तदेतदिति । ‘समाहार्यम्’ एकेका ऋचं प्रदेशान्तरे पठितां समाहृत्य समुदायीकृत गेतत् ‘षडृचं’ सूक्तम् । ‘तस्य’ ‘प्रथमा’ ‘उपवती’, ‘उत्तमा’ तु ‘प्रत्नवती’ । तत्रोपवती भूम्या-भिकेत्येतत् प्रागेव ‘अवोचाम’, अतः परम् तत् प्रतिपाद्यमित्यर्थः । “अथाद एवेति । ‘अदः’ द्युलोक एव ‘प्रत्नम्’ । तस्य प्रत्नशब्दाभिधेयता ‡ सुपपादयति—“यावन्त इति । ‘सना’ इति निपातः पुरेत्यस्यार्थः । ‘यावन्त एव’ हि ‘अग्रे’ ‘सना’ सनातनाः ‘देवाः’, ‘तावन्त एव देवाः’ इदानीं मपि ; ‘तस्मात्’ तदाश्रयभूता द्यौः पुरातनवाचिना प्रत्नशब्देनोच्यत इत्यर्थः । ‘तदिमे एवेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ ‘अन्तरेण’ “अग्निर्मूर्द्धी”-इत्यादि-मन्त्रप्रतिपाद्याः ‘सर्वे’ कामाः अवस्थिताः । “ते अस्मा इत्यादि, स्पष्टम् ॥ १६ ॥

* वा० सं० ३. १६ ।

† यजुर्वेदस्य वाजसनेय-काण्व-मन्त्रकाण्डेण सायणाचार्येण व्याख्यातमपि शतपथव्याख्यानादुत्तरम् ; तस्मादिह मन्त्रकाण्डं तैत्तिरीयस्य बोध्यम् तै० सं० १. ५. ५ द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘प्रत्नशब्दनामधेयता’— इति च ।

प्रथमोत्तमयोस्त्रिजपं विधाय प्रशंसति— “स वै त्रिः प्रथमां जपतीति । अस्य षड्वचस्य सूक्तस्य “उपप्रयन्त”-इतीयं प्रथमा, “अस्य प्रज्ञाम्”-इतीयं सुक्तमा ; उपस्थानकाले तयोस्त्रिजपः कार्यः * । यतः ‘यज्ञाः’ ‘त्रिवृत्पायणाः’ त्रिवृत्पायणाः ; निर्वापप्रोक्षणसामिधेयनुवचनादिषु त्रिरावृत्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ १७ ॥

“तनूपा अग्नेऽसि”-इत्यादिमन्त्रेराहवनीयोपस्थानं विधितु-स्तन्निवर्त्तुं दोष सुपन्यसति— “यज्ञ वा इति । अग्निहोत्र-होमं कुर्वन् ‘वाद्येन वा’ व्यवहारसाध्येन मन्त्रोच्चारणेन, शरीर-साध्येन ‘कर्मणा वा’, ‘यत्’ ‘मिथ्याकरोति’ अन्यथानुतिष्ठति, ‘तत्’ तेन ‘आत्मनः’ यजमानस्य ‘आयुषः’ जीवनस्य, ‘वर्चसः’ तेजसः, ‘प्रजायै’ प्रजायाश्च ‘अवद्यति’ खण्डयति । ‘वा’-शब्द-श्चार्थे ॥ १८ ॥

अथैतद्दोषपरिहाराय तदुचितमन्त्रकरणकोपस्थानं माह—
“तदु खल्विति † । तत् खलु दोषे सतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

“यज्ञ वा इत्याद्युक्तार्थम् ‡ । “तन्म इत्यादि । यदेतन्मिथ्या-करणेनायुरित्यादि खण्डितम्, हे अग्ने ! ‘तत्’ तच्च ‘पुनः’ ‘आप्यायय’ वर्धयेति “तन्म आ पृण”-इतिमन्त्रभागस्य व्याख्या-नम् ॥ २० ॥

“इन्धानास्त्वेत्यादि § । “शतं हिमाः”-इत्यस्य तात्पर्यं माह— “शतं वर्षाणीति । शतसंवत्सरजीवनवन्तो भूयास्मे-त्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्येतद् विशदीकृतम्— “शतं हिमा

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क, ख ।

† वा० सं० ३. १७ ।

‡ एतत्पूर्वपूर्वकणीयाख्या द्रष्टव्या ।

§ वा० सं० ३. १८. १ ।

इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाहेति * । “द्युमन्त
मिति मन्त्रभागस्यार्थं माह— “तावत्त्वेति । ‘तावत्’ शत-
संवत्सरजीवनावधि, हे अग्ने ! त्वां ‘द्युमन्तं’ दीप्तिमन्तं ‘महान्तं’
‘समिधीमहि, सन्दीपयेमेत्यर्थः । “वयस्वन्तो वयस्कृत मित्यादि ।
वय इत्यन्ननाम † । प्रभूतान्नयुक्ता भूत्वा वयसोऽन्नस्य कर्त्तार,
त्वा मुपतिष्ठेमहि । एवं ‘सहस्वन्तः’—इत्यत्रापि योजना । उभ-
यत्र विशेषणद्वय मपि विधेयाभिप्राय मिति व्याचष्टे— “वयस्वन्तो
वय मिति । वयः अन्नं करोतीति वयस्कृत्, सहः शत्रूना मभि-
भवनं तदन्तः सहस्वन्तः, तादृशं सहः शत्रुविषयक मभिभवनं
करोतीति सहस्कृत् । “अग्ने सपन्नदम्भन मित्यादि । सपन्नो
दभ्यते हिंस्यतेऽनेनेति सपन्नदम्भनोऽग्निः । तथा च ‘त्वया’ ‘वयं’
‘सपन्नान्’ ‘पापीयसः’ अतिशयेन निरुक्तान् ‘क्रियास्म’ करवामेति
विशेषेण तात्पर्यकथनम् ॥ २१ ॥

“चित्रावसो”—इत्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं ‡ विधत्ते— “चि-
त्वेति § । “रात्रिर्वा इत्यादि । ‘हि’ यस्मात् ‘सा इयं रात्रिः’
ग्रहनक्षत्रादीनि ‘चित्राणि’ ‘सङ्गृह्य इव वसति’, ‘तस्मात्’ ‘चित्रा-
वसुः’ रात्रेर्नामधेयम् । अत एव इदानी मपि रात्रौ नभसि
‘तारका’-लक्षणं ‘चित्रं’ ‘दृष्ट्वे’ दृश्यते ॥ २२ ॥

अस्य मन्त्रजपस्य प्रयोजनं वक्तुं पुरावृत्त मुदाहरति— “एते-

* तै० सं० १. ५. ८. १४ । एतच्च ब्राह्मणम् “अग्ने गृहपते”—इति तै०
सं० १. ५. ६. ११, मन्त्रपदव्याख्यानपरम्; “इन्द्राणास्त्वा शत५ हिमाः”—इत्ये-
तन्मन्त्रव्याख्यानब्राह्मणे त्वान्नातम्—“शत५ हिमा इत्याह शतायुः पुरुषः”—
इत्यादि । तै० सं० १. ५. ७. १४. ।

† निघ० २. ७. ७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ घ । § मन्त्रस्तु वा० सं० ३. १८. २ ।

नेति । 'एोन' "चित्रावसो"—इति मन्त्रेण 'रात्रेः' 'पारम्' अव-
सानं 'स्वस्ति' क्षेमेण 'समश्रुवते' सम्प्राप्नुवन् । तथा 'एनान्'
ऋषीन् एतन्मन्त्रजपेनैव रात्रेः प्रीणनात् तत्सम्बन्धिनो राक्षसा-
द्वयो ('न विन्दन्ति') नाविन्दन्, नालभन्त इदानीन्तन-
स्यापि ॥

इमं मन्त्रं मन्त्र्युपस्थाने जपतो यजमानस्य तत्फलं माह—
“एनेनो एवेति । “एतावन्विति । “उपप्रयन्त”—इत्यारभ्य
“चित्रावसो”—इत्येतावत्पर्यन्तं माहवनीयस्य समीपे 'तिष्ठन्'
जपेत् * ॥ २३ ॥

“अथासीन इति † । वक्ष्यमाणान् “सं त्व मने”—इत्या-
दिकान् ‡ मन्त्रान् तत्रैवासीनो जपेदित्यर्थः । हे 'अग्ने !' त्वं
'सूर्यस्य' 'वर्चसा' तेजसा 'समगथाः' सङ्गतवानसि 'इति' प्रती-
यमानं मिमं मन्त्रार्थं सुपपादयति— “तद् यदस्तं यन्निति ।
'अस्तं यन्' अस्तं गच्छन्नित्यर्थः । सूर्यस्य रात्रावाहवनीयप्रवेशः
“अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा”—इति होममन्त्रार्थकथनप्रस्तावे
प्रतिपादितः § । “समृषीणा मित्यादि । “ऋषीणां'
सम्बन्धि यत् 'सुतं' स्तोत्रं तेन सङ्गतवानसीति मन्त्र-
वाक्यार्थः ।

एतर्हि प्रकृताग्न्युपस्थानाभिप्रायं माह— “तद्यदिति ।
'आहुतयो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः आज्यदधिच्चीरादिद्रव्य-
साध्याः 'आहुतयो वा' आहुतय एव 'प्रियं धाम' तज्ज्योतिर्मयं

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ३ क, ख, घ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. ४ ।

‡ वा० सं० ३. १६ ।

§ एतस्यैवाध्यायस्य द्वितीयब्राह्मणं तद्वाक्यं च द्रष्टव्यम् ।

शरीरम् । तथा चाहुतिभिरेव सङ्गतवानसीत्यर्थः । “सम-
मायुषेत्यादि । हे अग्ने ! यथा त्व मेतैरायुरादिभिः ‘सम-
गथाः’ सङ्गतवानसि । गमेर्लुङि “गातिस्था”-इति * चुर्लुक्,
“अनुदात्तोपदेश”-इत्यनुनासिकलोपः † । एवम् ‘अहम्’ अपि
एतेः सङ्गच्छेयेत्यर्थः । “यद् भूञ्जेति, “रायस्योषेण”-इत्यस्य
व्याख्यानम् । ‘भूञ्जा’ धनकनकादिवहुत्वेनेत्युक्ते यावानर्थो भवति,
रायस्योषेणेत्यनेन तावानर्थः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

“अथ गा मभ्यैतीति ‡ । अग्निहोत्रहोमार्थस्य पशसो
दोग्ध्री या गौः, ताम् “अन्ध स्थान्यो वो भक्षीयम्”-इति मन्त्रेण §
अभिगच्छेदित्यर्थः । ‘अन्धः’-शब्दोऽन्नवाची ||, तेन च तज्जनितं
वीर्यं लक्ष्यत इति व्याचष्टे— “यानि वो वीर्याणीति । हे गावः !
यूयम् ‘अन्धः स्थ’ क्षीरान्नरूपा भवथ, अतस्तदुपभोगजनितानि
‘वः’ युष्मत्स्वन्धीनि ‘वीर्याणि’, ‘महाएसि’ तेजांसि, ‘तानि’
‘भक्षीय’ सम्भजेयेत्यर्थः । “रस स्थिति । “जर्ज्ज बलप्राण-
नयोः”-इत्यस्मात् ¶ धातोर्निष्पन्न ‘जक्’-शब्दो बलकरं समाचष्ट
इत्यभिप्रायः । “भूमा स्थेति । ‘रायस्योष’-शब्दस्य भूमार्थत्वं
प्रागज्ज्ञातम्— “रायस्योषेणिति यद् भूञ्जेतीति ** ॥ २५ ॥

“रेवती रमध्व मितेति †† । “रेवन्तो हीत्यादि । ‘रेवन्तः’
रयिमन्तः, पुत्रपौत्राद्यभिवृद्ध्या धनयुक्ताः पशवो रयिमन्तः ।
“रयेर्मतो बहुलम्”-इति ‡‡ सम्प्रसारणम् । “आत्मन एवेति ।

* पा० सू० २, ४, ७७ ।

† पा० सू० ६, ४, ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४, १२, ५ ।

§ वा० सं० ३, २० ।

|| निघ० २, ७, १ ; निरु० ५, १, १ ।

¶ चु० प० १५ धा० ।

** एतत्पूर्वकखिकायाम् (१५८ पृ०) ।

†† वा० सं० ३, २१ ।

‡‡ पा० ६, १, ३७ सू० प्र० वा० ।

अस्मिन्निति मन्त्रगतदंशब्देन सन्निहितवाचिना स्वसम्बद्धगृह-
गोष्ठानि विशेषेण 'आत्मनः एव' स्वस्यैव एतत् फल माशास्यत
इत्यर्थः । हे गावः ! यूयम् 'इहैव' मदीये गोष्ठादौ 'स्त' भवत,
'मापगात' मा अपगच्छतेति मन्त्रभागस्यार्थः । तत्रापगमना-
वधेरनुपादनात् त मुपन्यस्य योजयति— "मदेवेति । मत्सका-
शादेव मापगतेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समन्त्रकं गोस्पर्शनं विधाय प्रशंसति— "अथ गा मिति * ।
'विश्वानि' सर्वाणि, शुक्लकृष्णादीनि रूपाणि यस्याः, सा 'विश्व-
रूपीति' व्यक्तिमभिप्रेत्य व्याचष्टे— "विश्वरूपा इव हीति ॥ २७ ॥

एव माहवनीयस्य समन्त्रक मुपस्थानं सप्रपञ्चं † विधाय,
गार्हपत्यस्य ‡ तद् विधत्ते— "अथ गार्हपत्य मभ्येतीति § ।
"नम एवास्मा इति । "नमो भरन्तः"—इति नमस्कारस्य
सम्पाद्यत्वावगमात् अतिक्रमजनितापराधनिवृत्तयेऽस्मै गार्हपत्याय
नमस्कार मेव करोतीत्यर्थः । इतरथा हि प्रथमाग्निं गार्ह-
पत्य मतिक्रम्य आहवनीयस्योपस्थानकरणात् स गार्हपत्यः क्रुद्धः
सन् 'यथैनं न हिंस्यात्, तथा नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं प्रथमाया ऋचस्तात्पर्यं मभिधाय द्वितीया सृचं पठित्वा
तात्पर्यविशेष माह— "राजन्त मध्वराणा मिति ¶ । "स्वं वा
इत्यादि । दम इति गृहनाम ** । यन्मदीयं गृहं हे अग्ने !
'ते' तव स्वभूतम्, अतस्तथाविधं गृहं 'नः' अस्माकं पुनः-पुनः

* का० श्रौ० सू० ४. १२. ६ । मन्त्रस्तु वा० सं० ३. २२. १ ।

† 'सप्रपञ्चं' इति च ।

‡ 'गार्हपत्ये'—इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. ७ ।

॥ वा० सं० ३. २२ ।

¶ वा० सं० ३. २३ ।

** निघ० ३. ४. १२ ।

कुर्विति “खे दमे”—इति मन्त्रपदयोर्विवक्षितोऽर्थः इति भावः ॥२८॥

“स नः पितेवेति * । गार्हपत्योपस्थाने तृतीया । तत्र “पितेव सूनवे”—इति दृष्टान्तसिद्ध मर्थं निष्कृत्वा गुवदति— “यथा पितेति । ‘सूपचरः’ सुडु उपचरितुं नमस्कारादिभिरुपचरैः पुत्रस्य सेवितुं योग्य एव भवति । स च पुत्रः ‘एनं’ पितरं केनचिदपि साधनेन ‘नैव’ ‘हिनस्ति’ बाधते । एवं गार्हपत्याग्ने ! त्वं ‘नः’ अस्माकं ‘सूपचरः एधि’ सुडूपचरितुं योग्यो भव ; वयमपि त्वां केनचिदपि साधनेन ‘मैव हिंस्मि’, इति योजना ॥

एतं चोप त्वाग्ने इत्यादिका मन्त्राः, वक्ष्यमाणाश्चाग्ने त्वमित्यादिकाः, सर्व एव संहितायां व्याख्यातत्वात् अन्यविस्तरभयादत्र पुनर्न व्याख्यायन्ते † ॥ ३० ॥

अथ चतसृभिर्द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थान माह—“अथ द्विपदा इत्यादि । ‘अथ’ “उप त्वाग्ने”—इत्यादि-गायत्रीणां ‡ मनन्तरं गार्हपत्योपस्थाने ‘द्विपदाः’ प्रयोक्तव्याः । तत्र, “अग्ने त्वम्”—इति § प्रथमा, “वसुरग्निः”—इति ॥ द्वितीया, “तं त्वा शोचिष्ठ”—इति ¶ तृतीया, “स नो बोधि”—इति ** चतुर्थी ॥ ३१ ॥

द्विपदाभिर्गार्हपत्योपस्थानस्य पुरुषप्राप्तिहेतुतां वक्तुं माह-वनीयोपस्थानस्य पशुप्राप्तिहेतुता माह— “यदा आहवनीयमिति । “उच्चावचैरिति । न्यूनाधिकपरिमाणयुक्तैः “उप

* वा० सं० ३. २४ ।

† इहासादक्तय मुक्तं पुरस्तात् ; १६८ पृ० ‘†’ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० ३. २२, २३, २४ ।

§, ॥, ** वा० सं० ३. २५, १, २ ; २६. १, २ ।

प्रयन्त”-इत्यादिमन्त्रैर्गायत्रादिच्छन्दोभिरित्यर्थः । “अथ यद् गार्हपत्य मित्यादि । “उप त्वाग्ने”-इत्यादिभिः ‘यद्’ गार्हपत्यम्’ उपतिष्ठते, तेनोपस्थानेन ‘पुरुषान्’ पुत्रपौत्रादीनेव ‘याचते’ प्रार्थयत इत्यर्थः । तच्च पुरुषप्रार्थनं द्विपदाभिरेवेति वक्तुमुप त्वाग्ने इति गायत्रवृत्तस्य प्रयोजनमाह— ‘गायत्रं वा अग्नेच्छन्द इति । प्रजापतिमुखात् सहोत्पन्नत्वादित्यर्थः * । ‘उपपरेति’ उपप्राप्नोति ॥ ३२ ॥

“अथ द्विपदा इति । “पुरुषच्छन्दसं वा इति । पुरुषवत्पादद्वयोपेतत्वात् ‘द्विपदाः पुरुषच्छन्दसम्’ पुरुषसमानाकृतिकं छन्दः । छन्दश्छन्दादकारः समासान्तः † । “पशुमान् ह वै पुरुषवानिति आहवनीय-गार्हपत्योपस्थानयोः समुच्चित्य प्रशंसा ; गार्हपत्योपस्थानस्यापि पुरुषवत्पादद्वयोपेतत्वात् ॥ ३३ ॥

गोसमीपगमनं तदुपसर्गनञ्च समन्त्रकं विधत्ते— “अथ गामभ्येतीति ‡ । “इङ् एहीति § । इङादितिशब्दौ गोनामत्वेन प्रसिद्धावित्यर्थः । “कामाः प्रविष्टा इति । ‘मनुष्याणां’ क्षीरदध्यादिविषयाः ‘कामाः’, ‘हि’ यस्मात् ‘एतासु’ गोषु ‘प्रविष्टाः’, ‘तस्मात्’ एताः कामनाविषयत्वात् ‘काम्याः’ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

“अथान्तरेणेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ३५ ॥

सोमान मित्यस्य वृत्तस्य च प्रयोजनमाह— ‘यद्वा इति । आहवनीयगार्हपत्योपस्थानाभ्यां द्यावापृथिव्योरुपस्थानं कृतं

* तै० सं० ७. १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

† “अनसन्तान्नापुंसकाच्छन्दसि”— इति पा० सू० ५. ४. १०३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १२. ८, ९ ।

§ वा० सं० ३. २७. १, २ ।

भवति । अनेन सोमान मिति त्वचस्य * जपेन द्यावापृथिव्योः
मध्यवर्त्तिनोऽन्तरिक्षस्योपस्थानं कृतं भवतीत्यर्थः † । तस्य देवता-
विशेषसम्बन्धं प्रशंसति— “एषा हीति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वक्त-
माना येय मूर्द्धा ‘दिक्’, ‘एषा’ ‘बृहस्पतेः’ स्वभूता । अतएव तैत्ति-
रीयके समाम्नातम्— “ऊर्द्धा दिग् बृहस्पतिर्देवता”—इति ‡ ।
नन्वेतत् त्वचं ब्राह्मणस्यत्यम्, कथं बार्हस्पत्यम् ? इति ।
नैष दोषः ; तयोर्भेदाभावात् । अत एव दाशतय्यां ‘गणानां
त्वा’—इत्यादिषु ब्राह्मणस्यत्यसूक्तेषु § तत्र बृहस्पतिः स्तूयते ॥ ३६ ॥

“महित्रीणा मित्यादि ॥ । एतदपि मूक्त मन्तराग्नी तिष्ठन्
जपेदित्यनुषङ्गेण वाक्यमस्माभिः । अस्य त्वचस्य प्रयोजन माह—
“तत्रास्तीति । ‘तत्र’ तस्मिंस्तृचे ‘न अध्वसु वारणेषु’—‘इति’
‘अस्ति’, तस्याभिप्रायो वर्ण्यत इति शेषः । “एते ह वा इत्यादि ।
द्यावापृथिव्योर्मध्ये ‘य इमे’ ‘अध्वानः’ वितताः, ‘एते’ खलु पुरुषस्य
फलप्राप्तिवारणाय भवन्ति, अतो द्यावापृथिवीसंस्तुतयोर्गार्हपत्याह-
वनीययोर्मध्ये स्थित्वा इमं त्वचं जपन् ‘एतान्’ एव मार्गान् ‘उप-
तिष्ठते’ इत्यर्थः । एव मध्वना सुपस्थितत्वात् तं वारयितुं न
कोऽपि ईश्वर इति “नाध्वसु वारणेषु”—इति मन्त्रपाद-
स्यार्थः ॥ ३७ ॥

“अथेन्द्रीत्यादि । ‘ऐन्द्री’ इन्द्रदेवताका “कदाचनस्तुरी-

* वा० सं० ३, २८, २६, ३० ।

† “सोमान मित्यनुदकं व्रतोपायनवत्”—इति का० श्रौ० सू० ४, १२, १० ।

‡ तै० ब्रा० ३, ११, ५, ६ ।

§ ऋ० सं० २, २३, १ ।

॥ वा० सं० ३, ३१, ३२, ३३ ।

¶ वा० सं० ३, ३२, २ पा० ।

रसि”—इत्यादिका * अग्न्युपस्थाने प्रयोक्तव्या । तथा च तदग्न्यु-
पस्थानं मिन्द्रसंहितं सत् यज्ञात्मना निष्पद्यत इत्यर्थः । तत्र
पूर्वाह्ने मनूय तात्पर्यं माह— “कदाचनेति । “यजमानो वै
दाश्वानिति । “दाशु दाने”—इत्यस्मात् † “दाश्वान् साह्वान्”—
इति ‡ निपातनात् हविषां दाता यजमानो दाश्वानित्युच्यते ।
तथा च ‘दाशुषे’ यजमानाय कदाचिदपि ‘सूरीः’ हिंसकाः ‘न
असि’ न द्रुह्यसीति तात्पर्यार्थकथनम् । उत्तराह्ने व्याचष्टे—
“उपोपेदिति । हे ‘मघवन् !’ अस्मभ्यं दीयमानं त्वदीयं धनं
‘भूयो भूय एव’ ‘उपपृच्यते’ समीपं प्राप्नोति ; तदिदं माम्नातम्—
“भूयो भूय एवेति ॥ ३८ ॥

अथ सवित्रदेवताका सृचं विधाय प्रशंसति— “अथ सावि-
त्रीति । का पुनरसौ सावित्री ? इति, ता माह— “तत्सवितु-
रिति § ॥ ३९ ॥

अग्निदेवताका सृचं विधत्ते— “अयान्नेयीति । ‘परि
ददाति’ परिदानं रक्षणार्थं दानम् । तादर्थ्यं भव विव्रियते—
“गुह्या इति । “यजमाना वा इत्यादि । धर्षितुं मशक्यः,
परेरप्रपृथ्यो यो रथो विद्यते, ‘तेन’ रथेन ‘एषः’ अग्निः ‘यजमानान्
अभिरक्षति’ ॥

एव मग्नेः स्वभावमभिधाय मग्ने योजयति— “स य इति । हे
अग्ने ‘सः’ प्रसिद्धः ‘यः’ ‘रथः’ ‘ते’ त्वदीयः, शत्रुभिरप्रपृथ्यो विद्यते,
‘येन’ च ‘यजमानान्’ ‘अभितः’ सर्वतः ‘रक्षसि’, ‘तेन’ ‘रथेन’ ‘नः’
अस्मान् ‘अभिगोपाय’ इत्यर्थः ॥ ।

अस्या ऋचस्त्रिजपं विधत्ते— “त्रिरेतदिति ॥ ४० ॥

दर्शपूर्णमासयोरिवात्रापि पुत्रनामग्रहणं विधत्ते— “अथ पुत्रस्येति * । ‘अयं’ मदीयः ‘पुत्रः’ ‘इदं’ यज्ञानुष्ठान-
लक्षणं ‘वीर्यम्’ ‘अनुसन्तनवत्’ अनुक्रमेण सन्तनुयात्, सन्तत
मनवच्छिन्नं कुर्यात्, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण नामग्रहणम् । पुत्रा-
भावे तु यजमानः स्वस्यैव ‘नाम’ ‘गृह्णीयात्’ † ॥ ४१ ॥ २ [३.४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेच्छतः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,
सप्ताब्दीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।
रत्नोत्सां रुक्मवाजिदिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,
व्यथाणीदिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥

* “प्रौर्णमासवत् पुत्रनामग्रहणम्”—इति का० श्रौ० सू० ४. १२. ११ ।
“प्रौर्णमासवत् ततोऽस्त्रीत्यादि (३. ८. २५ सू०) । पुत्रस्य नाम गृह्णाति,
पुत्रयोः पुत्राणां वा । प्रियतमस्येति लौगाक्षिः; ज्येष्ठपुत्रस्य ‘नामाभि-
प्राहृत्य यावन्तो वा भवन्ति’—इति शाङ्खायनः (२. १२. ११.)”— इति तत्र
वृत्तिर्याज्ञिकदेवस्य ।

† प्रथमे काण्डे सप्तमप्रपाठकीयं मेकविंशं ब्राह्मणं (१ भा० ६२२८०),
‘हरिश्चामिन्नं तद्वाच्यं (६३३८० ४ प्रं), तत्रत्यस्तदीयटीप्पन्यञ्च मत्कृताः,
सर्व एवैते ग्रन्था इह समालोच्यः ॥

धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
 कार्पासीयं कृपावान् शुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिमक्तु मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्थः * ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवेदिकमार्गप्रवर्तक-
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये
 द्वितीयकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

(अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्.)

अथ हुतेऽग्निहोत्रेऽउपतिष्ठते । भूर्भुवः स्वरिति
तत्सत्येनैवैतद्वाचं समर्चयति यदाह भूर्भुवः स्वरिति
तया समृद्धयाशिष माशास्ते सुप्रजाः प्रजाभि स्था
मिति तत् प्रजा माशास्ते सुवीरो व्वीरैरिति तद्
वीरानुशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत् पुष्टि माशास्ते
॥ १ ॥

यदाऽअहो दीर्घं मग्न्युपस्थानम् । आशीरेव
साशीरियं तदेतावतैवैतत् सर्वं माप्नोति तस्मादेते-
नैवोपतिष्ठेतैतेन ज्वेव व्ययमुपचराम इति ह स्थाहा-
सुरिः ॥ २ ॥

अथ प्रवक्ष्यन् * । गार्हपत्य मेवाग्र उपतिष्ठते-
ऽथाहवनीयम् † ॥ ३ ॥

स गार्हपत्यमुपतिष्ठते । नृय्यं प्रजां मे पाहीति
प्रजाया ह्येष ईष्टे तत् प्रजा मेवास्मा एतत् परि-
ददाति गुप्तैः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयमुपतिष्ठते । शुक्लं पशून् मे

* 'ल्यप्'— इति घ ।

† 'यस्'— इति घ, ङ ।

पाहीति पशूनां ह्येष ईष्टे तत् पशुनेवास्मा ऽएतत्
परिददाति गुप्तैः ॥ ५ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स युत्र
व्वेलां मुन्यते तत् खन्त्वा * व्वाचं व्विद्वजते, य प्रोष्य
परेक्ष्य युत्र व्वेलां मुन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि
राजान्तरेण ख्यान्नैव त मुपेयात् ॥ ६ ॥

स आहवनीय मेवाग्न ऽउपतिष्ठते । अथ गार्ह-
पत्यं गृहा वै गार्हपत्यो गृहा वै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वे-
वैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

स आहवनीय मुपतिष्ठते । आगन्तु विश्व-
वेदस मसुभ्यं व्वसुवित्तमम् । अग्ने सम्नाडभि
द्युम्न मभि सह आयच्छस्त्रेत्यथोपविश्य तृणान्यप-
लुम्पति ॥ ८ ॥

अथ गार्हपत्य मुपतिष्ठते । अथ मग्निर्गृहपति-
गार्हपत्यः प्रजाया व्वसुवित्तमः । अग्ने गृहपते-
ऽभि द्युम्न मभि सह आयच्छस्त्रेत्यथोपविश्य तृणा-
न्यपलुम्पत्येतन्नु जुपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोप-
तिष्ठन्ते ॥ ९ ॥

स वै खलु तूष्णीं मेवोपतिष्ठेत् । इदं वै
 युस्मिन् वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान् मनुष्यो
 न्वेव तु मेव नार्हति वृक्तु मिदं मे त्वं गोपाय प्राहुं
 व्वत्स्यामीत्यथास्मिन्नेते श्रेयांसो व्वसन्ति देवा
 अग्नयः क उ तानर्हति वृक्तु मिदं मे यूयं गोपायत
 प्राहुं व्वत्स्यामीति ॥ १० ॥

मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति । स व्वेद
 गार्हपत्यः परिदुं मेद मुपागादिति तूष्णीं मेवाह-
 वनीय मुपतिष्ठते स व्वेदाहवनीयः परिदुं मेद मुपा-
 गादिति * ॥ ११ ॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति । स यत्र
 व्वेलां मन्यते तत् स्यन्वा† व्वाचं व्विसृजतेऽथ प्रोष्य
 परिच्य यत्र व्वेलां मन्यते तद्वाचं यच्छति स यद्यपि
 राजान्तरेण स्यान्नैव त मुपेयात् ॥ १२ ॥

स आहवनीय मेवाय ऽउपतिष्ठते । अथ गार्ह-
 पत्यं तूष्णीं मेवाहवनीय मुपतिष्ठते तूष्णीं मुपविश्य

* 'द्विति'— इति ग, 'द्विति'— इति घ, ङ ।

† 'स्यत्वा'— इति क, ग ; डा०-वेवर इष्टम् ।

तृणान्यपलुस्यति तूष्णीं मेव गार्हपत्यं मुपतिष्ठते
तूष्णीं मुपविश्य तृणान्यपलुस्यति ॥ १३ ॥

अथातो गृहाणा मेवोपचारः । एतद्ध वै गृह-
पतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्तस्ता इव भवन्ति
किं मयि मिह अदिष्यति किं वा करिष्यतीति स
यो ह तत्र किञ्चिद्वदति वा करोति वा तस्माद्
गृहाः प्रुन्नसन्ति तस्येश्वरः कुलं विदोऽभ्योरथ यो ह
तत्र न वदति न किञ्चन करोति तं गृहा उपस-
श्यन्ते न वा ऽग्रय मिहावादीन् किञ्चनाकरदिति
स यदिहापि मुक्रुञ्च इव स्याच्छु एव तत्तत्कुत् कुर्याद्
यद् वदिष्यन्वा करिष्यन्वा स्यादेषु उ गृहाणा मुप-
चारः ॥ १४ ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्भ्रमे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥ ४ ॥

एव मग्निहोत्रहोमोपस्थानं विधाय लघूपस्थानमन्त्रानपि
दर्शयति— “अथ हुत इति । अग्निहोत्रहोमानन्तरं “भूर्भुवः

स्वः, सुप्रजाः”—‘इति’ * अनेनैव मन्त्रेण आहवनीयम् ‘उप-
तिष्ठत’ † । पूर्वोक्तादुपस्थानमन्त्रजातादस्य ‡ मन्त्रस्यातिशय
माह—“तत् सत्येनेति । सत्यरूपा ह्येता व्याहृतयः ; त्रयी-
सारत्वात् । तथा चाम्नातम्—“भूरित्यृग्वेदाद्, भुव इति
यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्”—इति § । एवं व्याहृति-
रूपेण ॥ ‘सत्येनेव’ इमां मन्त्ररूपां ‘वाचं’ ‘समर्हयति’ । ‘तथा’
च ‘समृद्धया’ वाचा प्रागुक्तां सर्वा मपि ‘आशिषम्’ ‘आशास्ते’
प्रार्थयत इत्यर्थः । तदाशःसनप्रकारं दर्शयति—“सुप्रजा इति ।
‘प्रजाभिः’ पुत्रपौत्रादिरूपाभिः ‘सुप्रजाः’ शोभनप्रजोपेतः
‘स्याम्’ । एकः प्रजाशब्दोऽनुवादः । एवं “सुवीरो वीरैरिति ।
वीर्यवत्सः पुत्राः वीराः ; तेषां प्रजाशब्देन परिगृहीतत्वेऽपि
पुनः प्राधान्यव्यापनार्थं पृथगाशासन मिति द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

प्रागुक्तोपस्थानेनास्य समानकार्यकरणत्वात् विकल्प माह—
“यदिति । ‘अदः’ पूर्वोक्तं ‘दीर्घं’ बहुकर्तव्योपेतं बहुमन्त्र-
साध्यं यदनुपस्थानम्, तत् ¶ ‘आशीः’ फलप्रार्थनम् ‘एव’ । तथा
‘भूर्भुवः स्वः’—इतिमन्त्रसाध्यं सुपस्थानं मपि ** तादृगाशीर्युक्तम् ।
‘तत्’ ततः ‘एतावतेव’ उपस्थानेन ‘एतत्’ प्रागुक्तं ‘सर्वं’ फलम्
‘आप्नोति’ । अस्मिन्नुपस्थाने ऋषिवचनं संवादयति—“एतेन
न्वेवेति । ‘एतेनेव’ लघूपस्थानेनेव ‘वयम्’ अग्निम् ‘उपचरामः’
‘इति’ । यस्मादेवम् ‘आसुरिः’ महर्षिः ‘आह स्म’ उक्तवान्,

* वा० सं० ३. ३७. १ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १२ ।

‡ ‘मन्त्रगणादस्य’— इति च ।

§ ऐ० ब्रा० ५. ५. ७ ।

॥ व्याहृत्याहृतिरूपेण— इति ङ ।

¶ ‘सा’— इति च ।

** ‘मिति’— इति च ।

‘तस्मात्’ इदं मेवोपस्थानं कर्त्तव्यं मित्यर्थः । अत एव सूत्रात्—
“मूर्ध्नुवः स्वरिति वोभौ”—इति * ॥ २ ॥

अथ प्रवासं करिष्यता यजमानेन कर्त्तव्यं सुपस्थानं दर्शयति— “अथ प्रवक्ष्यन्निति † । ‘प्रवक्ष्यन्’ प्रवासं करिष्यन् विहिते गार्हपत्याहवनीयोपस्थाने ॥ ३ ॥

तत्र गार्हपत्योपस्थानं मनूय मन्त्रं विधत्ते— “स गार्हपत्यमिति ‡ । मन्त्रस्य तात्पर्यं साह— “प्रजाया इति । एष हि गार्हपत्यः ‘प्रजाया ईष्टे’ ; कृत्स्नाग्नियोनिभूतत्वात् । अतः ‘अस्मै’ गार्हपत्याय प्रजाया रक्षणार्थं परिदानं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रवक्ष्यतो यदाहवनीयोपस्थानं विहितम्, तदनूय मन्त्रं विधत्ते— “अथाहवनीयमिति § । “पशूनां हेत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ५ ॥

“अथ प्र वा व्रजतीति ॥ । एवं गार्हपत्याहवनीययोः समन्त्रकं सुपस्थानं कृत्वा, वाहनरहितयेत् स्वयं ‘प्रव्रजति’ गच्छति ; वाहनसहितयेत् अश्वरथादीन् ‘धावयति’ प्रगमयति । ‘स’ च गच्छन् ‘यत्र’ यस्मिन् देशे ‘वेलां’ स्वनिवासग्राममर्यादां ‘मन्यते’, तत्स्थानप्राप्तिपर्यन्तं वाचंयमो गत्वा, तदनन्तरं ‘वाचं विमृजेत्’ ; न तु ततः प्रागित्यर्थः ¶ ।

* का० श्रौ० सू० ४. १२. १२ । ‘समिदाधानानन्तरं पूर्वं माहवनीयं ततो गार्हपत्यम्’—इति तत्र या० दे० ।

† का० श्रौ० सू० ४. १२. १३ ।

‡ वा० सं० ३. ३७. २ ।

§ वा० सं० ३. ३७. ३ ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. १२. १४ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४. १२. १५ ।

पुनरागमनसमयेऽपि तस्थान भृति अग्निसमीपगमन-
पर्यन्तं वाग्यमनं विधत्ते— “अथ प्रोष्येति * । ‘प्रोष्य’ प्रवासं कृत्वा
पुनरागत्य यत्र ग्राममर्यादां मन्यते, तत्र वाचंयमी भवेत् । एवं
वाग्यतस्य यजमानस्य अग्न्यागारस्य च मध्ये यदि राजा आगच्छेत्,
‘तम्’ अग्निं नैव ‘उपेयात्’ उपगच्छेत् । वाग्यमनानन्तरं राजादि-
पूज्यजनसन्निधानेऽपि तदनादरेण अग्निगतमनस्त एव तत्समीपं
गच्छेदित्यर्थः † ।

तदेतद् विस्मय मापस्तम्बेन सूत्रितम् — “आरादग्निभ्यो वाचं
यच्छति, यद्येनं राजा पिताचार्यो वान्तरेणाग्नीन् स्याच्छदिर्दर्शनेन
माद्रियेत”— इति ‡ ॥ ६ ॥

प्रवक्ष्यन्नुपस्थानवैपरीत्य मागतोपस्थानस्य विधत्ते— “स
इति । आहवनीयस्यैव प्रथमं मुपस्थानं पश्चात् गार्हपत्यस्ये-
त्यर्थः § । गार्हपत्योपस्थानस्य पश्चाद्भावं प्रतिपादयति— “गृहा
वा इति । सर्वाग्नीनां योनित्वात् गृहपतिना संयुक्तत्वाच्च गार्ह-
पत्यस्य गृहशब्दाभिधेयत्वम् ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमकर्तव्यं माहवनीयोपस्थानं समन्वकं दर्शयति—
“स आहवनीय इति । मन्त्रस्य ॥ चाय मर्थः ।— हे ‘सम्राट्’
सम्यग्नाजमान ! ‘अग्ने !’ ‘विश्ववेदसं’ सर्वधनोपेतम्, ‘अस्मभ्यं’
अस्मदर्थं ‘वसुवित्तमं’ वसुनः धनस्य लभ्ययित्तमं त्वाम् ‘अगन्म’

* का० अ० सू० ४. १२. १७ ।

† का० अ० सू० ४. १२. १८ क ।

‡ आप० अ० सू० ६. २५. ५. ६ ।

§ का० अ० सू० ४. १२. १८ ख ।

॥ वा० सं ३. ३८. १ ।

अगमाम् । त्वं च 'द्युम्नं' धनं, 'सहः' पराभिभवहेतुभूतं बलं
च 'अभ्यायच्छस्व' अभिगमयेत्यर्थः ॥

समिदाधानं विधत्ते— "अथेति * । उपस्थानानन्तर माह-
वनीयसमीपे उपविश्य 'हृणानि' हृणोपलक्षितानि समिदादीनि
'अपलुम्पति' प्रच्छिद्य तस्मिन्ननीं प्रक्षिपेत् । "लुप्ल छेदने †"—
इति धातुः ॥ ८ ॥

आगतस्य यजमानस्य गार्हपत्योपस्थानं समन्त्रकं विधत्ते—
"अथेति । मन्त्रार्थसु ‡,— 'गृहपतिः' गृहाणां पालयिता, गृह-
पतिना संयुक्तः 'अय मग्निः' अस्मदीयायाः प्रजायाः 'वसुवित्तमः'
वसुनो धनस्य लभयित्वतम इति । परोक्षकृतः पूर्वोऽर्हर्चः, उत्त-
रसु प्रत्यक्षकृतः । हे 'अग्ने गृहपते !' । "अभियुञ्ज मित्यादि
पूर्ववद् योज्यम् ॥ ९ ॥

इत्थं प्रवक्ष्यदुपस्थान मागतोपस्थानं च समन्त्रकं विधाय, तयो-
रमन्त्रकपक्ष मप्याह— "स वा इति § । "इदं वा इत्यादि । इदं
खलु लोके दृश्यते,— ब्राह्मणादीना मन्यतमः 'श्रेयान्' श्रेष्ठः पुरुषो
'यस्मिन्' जने 'वसति', सः 'मनुष्यः' 'तं' श्रेयांसम् अनुसृत्य वर्त्त-
मानः, मदीयम् 'इदं' गृहादिकं 'त्वं गोपाय', 'अहं' प्रवासं
करिष्यामीति एवं नियोगतो 'वक्तुं' 'नार्हति' ; यथैवं लोके, तथा
'यस्मिन्' यजमाने 'एते श्रेयांसो वसन्ति' ; के पुनस्ते ? इति,
उच्यते— यजमाने निवसन्तस्ते श्रेयांसः 'अनयः' गार्हपत्याद्याः ;

* का० श्रौ० सू० ४. १२. १६ ।

† तु० उ० १५१ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ३६. १ ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १२. २० ।

‘क उ’ नाम ‘तान्’ ‘इदं मे यूयं गोपायत’ इत्येवं नियोगेन ‘वक्तुं मर्हति’ । अतः प्रजां मे सख्यं मे पशून् मे पाहीत्येवं नियोगरूपतया मन्त्रो न प्रयोक्तव्य इत्यर्थः ॥ १० ॥

मन्त्रप्रयोगाभावेऽपि प्रजापालनादिविषया बुद्धिस्तेषां स्वयं मेव भवतीत्याह— “मनो ह वै देवा इति । ‘मनुष्यस्य’ ‘मनः’ यद्विषयं तत् सर्वं ‘देवाः’ स्वयं मेव सर्वतो ‘जानन्ति’; अतः ‘सः’ ‘गार्हपत्यः’ अपि यजमानस्य मनोगतं स्वयं मेव ‘वेद’ जानाति । किमिति, ‘परिदां’ परिदानं रक्षणम् उद्दिश्य ‘मा’ माम् ‘इदम्’ इदानीम् ‘उपागात्’ उपगतोऽयं यजमान ‘इति’ । यस्मादेवं जानाति, तस्मात् स गार्हपत्यस्तूष्णीं मेवोपस्थेयः । आहवनीयोपस्थानस्यापि तूष्णीं कर्त्तव्यता माह— “तूष्णीं मेवाहवनीयमित्यादिना । योजना तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥ ॥ १२ ॥ ॥ १३ ॥

एवं प्रवासादागतस्य यजमानस्यानिविषयं कर्त्तव्यं सुपदिश्य गृहविषयं मपि तद् वक्तुं प्रतिजानीते— “अथात इति * । उपचरणं सुपाचारस्तु वक्ष्यत इति शेषः । “गृहा मा विभीतेति † मन्त्रेणोपस्थानं विधित्वुस्तेषां भयसम्भावना माह— “एतद् वा इति । ‘प्रोषुष’ प्रवासं कृतवतो यजमानात् ‘गृहाः’ ‘समुत्पन्ना भीताः’ इव ‘भवन्ति’ । भीतिकारणं माह— “किं मय मिति । ‘अयं’ यजमानोऽस्मद्विषयं ‘किं वदिष्यति?’ किं वा करिष्यति?’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तेषां भयशङ्का । “स यो हेत्यादि । ‘सः’ खलु यजमान आगत्य तत्र “गृहा मा विभीतेत्येतन्मन्त्रेण उपस्थानं विना किञ्चिद् वदन् कुर्वन् वा भवति,

* का० श्रौ० सू० ४. १२. २१ ।

† वा० सं० ३. ४१. १ ।

अस्मद्विषये क्रुद्ध एवासौ वर्त्तत इति । 'तस्मात्' यजमानाद्
'गृहाः' प्रचसन्ति' प्रकर्षेणोद्भिजन्ते ।

असु ; गृहाणां त्रासे को दोष इत्यत आह— "तस्येश्वर इति ।
'तस्य' यजमानस्य 'कुल' वंशं 'विचोव्योः' विनष्टं कर्त्तुम्
'ईश्वरः' । ईश्वर इति व्यत्ययेनैकवचनम् * । ईश्वराः, गृहाः
समर्था भवन्ति ।

"अथ यो हेत्यादि । यस्य गृहानुपगत्य किमपि न वदति,
न करोति च, मौनमेव केवलं भजते, "गृहा मा बिभीत"—इति
मन्त्रेणोपस्थानं वा करोति, 'तं' यजमानं गृहाः 'उपसंश्रयन्ते'
उपगच्छन्ति । उपसंश्रयतां तेषां मभिप्राय माह— "न वा इति ।
'न' खल्वयं यजमानः 'इह' अस्मिन् समये 'किम्' अपि 'न' 'अवा-
दीत्', 'किम्' अपि च 'न' 'अकरत्' अकार्षीत् ; यदि अस्मदपराधः
स्यात्, तदा तद्विषयं वदिष्यति, यत् किञ्च करिष्यति च ; तस्मात्
अस्य यजमानस्य अस्मद्विषयः क्रोधो नास्तीत्यनेनाभिप्रायेण त
उपसंश्रयन्त इत्यर्थः ।

"स यदिहापीत्यादि । 'इह' अस्मिन् गृहविषये यद्यपि
'सः' आगतो यजमानोऽपराधश्रवणात् 'क्रुद्धः' 'इव' एव 'स्यात्',
'ततः' तस्मादागमनदिवसात् 'श्वः' अनन्तरदिवसे 'एव' 'तत्'
वक्तव्यं कर्त्तव्यं वोपचारनिवृत्तये प्रयुञ्जीत ; न त्वागमनदिवसे
इत्यर्थः ॥

तदुक्तं सूत्रकृता— "गृहा मा बिभीतेति (वा० सं० ३.४१.)-
गृहानुपतिष्ठते †, चेमाय व इति (वा० सं० ३.४३.२.)

* पा० ३. १. ८५ सू० श्लो० वा० ।

† 'गृहानुपैति'— इति मुद्रितसूत्रग्रन्थपाठः ।

प्रविशति, न हिंस्यात् गृह्यान् कामः”-इति * ॥ १४ ॥
३ [४. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्.)

प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि
व्वि नो धेहि यथा जीवामेति ततो देवा यज्ञोपवी-
तिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीद्
यज्ञो वोऽन्न ममृतत्वं व जुर्वः सूर्यो वो ज्योति-
रिति * ॥ १ ॥

अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः सथ्यं जान्वा-
च्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासि-मासि वोऽशनः स्वधा
वो मनोजवो वश्चन्द्रमा वो ज्योतिरिति † ॥ २ ॥

* “तस्मिन् गृहागमनदिवसे ‘गृह्यान्’ गृहे भवान् भार्यापुत्रभृत्यादीन्
अपराधे सत्यपि ‘न हिंस्यात्’ अनिष्टविरूपभाषणताडनादिना नोच्चाटयेत्”—
इति तत्र या० दे० ।

†, ‡ ‘रिति’— इति क, घ, ङ ।

अथैनं मनुष्याः । प्रावृता उपस्थं कृत्वोपा-
सीदंस्तानब्रवीत् सायम्प्रातर्व्वीऽशनं प्रजा वो मृत्यु-
व्वीऽग्निव्वी ज्योतिरिति * ॥ ३ ॥

अथैनं पशुव उपासीदन् । तेभ्यः स्वेषु मेव
चकार यदैव यूयं कदा च लुभाध्वे यदि काले
यद्यनाकालेऽथैवाश्रायेति † तस्मादेते यदैव कदा च
लुभन्ते यदि काले यद्यनाकालेऽथैवाश्रान्ति ॥ ४ ॥

अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः ।
तेभ्यस्तमश्च मायां च प्रददावस्त्यहैवासुरमायेतीव
पराभूता ह त्वेव ताः प्रजास्ता इमाः प्रजा-
स्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्यदधात् ॥ ५ ॥

नैव देवा अतिक्रामन्ति । न पितुरो न पशवो
मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति तस्माद्यो मनुष्याणां
मेदत्यशुभे मेदति विहृच्छति हि न ह्ययनाय च न
भवत्यनृतं हि कृत्वा मेदति तस्मादु सायम्प्रातरा-
श्वेव स्यात् स यो हैवं विद्वान्त्सायम्प्रातराशी भवति
सुर्व्वं हैवायुरिति यदु ह किञ्च व्याचा व्याहरति तदु

* 'रिति'— इति क, घ, ङ ।

† 'ऽथैवाश्रीतेति'— इति सा० सम्मत इति डा० वेङ्कटः ।

हैव भवत्येतद्भि देवसत्त्वं गोपायति तु द्वैतत्तेजो नाम
ब्राह्मणं य एतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम् ॥ ६ ॥

तद्वा ऽएतत् । मासि-मास्येव पितृभ्यो ददतो
युदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्दृष्टेऽयैभ्यो ददात्येष वै
सोमो राजा देवाना मुन्नं यच्चन्द्रमाः सु एतां
रात्रिं क्षीयते तस्मिन् क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं
करोत्यथ यदुक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्याद्देवेभ्यश्च
पितृभ्यश्च तस्माद् युदैवैष न पुरस्तान्न पश्चाद्दृष्टे-
ऽयैभ्यो ददाति ॥ ७ ॥

स वा ऽअपराह्णे ददाति । पूर्वाह्णे वै
देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणां मपराह्णः पितॄणां
तस्मादपराह्णे ददाति ॥ ८ ॥

सु जघनेन गार्हपत्यम् * । प्राचीनावीती भूत्वा
दक्षिणासीन एतं गृह्णाति स तत एवोपोत्थायो-
त्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्ब्रह्मन्ति सकृत्
फलीकरोति सकुटु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्
सकृत् फलीकरोति ॥ ९ ॥

तु श्रपयति । तस्मिन्निधिश्रित ऽआज्यं प्रत्यान-

Padumawati, Face. 1-4 @ 2/	...	Rs.	8	0
Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/ each	1	14
Prāk ta Paingalam, Fasc. 1-7 @ 1/ each	2	10
Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	1	14
Ditto (English) Part II, Fasc. 1	12
Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1	1	8
Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	7	8
Parācara, Institutes of (English)	0	12
Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each	2	4
* Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10 ; II, 1-6 ; III, 1-7 ; IV, 1-6 ; V, 1-8 @ 1/ each Fasc.	12	6
Sāṅkhyā Sūtra V. tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/	1	8
Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each	2	4
Sraddha Kriya Kaumudī, Fasc. 1-6	2	4
Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 1/12/	0	12
Suddhi Kaumudī, Fasc. 1-3	1	2
* Taittereya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/ each	9	0
Tāpdyā Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each	7	2
Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/12/	3	0
Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/ each	14	4
Tattvarthadigama Sūtram, Fasc. 1-3	1	2
Trikāṇḍa-Māṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/	1	2
Upamita-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/ each	3	0
Uvāsagadaśo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/12/	4	8
Vallala Carita, Fasc. 1	0	6
Varṣa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/	2	4
* Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6 ; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/ each	4	8
Vidhano Parigata, Fasc. 1-7	2	10
Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each	2	10
Vṛhat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6	2	4

Tibetan Series.

Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/ each	4	0
Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5 ; Vol. II, Fasc. 1-3 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	14	0
Rtogs brjod dpag khkharī Śiñ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5 ; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	10	0

Arabic and Persian Series.

* Ālamgīrnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/ each	4	14
Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/12/	2	4
Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each	22	0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each	29	12
Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each	37	0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8 ; Vol. II, Fasc. @ 1/ each	9	0
Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger	0	6
Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each	7	2
Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2	2	0
Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each	3	0
Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each	21	0
Fahrang-i-Rashidi, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each	14	0
Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/12/ each	3	0
Futūh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/ each	3	6
Ditto of Āzādī, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each	1	8
Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1	0	12
History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each	4	8
Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each	1	2
Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/12/ each	38	4
Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9 ; Vol. II, Fasc. 1-9 ; Vol. III, Fasc. 1-10 ; Index to Vol. I, Fasc. 10-11 ; Index to Vol. II, Fasc. 10-12 ; Index to Vol. III, Fasc. 11-12 ; @ 1/6 each	13	2
Maghāzi of-Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6 each	1	14

* The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ / / each	Rs	5	10
Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes; Vol. III, Fasc. 1 @ /12/ each	...	12	0
Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ / / each	...	7	2
Ma'āsir-i-Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ / / each	...	2	4
Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1	...	0	6
Nizāmi's -Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ /12/ each	...	1	8
Riyāzu-s-Salātin, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each	...	1	14
Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5	...	3	12
Tabaqāt-i-Nāsiri, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each	...	1	14
Ditto (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each	...	10	8
Ditto Index	...	1	0
Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ / / each	...	2	10
Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each	...	2	4
Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1/8/ each	...	3	0
Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1	...	0	12
Wis o-Rāmin, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each	...	1	14
Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ / / each	...	6	6

ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX. @ 10/ each ... 20 0
2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ / / per No. ; and from 1870 to date @ / / per No.
3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1849 (7), 1850 (6), 1851 (8), 1852 (8), 1853 (7), 1854 (8), 1855 (7), 1856 (7), 1857 (8), 1858 (8), 1859 (7), 1860 (8), 1861 (7), 1862 (8), 1863 (8), 1864 (8), 1865 (8), 1866 (8), 1867 (8), 1868 (8), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (8), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (8), 1876 (8), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (8), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1896 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8 per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. I, No. 1, 1905, @ 1-s per No. to members and Rs. 2/ per No. to Non-members.
5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0
A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., J.A.S.B., 1878) ... 4 0
Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., J.A.S.B., 1858) ... 2 0
Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., J.A.S.B., 1875) ... 4 0
6. Anis-ul-Musharrahin ... 3 0
7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 0
8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
9. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 10/ each ... 32 0
10. Jawāmlu-l-ilm ir-riyyāzi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
11. Khizānatu-l-ilm ... 4 0
12. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each ... 40 0
13. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
14. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
15. Tibetan Dictionary, by Csoma de Kőrös ... 10 0
16. Ditto Grammar ... 8 0
17. Kacmirābdām tā, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
18. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
19. Mémoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmir, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0

Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

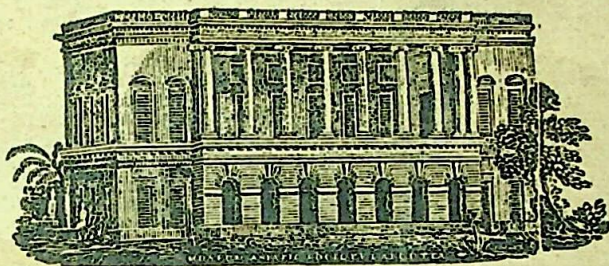
7-9-05.

BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-P.

BIBLIOTHECA INDICA :
A
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1133.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यवृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् ॥

THE CATAPATHA BRĀHMANA
OF THE WHITE YAJURVEDA,
WITH THE
COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCĀRYA.

EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS III.

~~~~~  
CALCUTTA :  
PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,  
1905.



# LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

## ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No. 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,

15, PICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO

HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some of the Fasciculi being out of stock.*

### BIBLIOTHECA INDICA.

#### Sanskrit Series.

|                                                                                                                |     |     |    |    |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|----|----|
| Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 1-4 @ /6/ each                                                             | ... | Rs. | 1  | 8  |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                             | ... | ... | 0  | 13 |
| * Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ /5/ each                                                                    | ... | ... | 4  | 2  |
| Aitarēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-5 @ /5/     | ... | ... | 7  | 8  |
| Aphorisms of Sāṃdilya, (English) Fasc. 1                                                                       | ... | ... | 0  | 12 |
| Aṣṭasahasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ /6/ each                                                      | ... | ... | 2  | 4  |
| Acavavaidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ /5/ each                                                                     | ... | ... | 1  | 14 |
| Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 2-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                         | ... | ... | 9  | 0  |
| Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                 | ... | ... | 0  | 12 |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ /6/ each                                                                  | ... | ... | 1  | 2  |
| Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                | ... | ... | 1  | 14 |
| Ēṣhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ /5/ each                                                                       | ... | ... | 1  | 8  |
| Ēṣhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ /5/ each                                                                | ... | ... | 2  | 4  |
| Bodhicaryavatāra of Cāntidevi, Fasc. 1-3                                                                       | ... | ... | 1  | 2  |
| Çatadusani, Fasc. 1-2                                                                                          | ... | ... | 0  | 12 |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                      | ... | ... | 8  | 0  |
| Çatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-3, Vol III Fasc 1-7...                                       | ... | ... | 6  | 6  |
| Çatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-10 @ /7/ each                                             | ... | ... | 3  | 12 |
| * Çaturvarga Çhinṭāmaṇi, (Text) Vols. II, 1-25; III. Part I, Fasc. 1-18                                        | ... | ... | 21 | 6  |
| Part II, Fasc. 1-10 @ /5/ each; Vol. IV, Fasc. 1-4                                                             | ... | ... | 3  | 12 |
| Çlokavartika, (English) Fasc. 1-5                                                                              | ... | ... | 4  | 8  |
| * Çrauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ /6/ each                                                      | ... | ... | 6  | 0  |
| Ditto Çāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ /5/ each; Vol 4, Fasc. 1 | ... | ... | 1  | 2  |
| Çri Bhāṣyam, (Text) Fasc. 1-3 @ /5/ each                                                                       | ... | ... | 0  | 12 |
| Dan Kriya Kaumudī, Fasc. 1-2                                                                                   | ... | ... | 2  | 10 |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...                                                               | ... | ... | 0  | 6  |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...                                                                            | ... | ... | 1  | 8  |
| Kāla Mādhava, (Text) Fasc. 1-4 @ /6/ each                                                                      | ... | ... | 2  | 4  |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                         | ... | ... | 4  | 8  |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ /12/ each                                                                         | ... | ... | 10 | 8  |
| Kāthā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each                                                           | ... | ... | 3  | 6  |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ /5/ each                                                                      | ... | ... | 2  | 4  |
| Lalitā-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ /12/ each                                                                | ... | ... | 4  | 2  |
| Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ /6/ each...                                                               | ... | ... | 9  | 0  |
| Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-3, @ /6/ each              | ... | ... | 1  | 2  |
| Manuṣṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ /7/ each                                                                | ... | ... | 6  | 12 |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ /12/ each                                                             | ... | ... | 4  | 14 |
| * Mīmāṃsā Darçana, (Text) Fasc. 7-19 @ /6/ each                                                                | ... | ... | 2  | 4  |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ /5/                                                                           | ... | ... | 3  | 9  |
| * Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ /6/ each                                                                | ... | ... | 2  | 10 |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ /5/                                                                       | ... | ... | 2  | 4  |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                    | ... | ... | 0  | 10 |
| Nyāyabinduṭikā, (Text) ...                                                                                     | ... | ... | 3  | 6  |
| Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ /7/ each                            | ... | ... |    |    |



यत्यग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्योऽथैव  
पितॄणां तस्मादधिश्चित ऽआज्यं प्रत्यानयति ॥ १० ॥

स उद्वास्याग्नौ द्वे ऽआहुती जुहोति देवेभ्यः ।  
देवान् वा ऽएष उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भुवति  
यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजतेऽथैतत् पितृयज्ञेनेवा-  
चारीत्तदु देवेभ्यो निह्नुते स देवैः प्रसूतोऽथैतत्  
पितृभ्यो ददाति तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे ऽआहुती  
जुहोति देवेभ्यः ॥ ११ ॥

स वा ऽअग्नये च सोमाय च जुहोति । स  
युदग्नये जुहोति सर्व्वं च ह्येवाग्निरन्वाभक्तोऽथ यत्  
सोमाय जुहोति पितृदेवत्यो वै सोमस्तस्मादग्नये च  
सोमाय च जुहोति ॥ १२ ॥

स जुहोति । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा  
सोमाय पितृमते स्वाहेत्यग्नौ मेक्षण मभ्यादधाति  
तत् स्विष्टकृद्भाजन मथ दक्षिणेनान्वाहार्य्यपचनं  
सकृदुल्लिखति तद्देदिभाजनं सकृदु ह्येव पराञ्चः  
पितरस्तस्मात् सकृदुल्लिखति ॥ १३ ॥

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति । स यदुनिधा-  
योल्मुक मथैतत् पितृभ्यो दद्यादसुररक्षसानि ह्येषा



मेतद्दिमथीरंस्तथो हैतत् पितॄणां मसुररक्षसानि न  
व्विमथते तस्मात् परस्तादुत्सुकं निदधाति ॥ १४ ॥

स निदधाति । ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना  
असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो  
ये भुरन्त्यग्निष्टांस्त्रोकात् प्रणुदात्यस्मादित्यग्निर्हि  
रक्षसा मपहन्ता तस्मादेवं निदधाति ॥ १५ ॥

अथोदपात्र मादायावनेजयति । असाववने-  
निक्षेत्येव युजमानस्य पितर मसाववनेनिक्षेति  
पितामह मसाववनेनिक्षेति प्रपितामहं तद्यथा-  
ऽऽशिष्यतेऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ १६ ॥

अथ सकृदाच्छिन्नान्युपमूलं दिनानि भवन्ति ।  
अग्न मित्र वै देवानां मध्य मित्र मनुष्याणां मूल  
मित्र पितॄणां तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदा-  
च्छिन्नानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात्  
सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ॥ १७ ॥

तानि दक्षिणोपसृणाति । तत्र ददाति स वा  
ऽङ्गति ददातीतीव वै देवेभ्यो जुह्वत्युद्धरन्ति मनुष्येभ्यो-  
ऽथेवं पितॄणां तस्मादिति ददाति ॥ १८ ॥



सु ददाति । असावेतुत्त ऽद्रुत्येव युजमानस्य  
 पित्रे ये च त्वा मन्वित्यु हैक ऽआहुस्तुदु तथा न  
 ब्रूयात् स्वयं वै तेषां सह येषां सह तस्मादु ब्रूया-  
 दसावेतुत्त ऽद्रुत्येव युजमानस्य पित्रेऽसावेतुत्त ऽद्रुति  
 पितामहायुसावेतुत्त ऽद्रुति प्रपितामहाय तद्यदितः  
 पराग् ददाति सक्तुदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥ १९ ॥

तत्र जपति । अत्र पितरो मादयध्वं यथाभाग  
 मावृषायध्व मिति यथाभाग मश्नीतेत्येवैतदाह ॥ २० ॥

अथ पराङ् पर्यावर्त्तते । तिरु-द्रव वै पितरो  
 मनुष्येभ्यस्तिरु द्रवैतद् भवति स वा ऽआ तमिती-  
 रासीतेत्याहुरेतावान् ह्यसुरिति \* स वै मुहूर्त्त मेवा-  
 सित्वा † ॥ २१ ॥

अथोपपल्यय्य जपति । अमौ मदन्त पितरो  
 यथाभाग मावृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्ये-  
 वैतदाह ॥ २२ ॥

अथोदपात्र मादायावनेजयति । असाववने-  
 निक्षेप्येव युजमानस्य पितर मसाववनेनिक्षेति

\* 'वांक्षसुरिति'— इति क ।

† 'त्वा'— इति घ, ङ ।



पितामह मुसावुवनेनिक्षेति प्रुपितामहं तद्यथा जक्षुषे-  
ऽभिषिञ्चेदेवं तत् \* ॥ २३ ॥

अथ नौवि मुद्दृह्य नुमस्करोति । पितृदेवत्या  
वै नौविस्तुस्त्रान्नीवि मुद्दृह्य नुमस्करोति यज्ञो वै नमो  
यज्ञियानेवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो नुमस्करोति  
षड् वा ऽऋतव ऋतवः पितुरस्तस्मात् षट् कृत्वो  
नुमस्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह  
पितर ईशत ऽएषो ऽएतस्त्राशीः कूर्मणोऽथावजिघ्रति  
प्रत्यवधाय पिण्डान्त्सु यजमानभागोऽग्नौ सक्तदा-  
च्छिन्नान्यभ्यादधाति पुनरुलमुक मुपि सृजति  
॥ २४ ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

अथामावास्यायां पिण्डपितृयज्ञस्य † मासि मासि कर्त्तव्यतां  
विधितुस्तदर्थं मास्यायिका माह— “प्रजापतिं वा इति । भवन्ति  
सङ्गावं प्रतिपद्यन्त इति ‘भूतानि’ । ‘प्रजाः’ देवपितृमनुष्याद्या  
वक्ष्यमाणाः । तासां मभिप्राय माह— “वि न इति । ‘नः’  
अस्मान् ‘वि देहि’ त्वा मित्यं कुरु — त्वा मित्यं कुरु इत्याज्ञापय ।

\* ‘तत्’— इति घ, ङ ।

† ‘प्रथमं पौर्णमास मनुविहितम्, अथुना दर्शस्यानुविधानं करिष्यन् ततः  
प्राक्कालीनं पिण्डपितृयज्ञ मनुविदधाति’— इति या० दे० (स्क० ४. १. १.) ।



‘यथा’ येन प्रकारेण वयं ‘जीवाम’ जीवनवन्तो भवेम ‘इति’ अने-  
नाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

“ततो देवा इत्यादि । प्रजापतेरुपासनहेतुत्वेनोपसदनसमये  
देवादिभिर्व्यवलिङ्गं धृतम्, तत्तल्लिङ्गानुसारेण तेषां देवादीनां  
यज्ञादिविशेषभाक्तां प्रजापतिर्जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवानिति प्रवृ-  
त्त्यर्थः । “यज्ञो वोऽन्नमिति । हे देवाः ! ‘वः’ युष्माकं  
‘यज्ञः’ ‘अन्नम्’, अतो युष्माकमेव ‘अमृतत्वम्’; ‘ऊक्’ बलं च  
‘वः’ युष्माकमेव; ‘सूर्यः’ एव ‘वः’ युष्माकं ‘ज्योतिः’ ‘इति’ ।

एवं यज्ञोपवीतित्वादिलिङ्गयुक्तान् देवान् प्रेष्य, यज्ञादिचतुष्टयं  
प्रजापतिः तेषां जीवनहेतुत्वेनोपदिष्टवान् ॥ १ ॥

“अथैनं पितर इत्यादि । अत्राप्येवं योज्यम् । “मासि-  
मासीति । प्रतिमासं दर्शेऽनुष्ठीयमानं यत् पिण्डपितृयज्ञाख्यं  
हविः, तद् ‘वः’ युष्माकम् ‘अशनम्’; ‘स्वधा’-कारोऽपि ‘वः’  
युष्माकमसाधारणम्; मनस इव जवः ‘मनोजवः’, सोऽपि  
युष्माकमेव । सोमलोकवर्त्तिनां युष्माकं ‘चन्द्रमाः’ एव ज्योतिः  
भवत्विति ॥ २ ॥

“अथैनं मनुष्या इत्यादि । ‘प्रावृताः’ उत्तरवाससा संवृताः,  
कण्ठलम्बितवाससः \*, निवीतिन इत्यर्थः । अतएव तैत्तिरीय-  
कम्— “निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्, उपवीतं  
देवानाम्”—इति † । “उपस्थं कृत्वेति । यतः प्रजापतेरुपसदन-  
समये मनुष्यैरुपस्थप्रावरणं मनुष्ठितम्, अतएवदेवानीं भुक्त्यादि-  
समये उपस्थप्रावरणेनोपसीदन्ति । “प्रजा व इति । प्रजायन्त  
इति ‘प्रजाः’ पुत्रपौत्रादिरूपाः । “उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम्”—



इति \* ड-प्रत्ययः । “सृत्युर्व इति । देहारम्भकर्मोपजनितं मरणं ‘वः’ युष्माक मसाधारणी धर्म इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गवादिपशूना मपि प्रजापत्युपसदनं, तत्कृतजीवनचयजनितं मरणं, तदशनक्तृमिच्छाह— “अथैनं पशव इत्यादिना । “स्वेषं मेवेति । यथा देवपितृमनुष्याणां यन्त्रादिरूपां तत्कृतिं चकार, तथैव गवादिपशूना मपि तदुचिताहारकृतिं कृतवानित्यर्थः । तत्प्रकारं दर्शयति— “यदैवेति । गवाद्याः पशवो यूयं ‘यदा कदा च’ काले अकाले वा तृणादिरूप माहारजातं ‘लभाध्वै’, ‘अथ’ अनन्तर मेव तत् लब्धं तृणाद्याहारजातम् ‘अन्नाथ’ । ‘इति’-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्ति । “तस्मादेत इत्यादि । यस्मादेवं प्रजापतेः सकाशात् लब्धवराः, ‘तस्मात्’ ‘एते’ गवाद्याः पशवः तृणाद्याहारं ‘यदा एव कदा च लभन्ते’, ‘काले’ वा ‘अकाले’ वा, ‘अथ’ अनन्तर मेव तद् भक्षयन्ति ; न त्वस्मदादिवत् सायम्प्रातरादिकालविशेष मपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथासुरकृतं प्रजापतावुपसदनं परोक्षेण निर्दिशति— “अथ हैन मिति । ‘शखद्’ बहुकत्वः ‘असुरा अपि’ ‘उपसेदुः’ उपसदनञ्चक्रुरित्यभिज्ञाः कथयन्ति ।

एवं पितृमनुष्यादीना मुपसदनं मिव असुरकृतं मुपसदनं जिज्ञासित्वान्नाह— “तेभ्यस्तमश्च मायाञ्चेति । परोषां दृष्ट्या-च्छादकं † तमः, अघटनघटनशक्तिर्माया ‡ । तदुभयं यस्मात् प्रजापतिरसुरेभ्यो दत्तवान्, तस्मात् इदानीं मपि ‘असुरमाया’ असुरस्य स्वभूता मायेत्यस्तिव्यवहारः । अत एव ते मायाविन

\* पा० सू० ३. २. ६६ ।

† ‘दृष्ट्याच्छादकसामर्थ्य’— इति च ।

‡ ‘अघटितघटनशक्तिर्माया’— इति च ।



इत्याख्यायन्ते । “पराभूता ह त्वेवेति । ‘ताः’ अमुर्याः ‘प्रजाः’ देवादिवदन्नादीनां जीवनहेतूनां प्रजापतिसकाशादलाभात् केवलं तमोमायाभ्यां यस्ताः सत्यः पराभवं प्राप्ता इत्यर्थः । इत्थं प्रजापतिना देवादिभ्यः कल्पितां वृत्तिं प्रदर्श्य, तदनतिक्रमेण तेषां जीवनं प्रतिपादयति— “ता इति । ‘प्रजाः’ प्रागनुक्रान्ताः ‘इमाः’ देवपितृमनुष्याद्याः, ‘यथा’ येन प्रकारेण “यन्नो वोऽन्नम्”—इत्यादिना वृत्तिं प्रजापतिः कल्पितवान्, ‘तथैव’ व्यवस्थितां वृत्तिं नियमेन देवाद्या उपजीवन्ति ॥ ५ ॥

“नैव देवा इति । न तु ते प्रजापतेराज्ञा मतिक्रामन्ति । अथ मनुष्याणां मंशने नियमं विधितुरनियमप्रसक्तिं दर्शयितुं प्रजापतिः कृतेरतिक्रम सुपन्थस्यति— “मनुष्या एवेति । ‘एके’ च नाम ‘मनुष्याः’ अज्ञानवशात् प्रजापतिना कल्पितां प्रागुदाहृतां वृत्तिम् ‘अतिक्रामन्ति’ । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ मनुष्याणां मध्ये ‘यः’ ‘मेद्यति’, स्निह्यति, पुष्यतीति यावत् । “जि मिदा स्नेहने”—इति \* धातुः । स च मेद्यन्नं मनुष्यो धनादिजनितमदवशेन ‘अशुभे’ नरकपाताद्यनर्थहेतुभूते पापे ‘मेद्यति’ स्निह्यति, तात्पर्येण वर्तते । तस्मात् पापात् सः ‘विहर्षति’ अधः पतति । “हुर्च्छा कौटिल्ये”—इति † धातुः । “अयनाय चनेति । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे । पुण्यलोकगमनायापि ‘न हि भवति’ । कुत इत्यत आह— “अनृतं हीति । यस्मात् ‘अनृतम्’ असत्यम्, प्रतिषिद्धं ‘कृत्वा’ ‘मेद्यति’ प्रसन्नो भवति । इत्थं प्रजापत्याज्ञातिक्रमेणानियमदर्शनात् मनुष्येषु नियमापेक्षा विद्यत इति तात्पर्यार्थः ।

औपेक्षातिकं नियमविधिं दर्शयति— “तस्मादिति । साय-



आतरशितुं शील मस्येति 'सायम्मातराशी' । "सुष्यजाती णिनि-  
स्ताच्छित्ते"—इति \* णिनिः । 'एव'-कारेण अन्तरा भोजनं  
निवार्यते । विहित मनुष्य प्रशंसति— "स यो ह्येव मिति ।  
"यदु ह किञ्चेति उक्तभोजनकालनियमवान् यदपि किञ्चिद् 'वाचा'  
'व्याहरति' भाषते, तथैव यथार्थं भवति । 'हि' यस्माद्, असौ  
'एतत्' 'देवसत्यं' देवेन प्रजापतिना कल्पितं सत्यं 'गोपायति'  
रक्षति । "गुपूरक्षणे"—इति † धातुः । "गुपूधूपविच्छि"—इत्यायः  
प्रत्ययः ‡ । 'तच्च' तदेव सत्यं 'तेजो नाम' 'तेजः'-शब्दवाच्यतया  
प्रसिद्धम् । 'ब्राह्मणम्' ब्राह्मणसम्बन्धिरूपम् । कः पुनरसा-  
वौद्विग्विधं देवसत्यं गोपायतीति त माह— "य एतस्येति ।  
'एतस्य' प्रजापतेरुच्चरितरूपं 'व्रतं' 'चरितुं' 'यः' यजमानः  
'श्रुक्नोति', स देवसत्यं गोपायतीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

इत्थं पिण्डपितृयज्ञस्य मासि मासि कर्त्तव्यतां "मासि मासि  
वोऽशनं स्वधा वः"—इत्यादिना प्रजापतिवाक्येन प्रतिपाद्येदानीं तं  
विधत्ते— "तदा एतदिति । 'मासि मासि' प्रतिमासम् ।  
"नित्यवीक्ष्योः"—इति § द्विर्वचनम् । जीवतां हि मनुष्याणां  
सायम्मातरशनं विहितम्, मरणादूर्ध्वं वस्त्रादिरूपेभ्यः पितृभावं ॥  
प्राप्तेभ्यस्तेभ्यो मासि मास्येव पितृयज्ञरूपं मशनं दातव्यं मित्यभि-  
प्रायः ¶ । स च पितृयज्ञोऽमावास्याया मेव कर्त्तव्यो नान्यस्यां  
तिथाविति प्रतिपादयति— "यदैवैष इति । 'यदा' यस्मिन्नेव काले

\* पा० सू० ३. २. ७८ ।

† भा० प० ३६५ धा० ।

‡ पा० सू० ३. १. २८ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ 'वस्त्रादिरूपपितृभावं'— इति च ।

¶ "वस्तुन वदन्ति वै पितॄन् रुद्राँश्चैव पितामहान् । प्रपितामहांस्त्रा-  
दित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी"— इति म० सं० २. २८४ ।



‘एषः’ इन्दुः ‘न’ ‘पुनस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि, ‘पश्चात्’ पश्चिमाया मपि ‘न’ दृश्यते, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘एभ्यः’ पितृभ्यः पिण्डान् दद्यात् ।

पुरस्तात् पश्चात् न दृष्टे इत्येतदुपपादयति— “एष वा इति । ‘यत्’ यः ‘चन्द्रमाः’ नभसि दृश्यते, ‘एषः’ खलु ‘राजा’ राजमानः ‘सोमः’ ‘देवाना मन्त्रम्’ इति ; “य मादित्या अणुश्च माप्याययति”—इति मन्त्रवर्णात् \* । ‘सः’ वरुणः ‘एताम्’ अमा-  
वस्यादिवससम्बन्धिनीं ‘रात्रिं’ प्राप्य जीर्णः उदेति । तस्मिन् जीर्णे सति यः पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तथा च सति एभ्यः पितृभ्यो देवैः साकम् ‘असमदं’ कलहं न ‘करोति’ । ‘अथ’ ‘यद्’ यदि ‘अक्षीणे’ दृश्यमाने तस्मिन् सोमे चतुर्दश्यां प्रतिपदि वा पितृभ्यो हविर्दद्यात्, तदा देवेभ्यः पितृभ्यश्च कलहं कुर्यात् ; सोमस्य देवाना मन्त्रत्वेन भोक्तुं देवैरपि सन्निधानात् दीयमानहविर्विषयः कलहो भवेदित्यर्थः । “तस्मादिति, निगमनम् ॥ ७ ॥

अपराह्णकालं विधायोपपादयति— “स वा इति । अह्नः पञ्चधाविभक्तस्य चतुर्थी भागोऽपराह्णः, तस्मिन् पिण्डपितृयज्ञो-  
ऽनुष्ठेयः । अत एव सूत्रप्रते कात्यायनेन— “अपराह्णे पिण्ड-  
पितृयज्ञः, चन्द्रादर्शनेऽमावास्याया मिति † ॥ ८ ॥

तत्पकार माह— “स जघनेन गार्हपत्य मिति । गार्हपत्यस्य पश्चिमदेशे व्रीहिपूर्णस्य निर्वापार्थस्य शकटस्य दक्षिणतः आसीनः

\* तै० सं० २. ४. १४. २ ।

† का० श्रौ० सू० ४. १. १ । ‘पिण्डपितृयज्ञ इति वक्ष्यमाणस्य कर्मणः सञ्ज्ञा ; सा च पिण्डदानपदार्थस्यैवार्थानुगमात् पिण्डेः पितृणां यज्ञः पिण्डपितृयज्ञ इति, अतश्च होमजपादयस्तदङ्गम्”— इत्यादि ( या० दे० ) व्याख्यानञ्च तत्र द्रष्टव्यम् । आश्व० श्रौ० सू० २. ६. १ ; गृ० सू० २. ५ । साङ्गा० श्रौ० सू० ४. ३. १ ; ५. १३ ।



प्राचीनावीती एवं \* पितृयज्ञार्थं हविर्गृहीयात् । मन्त्रस्याविहितत्वात् तूष्णीं भवैतद् ग्रहणम् । अत एव सूचितञ्च— “अग्नेण गार्हपत्यं चरु मपूर्णं सुचं वा तूष्णीं गृहीत्वा”—इति १ ।

चतुर्थे गृहीतानां त्रीहीणा भवहननं विधाय प्रशंसति— “स तत एवेत्यादिना ‡ । ‘ततः’ तस्मात् हविर्ग्रहणस्थानात् । ‘उत्तरेणेति । दक्षिणाग्नेरदूरेण उत्तरत इत्यर्थः । “एनबन्ध-तरस्याम्”—इत्येनप् १ । “एनप् द्वितीया”—इति ॥ द्वितीया । “दक्षिणा तिष्ठन्निति । दक्षिणतस्तिष्ठन् । “दक्षिणादाच्”—इति ॥ आच् प्रत्ययः ।

ऐष्टिकहविष इव फलीकरणस्य त्रित्वं प्रसक्तं संपवदितुं सकृत्त्वं विधत्ते— “सकृदिति ‡‡ । एकवारं मेव फलीकुर्यात्, न तु त्रिः । तत्र हेतु माह— “सकृदु द्वेवेति । ‘हि’ यस्माद् ‘सकृत्’ एकवारं मेव ‘पराञ्चः’ पराञ्चो गताः त्रेताः ‘पितरः’ अभवन्, न तेषां पुनराहन्तिरस्ति, अतस्तेषां सकृत्त्वं मसाधारणे धर्मः ॥ ८ ॥

अपणं विधत्ते— “त मिति ११ । सकृत्फलीकृतांस्तण्डुलान् स्थाल्यां प्रक्षिप्य, तं चरुं दक्षिणाग्नौ अपयेदित्यर्थः । उद्वासनात् प्रागेव तस्मिंश्चरौ अभिधारणं विधत्ते— “तस्मिन्निति । ‘अधिश्रिते’ अग्नेरुपरि स्थापिते ‘तस्मिन्’ (एतस्मिन् ‡‡) चरौ पक्वे सति ‘आज्यं’ ‘प्रत्यानयति’ प्रतिक्षिपति । तदेतदुपपादयति— “अग्नौ वा

\* ‘एतं’— इति च ।

† का० औ० सू० ४. १. ५ क ।

‡ का० औ० सू० ४. १. ५ ख ।

§ पा० सू० ५. ३. ३५ ।

॥ पा० सू० २. ३. ३१ ।

¶ पा० सू० ५. ३. ३६ ।

\*\* का० औ० सू० ४. १. ६ ।

†† का० औ० सू० ४. १. ७ क ।

‡‡ नास्त्येतत् पदं च-पुस्तकादन्यत्र ।



इति । देवार्थं यदाज्यम्, तत् 'अग्नी' 'जुह्वति' यजमानाः । देवेभ्यो यदाज्यं देयं तत् होमेनेव दीयत इत्यर्थः । "उद्धरन्तीति । 'मनुष्येभ्यः' देये यत् (आज्यम्\*), तत् तेषां पुरस्तात् भोजनपात्रेषु 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पुरतः स्थापयन्तीत्यर्थः । "अथैव मिति । 'अथ'-शब्द उक्त-  
जैलक्षणे । पितॄणां तु एव मधिश्रितावस्थाया मेव चरावाज्य मवनेय  
मिति यथोक्तम्, एव मेव पितॄभ्य आज्यं देयम्, न त्वग्नौ होमेनापि  
पुरस्तादुद्धरणेनापि । "तस्मादिति, प्रतिज्ञालनिगमनम् ॥ १० ॥

अथ तस्य चोरोद्धासनपूर्वकं होमं विधत्ते — "स उद्वासेति ।  
उद्वासनानन्तरं 'देवेभ्यः' देवार्थम् 'अग्नी' 'हे आहुती' जुहु-  
यात् । यद्यपि 'अग्नये', 'सोमाय' इति द्वयोरेवान्न होमः, तथापि  
देवेभ्य इति सामान्याभिप्रायेण बहुवचनम् । अत एव सूत्रज्ञे—  
"अपयित्वाभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोति अग्नय इति सोमायेति  
च"—इति † ॥

ननु पितॄर्थेन हविषा देवेभ्यो होमोऽनुपपन्न इत्याशङ्कोप-  
पादयति—“देवान् वा इत्यादिना । 'यः आहितानिः', 'यः' च  
दर्शपूर्णमासयाजी 'एषः' यजमानो 'देवान्' उपावर्त्तते' उपाहृतः,  
अतस्तेभ्यो देवेभ्यो हविरवश्यं देय मिति भावः । "अथैतदिति ।  
'अथ'-शब्दोऽत्र वैपरीत्यद्योतकः । 'एतत्' एतर्हि देविकं कर्म  
परित्यज्य पितॄण्य कर्मणा 'अचारीत्' पितॄं कृतवानित्यर्थः ।  
तथा सत्यन्यदैयकर्मानुष्ठानेन देवानां कोपः स्यात्, अतस्तन्नि-  
वृत्तये पितॄण्य कर्मणि 'देवेभ्यः' होमेन तदपराधं 'निह्रुते' अप-  
नयति, प्रीणयति वा । एवं होमेन तोषितैः 'देवैः' 'प्रसृतः' अनु-

\* नास्त्येतत् भदं द्व-पुस्तकादन्यत्र ।

† का० श्रौ० सू० ४, १, ७ क, ७ ख ।



ज्ञातः 'सः' यजमानः 'अथ' अनन्तर मेव 'एतत्' हविः 'पितृभ्यः' दद्यात् । उक्त मर्थं निगमयति— "तस्मादिति ॥ ११ ॥

देवेभ्य इति साधारण्येनोक्तं विशिनष्टि— "स वा इति । इतरान् देवान् परित्यज्य अग्नेः सोमस्य च हवने कारण माह— "स यदम्य इति । 'सर्वत्र' देवेषु पित्रेषु च सर्वेषु कर्मसु 'अग्निः' 'अन्वाभक्तः' अनुप्रविष्टो भवति; न ह्यग्नि मन्तरेण देविकं पितॄन् वा किञ्चित् कर्म निष्पद्यते, अतोऽत्रानेहोमो युक्त इत्यर्थः । "पितृदेवयो वा इत्यादि । यतः "चन्द्रमा वो ज्योतिः"—इति \* प्रजापतिः पितॄणां ज्योतिष्टेन चन्द्रमसं कल्पितवान्, अतः स 'सोमः' पितृदेवत्यः । अत एव धूमादिमार्गेण पितॄणां चन्द्रलोकप्राप्तिः समान्नाता— "चन्द्रमस मेव ते सर्वे गच्छन्ति"—इति† । यत एवं अतः पितॄन् कर्मणि सोमाय युक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

उक्तदेवतयोर्होममन्त्रौ ‡ विधत्ते— "स जुहोतीति । 'कव्यं' पितॄन् हविः, तद् वहति प्रापयतीति 'कव्यवाहनः' । "कव्यपुरीष-पुरीषेषु"—इति § जुष्ट । एतच्च पितॄणां मन्त्रसाधारणं नाम-धेयम् । अत एवान्नायते— "त्रयो वा अग्नयो हव्यवाहनो देवानां, कव्यवाहनः पितॄणां, सहराजा असुराणाम्"—इति ॥ । 'कव्य-वाहनाय अग्नये' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मसु । पितृगणैर्युक्ताय 'सोमाय' इदं हविः 'स्वाहा' सुहुत मसु ॥

मेचणस्याग्नौ प्रक्षेपं विधत्ते— "अग्नाविति ¶ । चरु मालोद्य

\* १६० ए० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

† द्वा० उप० ५, १०, ५ ।

‡ तौ च मन्त्रौ वा० सं० ३, २६, १, २ ।

§ पा० सू० ३, २, ६५ ।

॥ तै० सं० २, ५, ८, ११ ।

¶ का० श्रौ० सू० ४, १, ८ क ।



येन काष्ठेन गृहीत्वा हयते, तत् 'मेक्षणम्' । 'तत्' अभ्यादानं 'स्त्रिष्ट-  
कज्ञाजनम्' अस्य होमस्य स्त्रिष्टकस्थानीयम् ॥

अथ पिण्डप्रदानाय स्थानविशेषं तत्संस्कारश्च विधाय प्रश-  
सति— “अथ दक्षिणेनेति \* । ‘अथ’-शब्दोऽनान्यप्रतिषेधार्थः ।  
दक्षिणानेरदूरेण स्फोऽन ‘सक्तदुस्त्रिखति’ एकयत्नेन दक्षिणप्राचीं  
लेखां कुर्यात् † । ‘तत्’ उल्लिखितं स्थलं ‘वेदिभाजनं’ वेदिस्थानी-  
यम्, तत्कार्यकर मित्यर्थः । “सक्तदु स्त्रेवेत्यादि, उक्तार्थम् ॥ १३ ॥

उल्लिखितप्रदेशस्यान्ते अग्नेर्निधानं विधत्ते— “अथ परस्ता-  
दिति । ‘परस्तात्’ परस्मिन् विप्रकृष्टे, पर्यन्ते इत्यर्थः । विपक्षे  
बाधविधानपुरस्सर मेतदुत्सुकनिधानं सुपपादयति— “स  
यदिति ‡ । सुरविरोधीनि रक्षांसि ‘असुररक्षसानि’, ‘एषां’  
पितृणां स्वभूतम् ‘एतत्’ पिण्डरूपं हविः ‘विमथ्नीरन्’ अपहरेयुः ।  
“तथो हेति । तथा चोत्सुकनिधाने सतीत्यर्थः । ‘न विमथ्नुते’  
नापहरन्ति । “मन्य विलोडने”—इति § धातुः ॥ १४ ॥

विहिते उत्सुकनिधाने मन्त्रे विधत्ते— “स निदधातीति ।  
यदेतदुत्सुकनिधानं विहितम्, तत् “ये रूपाणि”—इत्यनेन ॥  
मन्त्रेण कर्त्तव्य मित्यर्थः । मन्त्रार्थस्तु,— ‘असुराः’ मायावशात्  
पितृणां रूपाणि ‘प्रतिमुञ्चमानाः’ धारयन्तः पितृर्थं दीयमानया  
‘स्वधया’ सह ‘चरन्ति’ वर्त्तन्ते । ‘ये’ च पूर्वं ‘परापुरः निपुरः’  
पूरणपिण्डदानेन युक्ताः सन्तो ‘भरन्ति’ हविर्हरन्ति । परापुरो

\* का० श्रौ० सू० ४. १. ८ ख ।

† तन्मन्त्रस्तु वा० सं० २. २६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. ६ ।

§ भा० प० ४२ घा० ।

॥ वा० सं० २. ३०. १ ; सा० म० ब्रा० २. ३. ४ ।



निपुर इति, परा-नि-पूर्वात् पृणोतेः सम्प्रदादिलक्षणे भावे क्विपि बहुव्रीहिः ; स च धातुरत्र पिण्डविषये दाने वर्तते । अत एवोक्त माश्वलायनेन— “तस्यां पिण्डान् निपृणीयात् पराचीनपाणिः”— इति \* । पुत्रपदनिर्वचनप्रसङ्गे यास्कोनाप्युक्तम्— “पुत्रः, पुरु त्रायते ; निपरणादा, पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा”—इति † । यद्वा ‘पराः’ प्रभूताः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘परापुरः’ ; ‘नि’ निरुद्धा अल्पाः ‘पुरः’ शरीराणि येषां ते ‘निपुरः’ ; महाकायाः अल्पकायाश्चेत्यर्थः । एवं प्रच्छन्नवेषा असुरा ये सन्ति, ‘तान्’ ‘अस्मात्’ ‘लोकात्’ पिण्डपितृयज्ञस्थानात् ‘अग्निः’ ‘प्रणुदाति’ । लोव्याडागमः ‡, प्रणुदत्वित्यर्थः । रक्षोनिहन्तृत्व मग्नेः प्रसिद्ध मिति व्याचष्टे— “अग्निर्हीति । ‘एवं निदधाति’ अग्निशब्दो-  
पेतेन मन्त्रेण निदध्यादित्यर्थः ॥ १५ ॥

पिण्डदानस्य प्राच्याङ्गत्वेनावनेजनं विधत्ते— “अथोदपात्र मिति § । ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्णं पात्रम् । “एकहलादौ पूरयि-  
तव्येऽन्यतरस्याम्”— इत्युदकशब्दस्योदभावः ॥ । “असावने-  
निक्ष्व”—इत्यवनेजनमन्त्रः ¶ । तत्रादशशब्दस्थाने सञ्चुद्धान्तं  
पित्रादीनां यथाक्रमं नाम निर्द्देष्टव्यम्,— हे यज्ञशर्मन् ! मम  
पितः ! ‘अवनेनिक्ष्व’ दास्यमानं पिण्डं भोक्तुम् आत्मीयौ पाणी  
शोधयेति मन्त्रार्थः । “णिजिर् शीचपोषणयोः”—इति \*\* धातुः ।  
एवं पितामहप्रपितामहविषयौ मन्त्रौ योज्यौ ।

\* आश्व० औ० सू० २. ६. १५ ।

† निरु० २. ३. २ ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० सू० ४. १. १० ।

॥ पा० सू० ६. ३. ५६ ।

¶ इद्वैव ब्राह्मणे समान्नात इति शेषः ।

\*\* जु० उ० ११ धा० ।



अस्यावनेजनस्य पिण्डदानात् प्राक्कर्त्तव्यतां दृष्टान्तेनोपपादयति— “तद्यथेति । ‘अशिष्यते’ भोक्ष्यमाणाय पुरुषाय यथा ‘अभिषिष्येत्’ उदकं हस्ते ददाति, ‘एवम्’ एव तत् पितृणां मवनेजनमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ तस्मिन्नुल्लिखिते स्थाने बर्हिः स्तरितुं तत्सम्पादनं विधत्ते— “अथ सक्तदाच्छिन्नानीति \* । एकयत्नेन छिन्नानि । ‘उपमूलं’ मूलसमीपे । ‘दिनानि’ खण्डितानि बर्हीषि पितृयज्ञार्यानि ‘भवन्ति’, एवङ्गुणविशिष्टानि बर्हीष्याहर्त्तव्यानीत्यर्थः । मूलसमीपे छेदनं उपपादयति— “अथ मिवेत्यादिना । अत एव तैत्तिरीयकेऽप्यान्नायते— “यत् परुषि दिनं तद् देवानां †”, यदन्तरा तन्मनुष्याणां, यत् समूलं तत् पितृणाम्”—इति ‡ । छेदनगतं सक्तत्वं मनूय स्तौति— “सक्तदाच्छिन्नानीति ॥ १७ ॥

बर्हिषः स्तरणं विधत्ते— “तानीति । ‘दक्षिणा’ दक्षिणतः, उल्लिखितप्रदेशे ‘तानि’ बर्हीषि ‘उपस्तृणाति’ । तथैव कात्यायनेन सूत्रितम्— “उपमूलं सक्तदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा”—इति § । पिण्डदानं विधत्ते— “तत्रेति । ‘तत्र’ तस्मिन् बर्हिषा मास्तीर्णे देशे पिण्डान् दद्यादित्यर्थः । तत्र प्रकारविशेषं मभिनयेन विधत्ते— “स वा इतीति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण अङ्गुतर्जन्योर्मध्येन पितॄण तीर्थेनेत्यर्थः । देवमनुष्यसम्पदानके दाने तद्वैपरीत्यकथनेनोपपादयति— “इतीति वै देवेभ्य इति । अनेन खलु

\* का० औ० सू० ४, १, ११ ।

† “परुषि पर्वसन्धौ, दिनें क्षिप्रम्, तादृशं बर्हिर्बर्हिसितत्वात् देवानां धियम्”—इति च तै० सं० १, ६, ८, ५ सा० भा० ।

‡ तै० ब्रा० १, ६, ८, ५, ६, ७ ।

§ का० औ० सू० ४, १, ११ क ।



प्रकारेण अङ्गुल्यग्रेण देवतीर्थेन 'देवेभ्यः' हवींषि 'जुह्वति' ।  
 'मनुष्येभ्यः' तु यथायोगं भोक्तव्यमन्नम् 'उद्धरन्ति' उद्धृत्य पात्रान्तरे  
 स्थापयन्ति । न तु तत्र देवपित्रादितीर्थविशेषोऽपेक्षितः । "अथैव  
 मिति । 'अथ'-शब्द उक्तवैलक्षण्यद्योतनार्थः । देवमनुष्यवैल-  
 क्षण्येन एव मुक्तेन पित्रेण तीर्थेन पितृणां सम्बन्धि हविर्देय  
 मित्यर्थः । "तस्मादिति । प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ १८ ॥

पितृपितामहप्रपितामहानां विहिते पिण्डदाने मन्त्रान्  
 विधत्ते— "स ददातीत्यादिना । "असावेतत्ते"—इति पिण्ड-  
 दानमन्त्रः \* । तत्र 'असौ'-इत्यस्य स्थाने पित्रादीनां नाम  
 सम्बुध्यन्तं निर्द्दिष्टव्यम् । "हे यज्ञशस्त्रम् ! 'एतत्' पिण्डरूपं  
 हविः 'ते' तुभ्यं मया दीयत इति मन्त्रार्थः । "ये च त्वा मनु"—  
 इति † वक्ष्यमाणशाखान्तराभिमतमन्त्रशेषनिरासार्थः 'एव'-कारः ‡ ।  
 अनेन च मन्त्रेण प्रथमं यजमानस्य पित्रे पिण्डं दद्यात् ; अनेनैव  
 पितामहप्रपितामहयोरपि पिण्डदानम् । तत्रैकीयं मतं सुप-  
 न्यस्य दूषयति— "ये च त्वेति । तस्य च मन्त्रशेषस्यायं मर्थः,—  
 हे पितः ! 'त्वाम्' 'अनु'-सृत्य 'ये' वर्तन्ते, तेभ्यश्चायं पिण्डः  
 त्वसिं करोत्विति । "स्वयं वा इत्यादि । पितृनन्तरभाविनां  
 यच्छब्दनिर्द्दिष्टानां तेषां 'स्वयं' पिण्डदाता सहभावी भवति । तथा  
 य एव एषां स्वयम् [सह] भावी, तेभ्यः पिण्डदाने स्वात्मने पिण्डं  
 दत्तवान् भवति ; अतस्तत्प्रतिपादको "ये च त्वा मनु"—इति मन्त्र-  
 भागो न वक्तव्य इत्यर्थः ।

\* का० औ० सू० ४. १. ११ ख । इहैव ब्राह्मणे समाज्जातः ।

† "ये च त्वा मन्विति चैके"— इति का० औ० सू० ४. १. १२ ।

‡ "असावेतत्त इत्येव"— इत्यत्र द्रष्टव्यम् ( १६५. पृ० १ पं० ) ।



प्रथमं पक्षं निगमयति— “तस्मादिति । “तद्यदिति  
इत्यादि । अनेन हि क्रमेण ते पिबित्वं प्राप्ताः— प्रथमं प्रपितामहः,  
पश्चात् पितामहः, ततः पितेति ; इमं क्रमं परित्यज्य पिण्डदाने  
‘इतः’ पिबित् आरभ्य प्रपितामहान्तं ‘पराक्’ पराचीनं पिण्डान्  
दद्यात् ; यतस्ते पितरः सकृच्च पराङ्मययुक्ता इत्यर्थः ॥ १९ ॥

पिण्डदानानन्तरं मन्त्रजपं विधत्ते— “तत्र जपतीति \* ।  
तत्रतं किञ्चित् पदं व्याचष्टे— “अत्रेति । मन्त्रार्थसु,— ‘अत्र’  
अस्मिन् देशे हे ‘पितरः !’ ‘मादयध्वम्’ दत्ता भवत, तदर्थं च  
‘यथाभागं’ स्वं स्वं भागं मनतिक्रम्य मया दत्तान् पिण्डान् ‘आह-  
षायध्वम्’ अग्नीतेति । हषायध्वमित्यस्यैतदर्थपरतां श्रुतिः स्वयं  
व्याचष्टे— “यथाभागं मग्नीतेत्येवैतदाहेति † ॥ २० ॥

जपानन्तरं परागावर्त्तनं विधत्ते— “अथ पराङ् पर्यावर्त्तत  
इति । पराङ्मुखः सन् पिण्डाभिमुख्यं विहाय ‡ पर्यावर्त्तते-  
त्यर्थः । एतदुपपादयति— “तिर इवेति । पितरो हि मनु-  
ष्येभ्यः तिरोभूताः ; अन्तर्धानशक्तियोगात् । अतः पितॄणां तिरो-  
धानेन भवितव्यम् । एतर्हि पिण्डान्तरपर्यावर्त्तमाने सति  
तेषां ‘तिर इव’ तिरोधानं मिव भवति । पर्यावर्त्तनकालस्य  
परिमाणं विधत्ते— “स वा इति § । स खलु परावर्त्तमानः  
‘आ तमितोः’ निरुद्धश्चासगतेरात्मनो यावत् तमनं ग्लानिः भवति,  
तावत् ‘आसीत इति’ केचित् ‘आहुः’ प्रतिपादयन्ति । “तसु  
ग्लानौ”—इत्यस्मात् । “भावलक्षणे स्तेण्कञ्वदिचरिडुतमि-

\* का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।

† वा० सं० २. ३१. १ ।

‡ ‘विच्छाय’— इति च ।

§ का० श्रौ० सू० ४. १. १३ ।



जनिभ्यस्त्वोसुन्”—इति \* तोसुन् प्रत्ययः । तत्रोपपत्ति माह—  
 “एतावानिति । एतावत्परिमाणो भवति । तस्मादेतावन्तं  
 काल मासीतेति । पक्षान्तर माह— “स वा इति । ‘सः’ खलु  
 ‘सुहृत्’ द्वादशक्षणात्मको यो सुहृत् सञ्ज्ञकः कालः , तावत्पर्य-  
 न्तम् ‘एव’ आसीतेत्यर्थः । एवकारः पूर्वोक्तपक्षव्यवच्छेदार्थः ।  
 ‘आसित्त्वा’—इति ‘क्त्वा’-प्रत्ययसु वक्ष्यमाणक्रियापेक्षः ॥ २१ ॥

उक्तकालानन्तरं पर्यावर्त्तमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते—  
 “अथेति † । ‘उपपत्त्यय’ पिण्डसमीपं परिप्राप्य । परिपूर्वा-  
 दयतेर्ह्यपि “उपसर्गस्थायतौ”—इति ‡ लत्वम् । “अमीमद-  
 न्तेति § । मन्त्रं जपेत् । अर्थस्तु,— ‘पितरः’ पिण्डपितृ-  
 देवताः ! ‘अमीमदन्त’ दृष्ट्वा अभूवन् । दृष्ट्यर्थान्मादयतेर्ह्यन्तात्  
 लुङि चङि रूपम् । ते च ‘यथाभागं’ स्वं स्वं भागं मनतिक्रम्य  
 ‘आहुभ्रायिषत्’ अभुचत । तत्र ‘आहुभ्रायिषत्’—इति षदस्य  
 विवर्चितं मयं माह— “यथेति । आहुपूर्वो वृषयतिरभ्यवहारे  
 वर्त्तते, तस्मात्लुङि बहुवचनान्तं मेतत् पदम्, अतः ‘आशिषुः’  
 ‘इति’ तस्य व्याख्यानम् । “अश् भोजने ॥”—इत्यस्मात्लुङि बहु-  
 वचने आशिषुरिति रूपम् ॥ २२ ॥

पिण्डदानात् प्रागिवेदानौ मयि पित्रादीना मुदकावनेजर्नं  
 विधत्ते— “अथोदपात्र मिति ¶ । “असाववनेनिच्छ”—इति \*  
 तन्मन्त्रः । तत्र त्रिष्वपि मन्त्रेषु ‘असौ’—इत्यस्य स्थाने पित्रा-

\* प्रा० सू० ३. ४. १६ ।

† का० औ० सू० ४. १. १४ ।

‡ प्रा० सू० ८. २. १६ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ ब्रा० प० ६० धा० ।

¶ का० औ० सू० ४. १. १५ क ।

\*\* एषोऽपि मन्त्र इहैव ब्राह्मणे आन्नातः ( १६५ पृ० १६ पं० ) ।



दीनां नामानि क्रमेण निर्दिशेत् । अर्थस्तु प्रागेव दर्शितः \* ।  
 एतदवनेजनं लोकश्रवणारेणोपपादयति— तद्यथेति । ‘तत्’  
 तत्र विषये निदर्शनं मभिधीयते । यथा ‘जक्षुषे’ भुक्तवते पुरु-  
 षाय मुखप्रक्षालनार्थं हस्ते उदकम् ‘अभिषिञ्चेत्’; ‘एवम्’ एव  
 ‘तत्’ पिण्डदानानन्तरमावि जलावसेचनं मित्यर्थः । ‘जक्षुषे’  
 इति, अटेलिटः कसौ “लिव्यन्वतरस्याम्”—इति † घसादेशः,  
 पुनश्चतुर्थ्यैकवचने सम्प्रसारणे च रूपम् ॥ २३ ॥

नमस्कारं विधत्ते— “अथ नीवि मिति ‡ । ‘नीविः’  
 परिधानीयस्य वाससो दशा, ताम् ‘उहृह्य’ विस्त्रंस्य § पितृन् ‘नम-  
 स्करोति’ । तत्र विस्त्रंसने कारणं माह— “पितृदेवत्येति ।  
 यतो ‘नीविः’ ‘पितृदेवत्या’ पितृदेवतार्था, पितृणां हस्तिकरीति  
 यावत् । “देवतान्तात् तादर्थ्यं यत् ॥” । ‘तस्मात्’ तां ‘नीविम्’  
 ‘उहृह्य’ विस्त्रंस्य प्रदर्श्य ते नमस्कारत्वाद्वा इत्यर्थः । नीवेः पितृ-  
 देवत्यत्वं तैत्तिरीयकेऽप्याज्ज्ञातम् ¶—“अज्ञेस्तूषाधानं, वायोर्वातपानं,  
 पितृणां नीविः”—इत्यादि \*\* । नमस्कारस्य प्रयोजनं माह— “यज्ञो  
 वा इति । नमस्कारेण हि पूजा गम्यते, ‘यज्ञः’ पूजात्मकः ;  
 “यज देवपूजा”—इति†† यजतेस्तदर्थत्वात् । अतो नमश्शब्दो यज्ञा-  
 त्मकः । तेन नमस्कारेण ‘एनान्’ पितृन् ‘यज्ञियान्’ यागार्हान्  
 ‘एव’ ‘करोति’ । “अन्नत्विभ्रां चखञी”—इति ‡‡ अर्हार्थे घञ्

\* २०६ ए० १५ प्र० द्रष्टव्यः ।

† पा० सू० २. ४. ४० ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. १. १५ ।

§ ‘विमुच्य’—इति क ।

॥ पा० सू० ५. ४. २४ ।

¶ तै० सं० ६. १. १. ११ ।

\*\* सायणीयं व्याख्यानं त्वस्याः श्रुतेः तै० सं० १. २. १ भाष्ये द्रष्टव्यम् ।

†† भा० उ० १००२ घा० ।

‡‡ पा० सू० ५. १. ७१ ।



प्रत्ययः । विहितश्च नमस्कारो “नमो वः”—इति \* मन्त्रेण कर्त्तव्यः ।  
 उक्तं हि कात्यायनेन— “नीविं विस्त्रंस्य नमो व इत्यञ्जलिं  
 करोति”—इति † । तस्मिंश्च मन्त्रे “षड्भ्यो नमः”—इति प्रयु-  
 ज्यते, तत्सङ्ख्या मनूय्य स्मृति— “षट् क्तवः”—इति ‡ । “नमो  
 वः पितरो रसाय”, “नमो वः पितरः शोषाय”—इत्येवं षड्वारं  
 नमस्कुर्यादित्यर्थः § । “ऋतवः पितर इति । वसन्ताद्युत्तुषु  
 प्रमीतस्य तत्तदनु रूपत्वप्राप्तेस्तादात्म्यव्यपदेशः । तथा चान्यत्र ॥  
 श्रूयते— “यस्मिन्नृतौ पुरुषः प्रमीयते, सोऽस्यामुष्मिंस्तोके भवति  
 ( यदि वसन्ते प्रमीयते, वसन्तो भवति ¶ )”—इत्यादि । तस्मात्  
 तेषां स्मृतूनां षट्सङ्ख्यात्वयोगात् तादात्म्यापन्नानां पितृणां नम-  
 स्कारोऽपि षड्वारः कर्त्तव्य इति युक्तं मुक्तम्— “नमो वः  
 पितरः”—इति ।

नमस्कारमन्त्रो निगदव्याख्यात इत्यभिप्रेत्य तच्छेषं सुपादाय  
 व्याचष्टे— “गृह्णान्नः पितरो दत्त इति”—इति \*\*\* । शेषसहितस्य  
 तस्य मन्त्रस्यायं मर्थः— हे पितरः ! युष्मत्सम्बन्धिने ‘रसाय’  
 वसन्तर्तुजाताय नमोऽस्तु । हे पितरः ! युष्मत्सम्बन्धिने ग्रीष्म-  
 जन्याय ‘शोषाय’ शोषणाय नमोऽस्तु । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।

\* वा० सं० २, ३२, १ ।

† का० श्रौ० सू० ४, १, १५ ख ।

‡ ‘षड्भिर्मन्त्रैः षडञ्जलीन्’— इति या० दे० ( ४, १, १५ सू० ) ।

§ ते च षट् मन्त्राः वा० सं० २, ३२, १—६ ।

॥ तै० ब्रा० १, ६, ८, ३ । तत्र ‘यस्मिन् वा ऋतौ’— इति पाठः ।

¶ “यदि वसन्ते”— इत्यादिरंशस्तत्र न दृश्यते ; सायणभाष्ये त्वस्ये-  
 षोऽशः, तै० सं० १, ८, ५ भाष्यं द्रष्टव्यम् । \*\* वा० सं० २, ३२, ८ ।



‘जीवः’ वर्षतो वृध्यर्थक्रियमाणो वेगः \* । ‘स्वधा’—इति अन्ननाम†, ब्रीह्यादिरूप मन्त्रश्च शरदादिषु पच्यत ; अतः शरदृतुसम्बन्धिने अन्नायेत्यर्थः । हेमन्तशिशिरयोर्हिमेन सर्वेषां पीडनात् तद्रूपौ पितृधर्मौ ‘घोरमन्यू’ । “नमो वः पितरः पितरो नमो वः”—इति ‡ व्यतिहारोक्तिरादरातिशयब्योतनार्था ।

एवं नमस्कृतान् पितॄन् प्रार्थयते—हे ‘पितरः !’ ‘नः’ अस्मभ्यम् ‘गृहान्’ पुत्रपौत्रादिरूपान् ‘दत्त’ प्रयच्छत § । पितॄणां दानसामर्थ्यं मन्त्रशेषस्य चाशीःपरत्वं स्पष्ट मिति व्याचष्टे—“गृहाणा मिति । ‘पितरः’ खलु ‘गृहाणाम्’ ईशते ईश्वरा भवन्ति । “अधीगर्थदयेशाम्”—इति ॥ कर्मणि षष्ठी । ‘एतस्य’ पिण्डपितृयज्ञाख्यस्य ‘कर्मणः’ ‘एषा’ ‘आशीः’ फलप्रार्थना ‘उ’ एवेत्यर्थः ।

पिण्डशेषस्याग्राणं विधत्ते—“अथावजिघ्रतीति । “प्रा गन्धो-पादाने ¶”—इत्यस्मात्कटि “प्राग्राध्मा”—इति \*\* जिघ्रादेशः । तथा च अवग्राणं ‘पिण्डान्’ पिण्डपात्रे †† ‘प्रत्यवधाय’ प्रतिक्षिप्य कर्त्तव्यम् । तच्चावग्राणं ‘यजमानभागः’ यजमानस्य स्वकीयोऽश इति विधेयभागापेक्षया पुंलिङ्गनिर्देशः । स्त्रीस्य बर्हिषः प्रतिपत्तिं विधत्ते—“अग्नाविति । ‘अभ्यादधाति’ प्रक्षिपती-त्यर्थः । उदमुकस्यापि संसर्जनं विधत्ते—“पुनरिति । “ये

\* “जीवाय, जीवनहेतुभूताय जलाय वर्षत्तवे”—इति महीधरः ।

† निघ० २. ७, १७ ।

‡ वा० सं० २. ३. ७ ।

§ वा० सं० २. ३२. ८ ।

॥ पा० सू० २. ३. ५२ ।

¶ भा० प० ६२६ घा० ।

\*\* पा० सू० ७. ३. ७८ ।

†† ‘ग्रात्रे’—इति छ ।



रूपाणि"—इति मन्त्रेण यदुल्लसुक् पुरस्तात् कृतम् \*, तदिदानीं  
पुनः संसृजेदित्यर्थः † ॥ २४ ॥ ४ [ ४. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

तदु होवाच कहोडः \* कौषीतकिः । अनयोर्वा  
ऽअयं द्यावापृथिव्यो रुसोऽस्य रुसस्य हुत्वा देवेभ्यो-  
ऽथेम मश्नामेति तस्माद्वा ऽआग्रयणेष्ट्या यजत  
ऽइति ॥ १ ॥

तदु होवाच याज्ञवल्काः । देवाश्च वा  
ऽअसुराश्चोभये प्राजापत्याः परुपृधिरे ततो  
ऽसुराउभयीरुपधौर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च

\* २०५ पृ० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० "पितृयज्ञेन सुवर्गं लोकं मगमधत्"—इत्यादिः (१. ६. ६.)  
अथ इह विचार्यः समन्तात्, तै० सं० १. ८. ५ अनुवाकश्चेद्दालोचयितव्यः ।

‡ 'कहोडः'—इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेवरः ; तत्त्वतस्तु  
उपान्त्यो ल एव डः पठ्यतेऽस्यां शाखायाम् ।



पशुवः कृत्ययेव त्वद्विप्रेसोव त्वत्प्रलिलिपुरुतेवं  
 चिद्देवानभिभवेमेति ततो न मनुष्या आशुर्न  
 पशुव आलिलिशिरे ता हेमाः प्रजा अनाशकेन  
 नोत्पराबभूवुः ॥ २ ॥

तद्देवाः शुश्रुवुः । अनाशकेन ह वा ऽद्रमाः  
 प्रजाः पुराभवन्तीति ते होचुर्हन्तेद् मासा मप-  
 जिघांसा मेति केनेति यज्ञेनैवेति यज्ञेन ह स्म  
 वै तद् देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्पा \* मासऽर्ष-  
 यश्च † ॥ ३ ॥

ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम-  
 ममेत्येव न सम्पादयान्चक्रुस्ते हासम्पाद्योचुराजि-  
 मेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जेष्यति तस्य न इदं  
 भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजि माजन्त ॥ ४ ॥

ताविन्द्राग्नी ऽउदजयताम् । तस्मादैन्द्राग्नी  
 द्वादशकपालः पुरोडाशो भवतीन्द्राग्नी द्वात्रिंश  
 धेय मुदजयतां तौ यजेन्द्राग्नी ऽउज्जिगीवाऽसौ  
 तस्यतुस्तद्विश्वे देवा अन्वाजग्मुः ॥ ५ ॥

\* 'कल्प'— इति घ. ड ।

† 'मासऽर्षयश्च'— इति क ।



क्षत्रं वा ऽइन्द्राग्नी \* । विश्वो विश्वे देवा  
युत्र वै क्षत्रं मुञ्जयत्यन्वाभक्ता वै तत्र विट् तद्विश्वान्  
देवानन्वाभजतां तस्मादेष वैश्वदेवश्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वा  
ऽइन्द्राग्नी नेत् क्षत्रं मभ्यारोहयाणीति तौ वा ऽउभा-  
वेव नवानां स्यातां यद्वि पुरोडाश इतरश्चरुरित-  
रस्तेनैव क्षत्रं मनभ्याहृढं तस्मादुभावेव नवानां  
स्याताम् ॥ ७ ॥

तु ऽउ ह विश्वे देवा ऊचुः । अनयोर्व्या  
ऽअयं द्यावापृथिव्यो रसो हन्तेमे ऽअस्मिन्नाभजा-  
मेति ताभ्या मेतं भागं मकल्पयन्नेतं द्यावापृथिव्य  
मेककपालं पुरोडाशं तस्माद् द्यावापृथिव्य एक-  
कपालः पुरोडाशो भवति तस्येयं मेव कपालं मेकेव  
हीयं तस्मादेककपालो भवति ॥ ८ ॥

तस्य परिचक्ष्वा † । यस्यै वै कस्यै च देवतायै  
हविर्गृह्यते सर्वं चैव स्विष्टकृदन्वाभक्तोऽयैतं सर्वं  
मेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवदति सा परिचक्ष्वातो  
हुतः पर्यावर्त्तते ॥ ९ ॥



तुदाहुः । पर्याभूद्वा ऽअय मेककपालो मोहि-  
 ष्यति राष्ट्र मिति नाख सा परिचक्षाहवनीयो वा  
 ऽआहुतीनां प्रतिष्ठा स युदाहवनीयं प्राप्यापि दश  
 कृत्वः पर्यावर्त्तत न तदाद्रियेत यदौत्त्वन्ये \* वृदन्ति  
 कस्तत्सम्भ मुपेयात्तस्मादाज्यस्यैव यजेदाज्यं च वा  
 ऽअनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसस्तत् प्रत्यक्षं मेवैने  
 ऽएतत् स्वेन रसेन मेधेन प्रौणाति तस्मादाज्यस्यैव  
 यजेत् † ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टोभयीना मोषधीनां  
 याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्या मिव  
 त्वद्विषु मिव त्वदुपजघ्नस्तुत आश्रन्मनुष्या आलिशन्त  
 पशवः ॥ ११ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य ‡  
 तथा कश्चन कृत्ययेव त्वद्विषेणेव त्वत् प्रलिम्पतीति  
 देवा अकुर्वन्निति त्वेवैष एतत् करोति य मु चैव  
 देवा भाग मुकल्पयन्त त मु चैवैभ्य एष एतज्जागं

\* 'यदौत्वन्ये'— इति क, ग ; 'यदौत्वंने'— इति च दृष्टे डा०-वेवरेण ।

† 'यजेत'— इति क, ग ।

‡ 'तन्नाहान्वेवैतस्य'— इति च दृष्टे डा०-वेवरेण ।



करोतीमा उ चैवैतुदुभयौरोषधोर्याश्च मनुष्या उप-  
जीवन्ति याश्च पशवस्ता अनमीवा अक्लिषाः  
कुरुते ता अखानमीवा अक्लिषा इमाः प्रजा  
उपजीवन्ति तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १२ ॥

तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा । अग्र \* मिव हीदु  
स यदोजानः स्याद्दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेताथैतेन  
यजेत यद्यु ऽअनीजानः स्याच्चातुष्पाशु मेवैतमोदुन  
मन्वाहाय्यपचने पचेयुस्तु ब्राह्मणा अग्नीयुः ॥ १३ ॥

इया वै देवा देवाः † । अहैव देवा अथ ये  
ब्राह्मणाः शुश्रुवाऽसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तद्यथा  
वृषट्कृतः ‡ हुत मेव मस्यैतद् भवति तत्रो यच्छ-  
क्रुयात्तद्दद्यान्नादक्षिणः हविः स्यादिति ह्याहुर्नाग्नि-  
होत्रे जुहुयात्समदः ह कुर्याद्यदग्निहोत्रे जुहु-  
यादन्यद्वा ऽआग्रयण मन्युदग्निहोत्रं तस्मान्नाग्निहोत्रे  
जुहुयात् ॥ १४ ॥ ५ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [ ४. ३. ] ॥

\* 'अग्रिय'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेवरः ।

† 'देवाः'— इति घ, ङ ।

‡ 'वृषट्कृतः'— इति घ, ङ ; 'वृषट्कृतः'— इति च इत्ये डा० वेवरः ।



अथ विधित्तिताया आग्रयणेष्टमंतमेदेन प्रयोजनं दर्शयंस्तावद्  
 कहोलस्य मत सुपन्यस्यति—“तद् होवाचेति । ‘तत्’ तत्र,  
 वक्ष्यमाणे आग्रयणेष्टिविषये ‘उवाच’ उक्तवान् ‘कौषीतकिः’  
 कुषीतकस्य पुत्रः । ता मुक्तिं दर्शयति—“अनयोरिति \* ।  
 योऽयं व्रीहियवाद्योषध्यात्मको रसः , सः ‘अयम्’ ‘अनयोः द्वावा-  
 पृथिव्योः’ ‘रसः’ ; द्युसम्बन्धिन्या वृद्ध्या भूमेरुत्पन्नत्वात् । ‘अस्य  
 रसस्य’ । कर्मणि षष्ठी † । इमं रसं देवेभ्यः प्रथमं ‘हुत्वा’  
 ‘अथ’ अनन्तरं हुतशिष्टम् ‘इमम्’ ‘अन्नाम’ भुञ्जामहे इत्यर्थः ।  
 ‘तस्मादिति, आग्रयणेष्टिविधिः ; यस्मादेवं कहोलेनोक्तम्,  
 ‘तस्मात्’ नवान्नस्य हुतशिष्टत्वसिद्धये ‘आग्रयणेष्ट्या’ यष्टव्य  
 मित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ याज्ञवल्क्याभिमतं प्रयोजनं दर्शयितुं प्रस्तौति—“तद्  
 होवाचेति । तत्रेतिहास माचष्टे—“देवाश्चेति । ‘प्राजापत्याः’  
 प्रजापतेः पुत्राः ‘पस्यधिरे’ स्रद्धां कृतवन्तः । “अपस्यधेया  
 मानृचुः”—इति ‡ क्वचित् सम्प्रसारणेन निपातनस्यैव लक्षणार्थ-  
 त्वात् लिट्यपि स्रधेः सम्प्रसारणम् । “उभयीरोषधीरिति ।  
 उभयविधा ह्योषधयः,— रुनुथान्नभूता व्रीहियवाद्याः , पश्व-  
 न्नभूतास्तुणाद्याश्च , ताः सर्वाः ‘कृत्ययेव त्वत्’ त्वच्छब्द एकशब्द-  
 पर्यायोऽविभक्तिकः । ‘त्वत्’ एकत्र ‘कृत्यया’ व्यापादयन् ‘इव’,  
 ‘त्वत्’ अन्यत्र ‘विषेण’ च ‘प्रल्लिलिपुः’ प्रकर्षेण लिप्ता अकुर्वन् ।  
 लेपनाभिप्राय माह—“उतैव मिति । ‘एवम्’ अपि ‘दिवान्’  
 ‘अभिभवेम इति’ तिरस्कार्यमेति । ‘ततः’ अनन्तरम् असुर-

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. १ ।

† पा० सू० २. ३. ६६ ।

‡ पा० सू० ६. १. ३६ ।



कृतं विषलेपं ज्ञात्वा 'मनुष्याः' 'न आशुः' न बुभुक्षिरे, 'पशवश्च'  
'न' भक्षयाञ्चक्रुः । केवलम् 'अनाशकेन' अनशनेन \* 'ता इमाः'  
सर्वाः 'प्रजाः' 'पराबभूवुः' पराभूता अभवन् ॥ २ ॥

"तद्दे देवाः शुश्रुवुरिति । देवाश्च तत्सर्वं माकर्ण्य केनोपायेन  
असुरकृतं सुपद्रवं परिहरामेति विचार्य, यज्ञेनेवेति निश्चित्य,  
'एषां' मनुष्यादीनां 'यत्' 'कल्पं' कल्पनीयं सम्पाद्यम् 'आस'  
तत् अकल्पयन् । न केवलं देवा एव, 'ऋषयः' अप्येव मेव  
अकल्पयन् ॥ ३ ॥

"ते होचुरित्यादि । प्रजानां मशनक्तृप्तिसाधनम् 'इदं', 'नः'  
अस्माकं मध्ये 'कस्य भविष्यति ?' 'इति' विचारिते 'ते' सर्वे देवाः  
'मम' इदं— 'मम' इदम् 'इति' 'न सम्पादयाञ्चक्रुः' सम्पादनं  
नासादितवन्तः । 'ते' च देवाः इत्थं परस्परं विप्रतिपत्तिं प्राप्य  
'आजिम्' आजिधावनम्, तन्नामुपपायं मेवाकल्पयन् । आजि-  
र्नाम गन्तव्यावधिभूतः पदार्थः, तम् ( अस्मिन् पदार्थे निष्पन्ने  
सति † ) 'अजामहे' धावाम । "अज गतिक्षेपणयोः"—इति ‡ ।  
तथा च 'नः' अस्माकं मध्ये 'यः' उज्जेष्यति, 'तस्य' 'इदं' 'हविः'  
'भविष्यति', 'इति' विचार्य, 'तथा' 'इति' अङ्गीकृत्य, 'तस्मिन्'  
विषये तं आजिधावनं कृतवन्तः ॥ ४ ॥

"ताविन्द्राग्नी इति । 'तौ' प्रसिद्धौ 'इन्द्राग्नी' आजिधावनेन  
तद्विः 'उदजयताम्' । यस्मादेवं तस्मादेव कारणात् 'अन्यान्'  
देवान् परित्यज्य आश्रयणेष्टौ प्रथमं हविः इन्द्राग्निदेवताकम्,  
द्वादशसु कपालेषु संस्कृतं पुरोडाशात्मकं भवति । अनेनाभि-

\* 'अनाशनेन'— इति च ।

† नास्त्येषोऽशुः च-पुस्तके ।

‡ भा० प० २३० धा० ।



प्रायेण ऐन्द्राग्नियागः प्रथमः कर्त्तव्य इति विधिरुनीतो भवति ॥

वैश्वदेवचरुरूपं द्वितीयं हविर्विधातुं विश्वेषां देवानां माजि-  
सम्बन्धमाह— “यत्रेति \* । ‘यत्र’ यस्मिन् समये उज्जितवन्तौ  
‘इन्द्राग्नी’ ‘तस्थतुः’ । जयतेर्लिट् कसौ “सन्लिटोर्जेः”—इति †  
अभ्यासादुत्तरस्य जकारस्य कुत्वम् । ‘तत्’ तस्मिन् समये विश्वे  
देवा नाम गणरूपा देवाः आगतवन्तः ॥ ५ ॥

वैश्वदेवस्य हविषः ऐन्द्राग्नानन्तर्ये कारणान्तरमाह— “चत्रं  
वा इति । देवेषु मध्ये ‘इन्द्राग्नी’ ‘चत्रं’ चतुरियजातिः, ‘विश्वे  
देवाः’ ‘विशः’ व्यैश्यजातिः । ‘यत्र’ खलु ‘चत्रं’ चतुरियो राज्या-  
दिकम् ‘उज्जयति’, ‘तत्र’ ‘विट्’ वैश्यजातिरपि ‘अन्वाभक्ता’  
भवति ; यस्मादेवं लोके, तस्मात् ताविन्द्राग्नी स्त्रविशः ‘विश्वान्  
देवान्’ ‘अन्वाभजताम्’ अन्वाभक्तान् कुरुताम् । “तस्मादित्यादि,  
वैश्वदेवयागविधिः ॥ ६ ॥

तस्य यागस्य पुराणव्रीहिनिष्पाद्यत्वं पूर्वपक्षत्वेन प्रतिपाद-  
यति— “तं वा इति । ‘पुराणानां’ पुरातनानां व्रीहीणां सम्ब-  
न्धिनं ‘तं’ वैश्वदेवं चरुं ‘कुर्यात्’ ‘इति आहुः’ अभिज्ञाः कथ-  
यन्ति ‡ । “चत्रं वा इति । तदुपपादनम्— “नैत् चत्र-  
मिति । नैव चतुरियजातेरुपरि वैश्यजातिं तत्समत्वेन ‘आरो-  
ह्याणि’ आरुढां करवाणीति ; सर्वथा हि चतुरियवैश्ययोर्वैषम्येन  
भवितव्यमित्यर्थः । प्रकारान्तरेण वैषम्यं दर्शयन्नुभयोरपि  
हविर्बोर्नवधान्यप्रकृतित्वमाह— “तौ वा उभावेव नवाना मिति ।

\* का० श्रौ० सू० ४. ६. २ ।

† पा० ७. ३. ५७ ।

‡ “पुराणानां वा चरुः”—इति का० श्रौ० ४. ६. ७ ।



“यद्दीति । ‘यत्’ यतः तयोरन्यतरः पुरोडाशः , अन्यतरश्चरुः ;  
‘तन्नेव’ वेलक्षणेन विशा ‘क्षत्रम् अनभ्यारुढन्’ क्षत्रियजाति-  
रनभ्यारुढा भवति । “तस्मादित्यादि , प्रतिज्ञापूरणार्थं निग-  
मनम् ॥ ७ ॥

अथ तस्या मेवाग्रयणेष्टौ तृतीयं द्यावापृथिव्यं हविर्विधातु  
माह— “त उ हेति । ‘विष्ट्वे देवाः’ ‘जवुः’ उक्तवन्तः । कथ  
मिति, नवधान्यरूपं हविः ‘अनयोः द्यावापृथिव्योः रसः’ इति  
प्रागुपपादितम् \* । ‘हन्त’—इत्यनुकम्पयाम् । ‘अस्मिन्’ नव-  
हविषि ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ वयम् ‘आभजाम’ प्रापयामेत्यर्थः । ते  
च ‘ताभ्यां’ द्यावापृथिवीभ्याम् ‘एतं’ हविर्भागम् ‘अकल्पयन्’, य  
एष द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशः , तम् । “तस्मादिति ,  
द्यावापृथिव्ययागविधिः । तस्य द्यावापृथिव्यस्य हविषः एकस्मिन्नेव  
कपाले संस्कार उपपादयति— “तस्येय मेवेति । ‘तस्य’ ‘इयं’  
भूमिः ‘एव’ ‘कपालम्’ पुरोडाशप्रपणाधिष्ठानम् ; ‘हि’ यस्मात्  
‘इयम्’ ‘एकेव’ एकाकारा भवति, ‘तस्मात्’ तद्देवत्यः पुरोडाशोऽपि  
‘एककपालः’ इति † ॥ ८ ॥

आज्येनैव द्यावापृथिव्योर्यागं विधितुः पुरोडाशपक्षे दोष  
मुपन्यस्यति— “तस्य परिचक्षेति । ‘तस्य’ एककपालस्य पुरो-  
डाशस्य काचित् ‘परिचक्षा’ निन्दा विद्यते । ता मेव दर्श-  
यति— “यस्या इति । सर्वेषु हि यागेषु ‘स्विष्टकृद्’ यागः ‘अन्वा-  
भक्तः’ अनुप्राप्तोऽस्ति ; “शेषात् स्विष्टकृते समवदति”—इतीष्टशिष्ट-  
प्रतिपत्तित्वेन तस्य विहितत्वात् ‡ । अथैवं सति अत्रैककपालं

\* पुरस्तादिहैव २१६ पृ० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. ४ ।

‡ १ का० ६ पं० १ ब्रा० द्रष्टव्यम् ।



पुरोडाशं 'सर्व मेव \* जुहोति', हविरन्तरवत् स्विष्टकृत्तान्नेऽग्नये  
'न अवद्यति'; अतोऽस्यैककपालस्य स्विष्टकृत्तयागाभावात् 'सा' एव  
'परिचक्षा' निन्दा । दोषान्तर मप्याह— "उतो हुत इति ।  
'उत उ' अपि च अग्नौ 'हुतः' सन् एककपालः पुरोडाशः 'पर्या-  
वर्त्तते' पर्यावर्त्तेत ॥ ८ ॥

"तदाहुरिति । 'तत्' तत्र विषये 'आहुः' ब्रह्मवादिनः  
कथयन्ति । किं मिति— 'अयम्' 'एककपालः' 'पर्याभूत्' पर्या-  
वृत्तोऽभूत्, तेन पर्यावर्त्तनेन 'राष्ट्रम्' एव पर्यावृत्तं सत् † 'मोहि-  
ष्यति' मूढं भविष्यतीति । इत इत्यत आह— "आहवनीय  
इति । आहवनीयो हि सर्वाहुतीना माधारभूतः । तत्प्राप्तेः  
पूर्वं पर्यावर्त्तने दोषः, तदुत्तरकालन्तु 'अपि' 'दश कृत्वः' दश-  
वारं 'पर्यावर्त्तेत' । 'तत्' तत्र आदरो नेव कर्तव्यः । देवतो-  
द्देशेन हविषः ‡ प्रक्षिप्तत्वादित्यभिप्रायः । तस्मात् स्विष्ट-  
कृत्तयागाभावकृत एव निन्दा परिशिष्यते, तत्परिहाराय पक्षान्तर  
माह— "यदीति । 'यदि तु' 'अन्ये' शाखिनः 'वदन्ति', 'कः'  
नाम 'तत्' उक्तदोषसन्धानं कर्तुम् 'उपेयात्' उपगच्छेत् ? अतो  
दोषसहित एककपालपक्षः परित्याज्यः § । किन्तर्हि द्यावा-  
पृथिव्यस्य यागस्य द्रव्यम् ?, तदाह— 'तस्मादिति । यदेतत्  
ध्रुवाख्यं मान्यं सर्वयज्ञसाधारणम्, तस्य 'आन्यस्य एव' सकाशात्  
चतुरवत्तं भवदाय द्यावापृथिव्योर्यजेतेत्यर्थः ॥ इमं मर्थं प्रशं-

\* 'सर्वहुत मेव'— इति च, क ।

† नाख्येतत् पदं च-पुस्तके ।

‡ 'हविषश्चोदितद्वारे'— इति च, 'हविषश्चोदितद्वारे'— इति क, ज ।

§ 'परित्याज्यः' इति च, क, ज ।

॥ का० श्रौ० सू० ४. ६. ६ ।



सति—“आज्यं हेति । “प्रत्यक्षं रस इति । आज्यस्य द्रवत्व-  
रूपयोगात् प्रत्यक्षरसत्वम् ; ब्रीहियवादेशु धान्यस्य काठिन्यात्  
परोक्षत्वम् \* । “मिधेनेति । सारभूतेनेत्यर्थः ।

निन्दाया उत्तरस्य प्रशंसार्थं मभिप्रेत्य कात्यायनेनेतत् पक्ष-  
इय मपि सूचितम्— “द्यावापृथिवीय एककपालः ०—० आज्यस्य  
वेति † । आपस्तस्योऽपि— “अपि वैककपालेन कुर्वीत, आज्येन  
द्यावापृथिवी यजेत”—इत्युक्तवान् ॥ १० ॥

अस्या आश्रयणैरेरनाश्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयितुं पुरा-  
वृत्त मुदाहरति— “एतेनेति । ‘याश्च’ ब्रीहियवाद्या ओषधीः  
‘मनुष्याः’ ‘उपजीवन्ति’, ‘याश्च’ वृणाद्याः ‘पशवः’ ‘उपजीवन्ति’,  
तासाम् ‘उभयीनाम् ओषधीनाम्’ इति सम्बन्धः । “कृत्या  
मिव त्वदिति । ओषधीषु कृत्या-विषादिकं यत् असुरैः प्रलिप्तम्,  
तदनेन यागेन देवा अपहतवन्त इत्यर्थः । “तत इत्यादि । ततो  
देवैरन्नस्य निर्दोषकरणात् ‘मनुष्याः’ ‘आश्वन्’ अभुञ्जत, ‘पशवश्च’  
वृणादिकम् ‘आलिशन्त’ अभक्षयन् । “लिश अल्पीभावे”—इत्ययं  
धातुः‡, अत्र वृणादेरल्पीभवनहेतौ भक्षणे वर्तते ॥ ११ ॥

एवं पुरावृत्त मुदाहृत्य दृष्टान्तेनेदानीन्तनानुष्ठानेऽपि नवान्ना-  
श्रितदोषनिर्हरणहेतुत्वं प्रतिपादयति— “अथेति । ‘अथ’ इदानीं  
‘यत्’ यस्मात् कारणात् ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ आश्रयणेन  
‘यजते’ । ‘अह’, ‘नु’, ‘एव’—इति त्रयो निपाता अवधारणार्थाः ।  
‘तत्’ तस्मादेव कारणात् ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘तथा’ तथैव ओष-  
धीषु कृत्याया विषेण च न कोऽपि द्वेष्टा ‘प्रलिम्पति’ प्रक्षेपयति ।

\* ‘काठिन्यपरोक्षत्वम्’— इति च । † का० औ० सू० ४. ६. ४—६ ।

‡ दि० आ० ७३ धा० ।



“लिप उपदेहे”—इति \* धातुः । “शे मुचादीनाम्”—इति †  
 नुम् । “देवा इत्यादि । ‘देवाः’ खलु पुरा ‘इति’ एवम्  
 ‘अकुर्वन्’, ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘इति त्वेव’ एव मेव तु ‘करोति’ ।  
 एतदेव विवृणोति— “य सु चैवेति । “अनमीवा अकिल्बिषा  
 इति । अमीवा रोगाः, तद्रहिताः ; किल्बिषं रोगनिदानं  
 पापम्, तद्रहिताश्च ‘कुरुते’ । “ता अस्येति, प्रयोजनान्वाख्या-  
 नम् ॥ १२ ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य प्रथमज इति । ‘तस्य’ आग्र-  
 यणस्य ‘प्रथमजः’ तस्मिन् संवत्सरे यजमानस्य गोष्ठे यो वत्सो  
 जायते, सः ‘गौः’ अस्य यागस्य दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ‡ ।  
 कुत इत्यत आह— “अग्र मिवेति § । अग्रे भवम् अग्रि-  
 यम् । “अग्राद् यद्, घ-क्खौ च”—इति ॥ । ‘इदम्’ आग्रयणाख्यं  
 ‘हि’ हविः ‘अग्रम्’, प्रथमजो वत्सश्चाग्रः ; अतस्तस्याग्रयणदक्षि-  
 णात्वं सुचित मिति ।

ईजानानीजानयोराग्रयणविषयां व्यवस्थां दर्शयति— “स  
 यदिति । ‘यद्’ यदि ‘सः’ यजमानः ‘ईजानः’ सोमयागेनेष्टवान्  
 ‘स्यात्’ । यजेर्लिटः कानच् । केवलं हविर्यज्ञयाजी सन्  
 ‘दर्शपूर्णमासाभ्याम्’ एव ‘यजेत’, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘एतेन’ आग्र-  
 यणेन ‘यजेत’, न प्रागित्यर्थः ¶ । किन्तर्हि तदा कुर्यादिति,

\* तु० उ० १५२ धा० ।

† पा० सू० ७. १. ५६ ।

‡ का० औ० सू० ४. ६. ८ ।

§ ‘अग्रिय मिवेति’— इति च, छ । एष एव पाठः सायणसम्मतो  
 गम्यते ; घ-क्खौ चेति सूत्रस्यापीहोक्तेखदर्शनात् ; परं सर्वमूलपुस्तकविरुद्धः ।

॥ पा० सू० ४. ४. ११६, ११७ । ¶ का० औ० सू० ४. ६. १० क ।



तदाह— “यद्यु इति । यदि तु दर्शपूर्णमासादिभिः ‘अनीजानः’ अनिष्टवान् ‘स्यात्’, तदा स यजमानः ‘चातुष्प्राश्यं’ चतुर्भिः ब्राह्मणैः प्राशितव्यं ‘तम्’ ‘ओदनम्’ अन्नं दक्षिणाग्नौ पक्त्वा, ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् \* ; ‘ब्राह्मणाः’ च ‘तम्’ ‘अग्नीयुः’ भुञ्जीरन् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणभोजनस्यापि यागोत्पादकत्वं सुपपादयति— “इया वा इति । “अहैवेति, हावपि निपातावधारणार्थी । ‘शुश्रुवांसः’ शुश्रुवन्तः, बहुश्रुतार्था इत्यर्थः ; ‘अनूचानाः’ अनुगतानुष्ठानपराः, य एवङ्गुणाः, ‘ते’ मनुष्यदेवाः’ मनुष्यरूपा देवाः । ‘तत्’ तथा सति ‘यथा’ वषट्कारेण देवेभ्यो दत्तम्, स्वाहाकारेण ‘हुतं’ च भवति, एव मेव ‘अस्य’ अनीजानस्य यजमानस्य ‘एतत्’ ब्राह्मणभोजनं भवतीत्यर्थः † ॥

यागे इव भोजनेऽपि दक्षिणादानं विधत्ते— “तन्नो इति । ‘तत्र’ ब्राह्मणभोजनकालेऽपि ‘यत्’ किञ्चित् दातुं ‘शक्नुयात्’, ‘तत् दद्यात्’ ; ब्राह्मणेभ्यो दत्तं ‘हविः’ ‘अदक्षिणं’ दक्षिणारहितं ‘न स्यात्’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ‡ ॥

केचित्त्वाग्रयणेष्टावधिकृतस्यानीजानस्य नवधान्येनान्निहोत्र-होम मभिधीयते । अत एव सूत्रितं कात्यायनेन— “नवैः सायम्प्रातरग्निहोत्रहोमः”—इति § । आपस्तम्बेनाप्युक्तम्— “अपि वा नवानां यवानां सायम्प्रातर्जुहुयात्”—इति । तदत्र निराकरोति— “नान्निहोत्र इति । अग्निहोत्रकर्मणि नवं ॥

\* ‘दत्त्वा’—इति छ ।

† का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ख ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ६. १० ग ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ६. ११ ।

॥ ‘भवं’—इति च ।



हविर्न जुहुयात् । 'यद्' यदि 'जुहुयात्', तदा इन्द्राग्न्यादीना  
 माग्रयणदेवताना मग्निहोत्रदेवगणैः \* सह 'समदं' कलहं 'कुर्यात्' ।  
 असमुच्चयहेतुभूतं पृथक्त्वं दर्शयति — "अन्यदा इति । 'आग्र-  
 यणम्' आग्रयणाख्यं कर्म, अग्निहोत्रात् 'अन्यत्' ; 'अग्नि-  
 होत्रं' त्वाग्रयणात् 'अन्यत्' ; इति एतत्प्रकरणभेदात् नामधेय-  
 भेदाच्चावसितम् । शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणनामधेयानि इह कर्म-  
 भेदे प्रमाणत्वेन जैमिनिनोपन्यस्तानि † ॥ १४ ॥ ५ [ ४. ३. ]

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः ‡ ॥

\* 'मग्निहोत्रदेवतया'— इति च ।

† "शब्दान्तरे कर्मभेदः ( २. २. १. )"— इत्यादीनि सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

‡ "कण्डिकासंख्या ११३"— इति क, "यजुः ११३"— इति ग, घ-ङयोः  
 कवत् । तत्र १ ब्रा० २० क०, २ ब्रा० ४१ क०, ३ ब्रा० १४ क०, ४ ब्रा०  
 २४ क०, ५ ब्रा० १४ क० ; सङ्कलनया ११३ सिद्धम् ॥



अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,

अपि वा

चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे । प्रजा-  
कामो बहुः प्रजया पशुभिः स्वां श्रियं गच्छेयं  
यशः स्वा मन्नादः स्वा मिति ॥ १ ॥

स वै दक्षो नाम । तद्यदेनेन सोऽग्रेऽयजत  
तस्माद्वाचायणयज्ञो नामोतेन मेके व्वसिष्ठयज्ञ  
इत्याचक्षत ऽएष वै व्वसिष्ठ एत मेव तदन्वाचक्षते  
सु एतेन यज्ञेनेजे सु एतेन यज्ञेनेष्टा येयं प्रजापतेः  
प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैतां ह वै प्रजातिं  
प्रजायत ऽएतां श्रियं गच्छति यु एवं विद्वानेतेन  
यज्ञेन युजते तस्माद्वा ऽएतेन युजेत ॥ २ ॥



तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः श्वैक्कः स ये तं \*  
 प्रत्यासुस्तेषां विवचन मिवास विवचन मिव† ह वै  
 भवति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ३ ॥

त माजगाम । सुप्ता सार्ज्यो ब्रह्मचर्यं  
 तस्मादेतच्च यज्ञ मनूचेऽन्य सु च सोऽनूच्य पुनः  
 सृञ्जयान् जगाम ‡ ते ह सृञ्जया विद्वान्ब्रह्मचर्यं च वै  
 नोऽनूच्यागन्निति ते होचुः सह वै नस्तद्देवैरागन्यो  
 नो यज्ञ मनूच्यागन्निति स वै सहदेवः सार्ज्यस्तदु-  
 प्येतन्निवचन § मिवास्त्यन्यद्वा ऽअरे सुप्ता नाम दध  
 ऽइति सु एतेन यज्ञेनेजे सु एतेन यज्ञेनेष्टा येय  
 सृञ्जयानां प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैतां ह वै प्रजा-  
 तिं प्रजायत ऽएतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वाने-  
 तेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ ४ ॥

\* 'स एतं'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः । 'सु ये तं'—  
 इति च दृष्टो डा०-वेबरेण ।

† 'मिव'— इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'सृञ्जयाजगाम'— इति क, ग ।

§ 'निर्वचन'— इति पाठः सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।



तेनो ह तत् ईजे । देवभागः श्रौतर्षः सु उभ-  
 येषां कुरुणाञ्च सृञ्जयानाञ्च पुरोहित आस परमता  
 वै सा यो न्वेवैकस्य राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसत्या न्वेव  
 परमता किं सु यो द्वयोः परमता मिव ह वै  
 गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत ॥ ५ ॥

तेनो ह तत् ईजे । दक्षः पार्व्वतिस्तु ऽइमेऽप्ये-  
 तर्हि दाक्षायणा राज्यं मिवैव प्राप्ता राज्यं मिव ह  
 वै प्राप्नोति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते तस्माद्वा  
 ऽएतेन यजेत स वा ऽएकैक एवानूचीनाहं पुरो-  
 डाशो भवत्येतेनो हास्यासपत्नानुपवाधा श्रीर्भवति  
 स वै हे पौर्णमास्यौ यजते हे ऽअमावास्या हे वै मिथुनं  
 मिथुनं मेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥ ६ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्यां ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्यैन्द्र-  
 सान्नाय्यं ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत्  
 प्रजननं क्रियते ॥ ८ ॥



अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां  
ते हे देवते हे वै मिथुनं मिथुनं मेवैतत् प्रजननं  
क्रियते \* ॥ ६ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
मैत्रावरुणी पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः  
पुरोडाशोऽथैतावेव मित्रावरुणौ हे देवते हे वै मिथुनं  
मिथुनं मेवैतत् प्रजननं क्रियत एतदु हास्य तद्रूपं  
येन बहुर्भवति येन प्रजायते ॥ १० ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पीर्णमास्यां य मेवामु मुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशु मालु-  
भते सु एवास्य सः † ॥ ११ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवत्येन्द्र-  
सान्नाय्यं प्रातःसवनं मेवास्याग्नेयः पुरोडाश  
आग्नेयः हि प्रातःसवनं मथेन्द्र- सान्नाय्यं  
माध्यन्दिनं मेवास्य तत्सवनं मैन्द्र- हि माध्य-  
न्दिनं सवनम् ॥ १२ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमा-

\* 'क्रियते'— इति क, 'क्रियते'— इति ग ।

† 'सः'— इति घ, ङ ।



वास्यायां तृतीयसवनं मेवास्य तद्वैश्वदेवं वै तृतीय-  
सवनं मिन्द्राग्नीं वै विश्वे देवाः \* ॥ १३ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रा-  
वरुणौ पयस्या नेद्यज्ञादुयानीति न्वेवाग्नेयः पुरो-  
डाशोऽथ या मेवामूं मैत्रावरुणौ वृशा मनूबन्ध्या  
मालुभते सैवास्य मैत्रावरुणौ पयस्या सु पौर्णमासेन  
चामावाख्येन चेष्टा यावत्सौम्येनाध्वरेणेष्टा जुयति  
तावज्जयति तदु खलु महायज्ञो भवति ॥ १४ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
पौर्णमास्या मेतेन वा ऽइन्द्रो वृत्रं महन्नेतेनो ऽएव  
व्यजयत् याख्येयं विजितिस्तां तथो ऽएवैष एतेन  
पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव विज-  
यतेऽथ यत् सन्नयत्यामावाख्यं वै सान्नाय्यं दूरे तद्  
यदमावाख्येति क्षिप्रं ऽएवैतद्वृत्रं जघ्नुषे त मेतेन  
रुसेनाप्रौणन् क्षिप्रे ह वै पाप्मानं उपहते य एवं  
विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयत्येष वै सोमो राजा  
देवानां मुन्नं यच्चन्द्रमास्त मेतत् पूर्व्वेद्युरभिषुखन्ति  
प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्तु मेतद्भक्षयन्ति यदपक्षीयते † ॥ १५ ॥



अथ यत् पूर्व्वेद्युः । अग्नीषोमीयेण यजते  
 पौर्णमास्या मभिषुणोत्येवैन मेतत्तस्मिन्नभिषुत ऽएतत्  
 रुसं दधात्येवैतेन रुसेन तीव्रीकरोति स्वदुयति ह वै  
 देवेभ्यो हव्यं स्वदते हास्य देवेभ्यो हव्यं य एवं  
 विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयति ॥ १६ ॥

अथ यत् पूर्व्वेद्युः । ऐन्द्राग्नेन यजते ऽमावा-  
 स्यायां दर्शपूर्णमासयोर्व्वे देवते स्त इन्द्राग्नी ऽएव ते  
 ऽएवैतदुञ्जसा प्रत्यक्षं यजत्युञ्जसा ह वा ऽअस्य  
 दर्शपूर्णमासाभ्या मिष्टं भवति य एव मेतद्  
 वेद् ॥ १७ ॥

अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो भवति  
 मैत्रावरुणौ पयस्या नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः  
 पुरोडाशोऽथैतावेवार्द्धमासौ मित्रावरुणौ य एवा-  
 पूर्य्यते स व्युक्ष्णो योऽपचीयते स मित्रस्तावेतां  
 रात्रिं मुभौ समागच्छतस्तदुभावेवैतत् सह † सन्तौ  
 प्रीणाति सुर्व्वं ह वा ऽअस्य प्रीतुं भवति सुर्व्वं मासं  
 य एव मेतद्देद ॥ १८ ॥

\* 'वेद्'— इति ग, 'वेद्'— इति घ, ङ ।

† 'वेवैतच्छह'— इति पाठश्च इत्ये डा० वेवरेण ।



तद्वा ऽएतां रात्रिम् \* । मित्रो व्वरुणे रेतः  
सिञ्चति तदेतेन रेतसा प्रजायते यदापूर्यते तद्यदे-  
षात्र मैत्रावरुणी पयस्यावक्तृमत्तमा भवति ॥ १९ ॥

सान्नाय्यभाजना वा ऽअमावास्या । तददस्तुत्  
पौर्णमास्यां क्रियते स यद्वात्रापि सन्नयेज्जामि  
कुर्यात् समुदं कुर्यात् तदेन सदभ्य ओषधिभ्यः  
सम्भृत्याहुतिभ्योऽधिजनयति स एष आहुतिभ्यो  
जातः पश्चादृदृशे ॥ २० ॥

मिथुनादिद्वा ऽएन मेतत् प्रजनयति । योषा  
पयस्या रेतो व्वाजिनं तद्वा ऽअनुष्ठ्या † युन्मिथुना-  
ज्जायते तदेन मेतस्मान्मिथुनात् प्रजननात् प्रजनयति  
तस्मादेषात्र पयस्या भवति ॥ २१ ॥

अथ व्वाजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति । ऋतवो  
वै व्वाजिनो रेतो व्वाजिनं तदनुष्ठ्येवैतद्रेतः ‡ सिञ्चते  
तदृतवो रेतः सित्तु मिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति  
तस्माद्व्राजिभ्यो व्वाजिनं जुहोति ॥ २२ ॥

\* 'रात्रि'— इति घ-ङ्योरपि ।

† 'अनुष्ठ्या'— इति ग ।

‡ 'तदनुष्ठ्येवैतद्रेतः'— इति क, ग ।



स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्  
वैपरीत्य वृषा योषा मधिद्रवति तस्याः रेतः  
सिञ्चति स वै प्रागेवाग्रे जुहोत्यग्ने व्वीहीत्यनु-  
वषट्करोति तत् स्त्रिष्टकज्ञाजनः स वै प्रागेव  
जुहोति ॥ २३ ॥

अथ दिशो व्याधारयति । दिशः प्रदिश आदिशो \*  
व्विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहेति पुञ्च दिशः पुञ्च-  
र्त्तवस्तुद्वतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥ २४ ॥

तद्वै पुञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा  
चाग्नीञ्च यजमानः पुञ्च वा ऽऋतवस्तुद्वतूना मेवै-  
तद् रूपं क्रियते तद्वतुष्वेवैतद् रेतः सित्तं प्रतिष्ठा-  
पयति प्रथमो यजमानो भक्षयति प्रथमो रेतः परि-  
गृह्णानीत्ययो ऽअप्युत्तमो मय्युत्तमे रेतः प्रतितिष्ठा-  
दित्युपहृत उपह्वयत्येति सोम मेवैतत् कुर्वन्ति  
॥ २५ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ४. ४. ] ॥

आवृत्तिगुणविक्रतो दर्शपूर्णमासयागप्रयोग एव दाक्षायण-  
यज्ञः, तं विधिक्षुराख्यायिका साह— “प्रजापतिरिति ।



‘एतेन’ वक्ष्यमाणेन दाक्षायणनामकेन यज्ञेन \* ‘प्रजापतिः’ अहम् अविकृत एव सन् देवमनुष्यादिरूपया ‘प्रजया’, गवादिभिः ‘पशुभिः’ च ‘बहुः’ बहुविधः ‘स्याम्’ भवेयम्, उत्पन्नानां प्रजादीना मशनार्थं ‘अयं’ सम्पदं गच्छेयं प्राप्नुयाम्, ततोऽहं ‘यशः’ यशस्वी ‘स्याम्’, ‘अन्नादः’ भवेयम् ‘इति’ । एव मेते दाक्षायणयज्ञं कृतवतः प्रजापतेः कामाः, तत इदानीं मपि तादृग्विधकासनायुक्त एव दाक्षायणयज्ञेऽधिक्रियत इत्यर्थः † ॥ १ ॥

तन्नाम निर्ब्रूते— “स वा इति । ‘सः’ खलु प्रजापतिः ‘दक्षो नाम’ अभवत्, तेन प्रथमं सिष्टवान्, ‘तस्मात्’ ‘दाक्षायणयज्ञः’ इत्युच्यते । नामान्तरं मपि कथयति— “उतेन मिति । ‘उत’ अपि च ‘एनम्’ ‘एके’ शाखिनः ‘वसिष्ठयज्ञ इति’ व्यवहरन्ति । ‘एषः’ एव खलु प्रजापतिः ‘वसिष्ठः’ नान्यः ; सर्वश्रेष्ठत्वात् । ‘एत मेव’ दाक्षायणयज्ञं ‘तत्’ तत्र वसिष्ठयज्ञ इति ‘अन्वाचक्षते’ । “एतेनेति । ‘सः’ दक्षशब्दवसिष्ठशब्दवाच्यः प्रजापतिः तच्छब्देन परामृश्यते । “एतद्वभूवेति । ‘एतत्’ एतर्हि ‘येयं’ ‘प्रजापतेः’ सकाशात् ‘प्रजापतिः’ प्रजानां सुत्पत्तिः ‘वभूव’, ‘या’ च ‘श्रीः’ निरतिशया प्राजापत्यपदरूपा सम्पत् ‘वभूव’ ‡ । “एता मित्यादि । ‘यः’ ‘विद्वान्’ एतदनुष्ठानस्य फलं जानानः । ‘तस्मात्’ दाक्षायणयज्ञफलकामः ‘एतेन’ ‘यजेत’ ॥ २ ॥

\* “नामफलगुणयोगात् कर्मान्तरम्, गुणविधानं वा सन्निधिसम्पदचनाभ्याम्”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. २, ३ । श० ब्रा० ११. १. २. १० दर्शनात् सान्निध्यम्, ११. १. २. १३ दर्शनाच्च सम्पदचनं भवगम्यते ।

† “दाक्षायणयज्ञः प्रजापत्यज्ञकामस्य”— इति का० श्रौ० सू० ४. ४. १ ।

‡ विशेषतस्त्रिहोपरिष्टाद् ( ११. १. २. १३. ) द्रष्टव्यम् ।



विहितस्य यामस्य फलान्तरहेतुत्व मपि परकृत्युपन्या-  
 सेन दर्शयति— “तनो हेति । ‘श्वेक्तः’ श्विक्तस्य पुत्रः , नाम्ना  
 ‘प्रतीदर्शः’ । “उपसर्गस्य घञमनुष्ये बहुलम्”— इति \* बहुल-  
 ग्रहणात् मनुष्यवाचित्वेऽपि घञन्त उत्तरपदे उपसर्गस्य दीर्घः ।  
 “स एत † मिति । ‘एतं’ प्रतीदर्शम् । ‘सः’ इति व्यत्ययेनैक-  
 वचनम् । ते तत्रत्या जनाः ‘प्रत्यासुः’ केनचित्कारणेन प्रति-  
 चिक्षिपुः । “असु क्षेपणे ‡”—इत्यस्माक्षिप् । तेन च दाक्षायण-  
 यज्ञेनेष्टे सति ‘तेषां’ जनानां ‘विवचनं’ विशिष्टवचनं पञ्चपात-  
 वचनम् ( ‘इव’ ) एव ‘आस’ बभूव , अस्मिन् बहुमानं कृतवन्त  
 इत्यर्थः । तद्वष्टान्तेनेदानीं विद्वदनुष्ठानस्यापि तत्फल माह—  
 “विवचन मिव ह वा इति ॥ ३ ॥

पुनरप्यस्य यज्ञस्य विशिष्टफलान्तरहेतुत्वं प्रतिपादयितु  
 माख्यायिकया परकृति मुदाहरति— “त माजगामेति । ‘तं’  
 प्रतीदर्शं मुपदेष्टृत्वेनोपासीदन्, सृञ्जयपुत्रः ‘सुप्ता’ नाम ‘ब्रह्मचर्यम्’  
 ‘आजगाम’ प्राप्तवान् । ‘तस्मात्’ तदुपदेष्टुः प्रतीदर्शात् ‘एतं’  
 दाक्षायणयज्ञम् ‘अन्य सु’ अन्य मपि ‘न’ ‘यज्ञम्’ ‘अनूचे’ ।  
 ‘सः’ सार्क्ष्यः ‘एतम् अनूच्य’ ‘पुनः’ ‘सृञ्जयान्’ तदास्थान् जन-  
 पदान् ‘जगाम’ ; ‘ते’ च ‘एनं’ ‘विदाञ्चक्रुः’ ज्ञातवन्तः ।  
 “उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्”—इति § लिट्याम् प्रत्ययः । कथं  
 मिति, तदाह— “यज्ञ मिति । ‘नः’ अस्मदर्थं ‘यज्ञम्’ ‘अनूच्य’

\* पा० सू० ६. ३. १२२ ।

† ‘स ये त’—इत्येव पाठोऽस्मद्वृत्त-सर्वमूलपुस्तकेषु ।

‡ दि० प० १०३ घा० ।

§ पा० सू० ३. १. ३८ ।



अधीत्य 'आगन्' आगतोऽभूत् । गमेलुङि 'मन्त्रे घस'—इति \*  
 च्लेलुक्, "हल्जराभ्यः"—इति † ति-लोपः, "मो नो धातोः"—  
 इति ‡ नत्वम् । 'इति' ज्ञात्वा ते सृञ्जया अश्रुवन्,— 'नः' अस्मा-  
 दर्थं यः 'यज्ञम्' अधीत्यागमत्, 'सः' तत्सम्बन्धिभिः देवैः सह  
 अगमदिति । ततः प्रभृति 'सः' 'सार्क्ष्यः' 'सहदेवः' इति सञ्जया  
 प्रसिद्धोऽभवत् ।

'तत्' तस्मात् कारणात् 'एतत्' एतर्हि, इदानीं मपि  
 ( 'निवचनं' ) निर्वचनं निरन्तरं वचनम् 'अस्ति' व्यवहारो  
 लोके § विद्यते । वचनस्य स्वरूपं दर्शयति— "अन्यथा इति ।  
 पूर्वं हि सार्क्ष्यः 'सुप्ता नाम' अभवत्, अधुना तु देवैः सहागम-  
 नात् 'सहदेवः' इति 'अन्यत्' नाम 'दधे' धारितवान् इति ।  
 'सः' च सार्क्ष्यः स्वजनपदेषु 'एतेन' दाक्षायणयज्ञेन 'ईजे' इष्ट-  
 वान् । "स एतेन यज्ञेनेष्टा"—इत्यादि, एतस्य सार्क्ष्यस्य फल-  
 प्राप्तिकथनम् ।

"एतां ह वै प्रजाति मिति, इदानीन्तनस्य विदुषोऽनु-  
 षातुः फलम् । "तस्माद्वा एतेनेति । यस्मात् सृञ्जयसम्बन्धि  
 प्रजात्यादिक मपि दाक्षायणयज्ञफलम्, तस्मादपि कारणा-  
 दित्यर्थः ॥ ४ ॥

इतोऽपि दाक्षायणयज्ञोऽनुष्ठेय इत्यभिप्रेत्यान्यां परकृति सुप-  
 न्यस्यति— "तेनो हेति । 'ततः' सार्क्ष्यानुष्ठानान्तरं 'तेन'  
 दाक्षायणयज्ञेन 'श्रौतर्षः' श्रुतर्षेः पुत्रो 'देवभागः' नाम महर्षिः  
 'ईजे' इष्टवान् । 'सः' च तेन यागीन 'कुरुणां च सृञ्जयानां च'

\* पा० सू० २, ४, ८० ।

† पा० सू० ६, १, ६८ ।

‡ पा० सू० ८, २, ६४ ।

§ 'व्यवहारलोके'— इति च, क ।



राज्ञा सुभयविधाना मपि 'पुरोहितः' बभूव । पौरोहित्यस्य फलरूपता माह— “परमता वा इति । 'या' खलु 'एकस्य' अपि 'राष्ट्रस्य' 'पुरोहितः' 'असत्' भवति, 'सा' खलु 'परमता' उत्कृष्टता, तस्य सर्वश्रेष्ठं भवतीति यावत्; 'यः' तु 'द्वयोः' राष्ट्रयोः पुरोहितो भवति, सैव खल्वतिशयिता परमतेति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । इदानीन्तनविद्वदनुष्ठानस्यापि तत्फलमाह— “परमता मिवेति ॥ ५ ॥

फलान्तरप्रतिपादनायान्यां परकृतिमुपन्यस्यति— “तेनो ह तत ईज इति । पर्वतो नाम कश्चित्, तस्य पुत्रः 'पार्वतिः', 'दक्षः', स एतेनेष्टा राज्यं प्राप्नोत् । ततः 'एतर्हि' इदानीमपि 'दाचायणाः' तत्सन्तानभूता राजानः 'राज्यं प्राप्ताः' एव भवन्ति । “राज्यमिव ह वा इति, अनुष्ठातुः फलम् ।

अत्र हि दाचायणयज्ञसम्पदभूते हे पौर्णमास्ये हेऽमावास्ये यजेतेति दर्शपूर्णमासयोरान्वृत्तिं वक्ष्यति \* । तत्र पौर्णमास्यां द्वौ पुरोडाशौ,— आग्नेयोऽग्नीषोमीयश्च; अमावास्याया मपि द्वौ,— आग्नेय ऐन्द्राग्नश्च । तयोः प्रत्यहमेकैकशोऽनुष्ठानमाह— “स वा इति । 'अनूचीनाहं' प्रत्यहम् 'एकैक एव' 'पुरोडाशो भवति' पूर्वस्मिन् पूर्णमासप्रयोगे एक एव पुरोडाशः कर्तव्यः, उत्तरस्मिन् दिनेऽप्येकः पुरोडाशः प्रयोक्तव्यः । तत्राग्नीषोमीयो द्वावप्येकस्मिन्नित्यर्थः † । एवं दर्शप्रयोगेऽपि द्रष्टव्यम् । एकैकशोऽनुष्ठानस्य फलमाह— “एतेनो हास्येति । 'असपन्नानुपवाधा' सपत्नैः शत्रुभिरवाधिता ।

\* “अत्र ह्येव सा सम्पत् सम्पद्यते, हे हि पौर्णमास्यौ यजते हे अमावास्ये, अत्रो एव खलु सा सम्पद् भवति”—इति उपरिष्ठाद् ११ का० १, २, १३ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।



प्रकृतयोरेव दर्शपूर्णमासयोर्योऽय मावृत्तिलक्षणे गुणः  
फलायाभिधीयत इत्यवादिष, त मिदानी' विधत्ते— “स वा  
इति । हित्सङ्ख्यां प्रशंसति— “हे वै मिथुन मिति ॥ ६ ॥

पूर्वस्यां पौर्णमास्या मनुष्ठेयं यागं विधाय प्रशंसति— “अथ  
यत् पूर्वेषुरिति । “ते हे देवते इति । अग्नीषोमयोर्व्यासक्तयो-  
रेव देवतात्वात् अधिष्ठानदित्वापेक्षया देवतयोर्द्वित्वं मन्त-  
व्यम् ॥ ७ ॥

परस्मिन्नहनि यागद्वयं विधत्ते— “अथ प्रातरिति । पूर्वेषु-  
रग्नीषोमीयेष्वेष्ट्या परेषुः प्रातः काले आग्नेयपुरोडाशकयागः  
प्रथमं कर्त्तव्यः, तत इन्द्रदेवताकं सान्नाय्यं दधि प्रयोक्तव्यम् \* ।  
एतद् यागद्वयं सम्भूय प्रशंसति— “ते हे इति ॥ ८ ॥

अमावास्याप्रयोगेऽपि पूर्वेषुः कर्त्तव्य माह— “अथ यत्  
पूर्वेषुरिति । प्रशंसति— “ते इति । अग्नीषोमीयवदत्रापि  
देवताद्वित्वं मवसेयम् † ॥ ९ ॥

परेषु रनुष्ठेयं यागद्वयं विधाय प्रशंसति— “अथ प्रातरिति ।  
‘मैत्रावरुणी’ मित्रावरुणदेवताका, पयसो विव्रतिः ‘पयस्या’ ‡ ;  
तप्तं हि पयो दध्ना संस्कृतं सत् पयस्या भवति § । “नेद्यज्ञादि-  
त्यादि । ‘यज्ञात्’ प्रकृताद् यागात् ‘नेत्’ नैव ‘अयानि’ वियुक्ता  
गच्छानि ‘इति’ अनेनैवाभिप्रायेण आग्नेयः ‘पुरोडाशः’ क्रियते ;  
न तु पूर्णमासप्रयोगवान् देवतयोर्द्वित्वसम्पादनाय । यतः पयस्या-

\* “सान्नाय्यवत् प्रातः— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ६ ।

† का० श्रौ० सू० ४, ४, ५ ।

‡ “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ७ ।

§ “इदं वा दध्ना नयति— इति का० श्रौ० सू० ४, ४, ८ ।



भाजौ 'मित्रावरुणौ' स्वत एव 'हे देवते' अत इत्यर्थः । गतं  
मन्यत् । "एतदु हास्येति । येन रूपेणानुष्ठाता प्रजया पशु-  
भिश्च 'बहुः' बहुविधो भवति । 'एतत्' एव मिथुनात्मकं हित्वम्  
'अस्य' यज्ञस्य 'तद्रूपम्' इत्यर्थः ॥ १० ॥

अस्य दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागरूपतां प्रतिपादयति—  
'अथ यदित्यादिना । "असु सुपवसथ इति । सुत्यादिवसात्  
पूर्वं महरुपवसथः । प्रकरणान्तरे विहितत्वेन विप्रकर्षादसु मिति  
विप्रकृष्टवाचिना अदश्शब्देनाग्नीषोमीयस्य पशोः परामर्शः ।  
'स एवास्येति । 'अस्य' यज्ञस्य पूर्वेष्वरुनुष्ठेयो योऽग्नीषोमीयः  
पुरोडाशः, 'स एव सः' अग्नीषोमीयः पशुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रातरनुष्ठेययोरानेयैन्द्राग्न्योर्यागयोः प्रातर्माध्यन्दिनसवनरूपता  
सुपपादयति— "अथ प्रातरिति । आग्नेयपुरोडाशस्य प्रातस्सवनस्य  
चैकदेवताधिष्ठितत्वात् तादात्म्यम् ; सान्नाथ्यमाध्यन्दिनसवनस्य  
चेन्द्रदेवत्वसाम्यात् तथात्वम् ॥ १२ ॥

दशैः पूर्वेष्वरुनुष्ठेयस्यैन्द्राग्नपुरोडाशस्य तृतीयसवनरूपता माह  
— "अथ यदिति । "इन्द्राग्नी वै विप्रदेवेताः"—इति । इन्द्रा-  
ग्न्योर्विप्रक्षेपु देवेष्वन्तर्भावात् ऐन्द्राग्नपुरोडाशतृतीयसवनयोरनेक-  
देवत्वत्वसाम्याच्च तादात्म्यम् ॥ १३ ॥

दशैः परेष्वरुनुष्ठेयस्य पयस्त्रयायागस्यानूबन्ध्या रूपता  
माह— "अथ प्रातरिति । "नेद्यज्ञादिति । आग्नेयपुरोडाश-  
यागस्यानुष्ठानविहिताद्यज्ञानैव गच्छति ; प्रसंस्त्रंशो माभूदित्य-  
नेनेवाभिप्रायेण ; न तु तेन किञ्चिदपि सोमयागसाम्यं सम्पादयते ।

"अमूँ मैत्रावरुणौ मिति । सोमप्रकरणे विहितत्वेन विप्रकृष्टाया  
अनूबन्ध्याया अदश्शब्देन परामर्शः । "सैवास्येति । 'अस्य' ;



दाक्षायणयज्ञस्य या 'मैत्रावरुणी पयस्या', सोमेऽनुष्ठेयमाना  
अनूबन्ध्या एव सेत्यर्थः । इत्थं दाक्षायणयज्ञस्य सोमयागसाम्यं  
सम्पाद्य, तत एव हेतोः फलसाम्यं माह— "स पौर्णमासेन  
चेति । 'सौम्येन' सोमद्रव्यसाध्येन यागेनेत्यर्थः । "तदु खल्विति ।  
'तत्' तस्मादेव 'खलु' कारणात् दाक्षायणयागो 'महायज्ञः' सोम-  
यागो 'भवति'; स हि महायज्ञ इत्याख्यायते । अत एव तैत्ति-  
रीयके सोमयागप्रकरणे समान्नायते— "ते देवा एतं महायज्ञं मप-  
श्यन्"—इति \* ॥ १४ ॥

अथैतद्दाक्षायणं यज्ञं प्रकारान्तरेण प्रशंसन् पौर्णमासप्रयोगे  
पूर्वेद्युरनुष्ठेय मग्नीषोमीययाग मनूय स्तौति— "अथ यत् पूर्वे-  
द्युरिति । "एतेन वा इत्यादि । 'एतेन' खलु अग्नीषोमीय-  
यागेन पुरा 'इन्द्रो वृत्रम् अहन्' प्राणापानरूपयोरग्नीषोमयोर्हविषा  
वृत्रयोर्निष्क्रमणाच्च वृत्रो मृतः । तथा चान्नायते— "तस्मा-  
ज्जज्ञभ्यमानादग्नीषोमौ निरक्रामताम्, प्राणापानौ वा एनं तद-  
जहिता मिति † । 'अस्य' इन्द्रस्य 'या इयं विजितिः' प्रसिद्धा,  
'तां' 'व्यजयत' इति सम्बन्धः । "विपराभ्यां जेः"—इत्यात्मने-  
पदम् ‡ । "तथो एवेति । इन्द्रो यथा, 'तथा' एव 'एषः'  
यजमानोऽपि 'एतेन' अग्नीषोमीययागेन 'पाप्मानं' पापभूलं  
'हिषन्तं' द्वेष्टारं 'भ्रातृव्यं' शत्रुं 'हन्ति' ॥

पौर्णमास्यां 'यः' सान्नाय्ययागो विहितः, त मनूय स्तौति  
— "अथ यदित्यादिना । "आमावास्यां वा इति । इन्द्रवीर्यस्य  
सन्नयनसाधनं दधिपयोरूपं हविः 'आमावास्यां वै' अमावास्या-

\* तै० सं० ३. २. २. ४ ।

† तै० सं० २. ५. २. ४ ।

‡ पा० सू० १. ३. १६ ।



सम्बद्ध मेव । ‘अमावास्या’ तिथिः ‘इति’ ‘यत्’, ‘तद्’ ‘दूरे’ ; प्रतिपदादिभिश्चतुर्दशीभिर्व्यवधानात् । पुरा खलु देवाः ‘क्षिप्रे एव’ अल्पकाले एव शीघ्रम् ‘एतत्’ इत्थं ‘वृत्रं’ ‘जघ्नुषे’ हन्तवे इन्द्राय । “क्रियायद्वयं कर्त्तव्यम्”—इति \* कर्मणः सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । ‘तं’ पौर्णमास्यां वृत्रं हतवन्त मिन्द्रम् ‘एतेन’ सान्नाय्य-रूपेण ‘रसेन’ ‘अप्रीणन्’ अतर्पयन् । ‘यः’ यजमानः ‘एवं विद्वान्’ पौर्णमास्या मिन्द्र मुद्दिश्य सान्नाय्ययागं करोति , स इन्द्रवत् क्षिप्र मेव रुक्मीयं पापरूपं शत्रुम् ‘अपहते’ हिनस्ति । तदेव सन्नयनं प्रकारान्तरेण स्तौति—“एष वा इति । योऽयं पौर्ण-मास्यां सम्पूर्णः ‘चन्द्रमाः’, ‘एषः’ खलु ‘राजा सोमः’ देवाना मन्त्रम् ; ‘तं’ सोमरूपम् ‘एतत्’ अन्नम् ‘प्रातः भक्षयिष्यन्तः’ पूर्वदिवसे ‘अभिषुण्वन्ति’ रसभावं प्रापयन्ति । ‘तम् एतत्’ अपर-पक्षे ‘भक्षयन्ति’ । ‘यत्’ यस्माद् असौ प्रत्यहं तत्र ‘अपचीयते’, अतो भक्षयन्तीति सम्बन्धः ॥ १५ ॥

तथाविध मेवैतदनुष्ठान मित्याह—“अथ यत् पूर्वेष्वरुन्नी-षोमीयेणेति । “अभिषुण्वत्येवेन मिति । पूर्वेष्वुः कर्त्तव्या-भिषवस्थानीयोऽय मग्नीषोमीययाग इत्यर्थः । ‘अभिषुते तस्मिन्’ सोमे ‘एतं’ सान्नाय्यरूपं ‘रसं’ परेष्वुः ‘दधाति’ स्थापयति । ‘एतेन’ च सान्नाय्यरसेन तं सोमं ‘तीव्रीकरोति’ तीव्र मतिशयेन मदकरं करोति , तथा तेन सान्नाय्यरसेन ‘देवेभ्यः’ देवायं ‘हव्यं’ हविः ‘स्वदयति’ स्वादूकरोति । ‘अस्य’ यजमानस्य तत् ‘हव्यं’ हविः ‘देवेभ्यः’ ‘स्वदते’ रोचते । “रुच्यर्थानां प्रीयमाणः”—इति † सम्प्रदानत्वात् देवेभ्य इति चतुर्थी ॥ १६ ॥



दर्शयागे पूर्वदिवस मनुष्ठेय मेन्द्राग्नयाग मनूद्य स्त्रीति—  
“अथ यदिति । ‘इन्द्राग्नी एव’ खलु ‘दर्शपूर्णमासयोर्देवते’ ;  
तत्रत्यप्रथमपुरोडाशस्याग्निदेवत्वत्वात्, सान्नाय्यस्य चैन्द्रत्वात् । “त  
एवेतदित्यादि, निगदसिद्धम् ॥ १७ ॥

दर्शप्रयोगे परेद्युरनुष्ठेयावपि यागावनूद्य स्त्रीति— “अथ  
प्रातरिति । “अथैतावेवेत्यादि । पयस्याया देवते ‘मित्रवरुणौ’,  
‘एतावेव अर्हमासौ’ । एतदेव विद्वणोति— “य एवेति । ‘य  
एव’ अर्हमासः ‘आ’ समन्तात् ‘पूर्यते’ वर्धमानया चन्द्रकज्ञया  
मूर्णो भवति, ‘सः’ अमृतरससम्बन्धाद् ‘वरुणः’, स हि रसाभि-  
मानी देवः ; ‘यः’ अर्हमासः ‘अपचीयते’ क्षीयमाणचन्द्रकालयुक्तो  
भवति, ‘सः’ अपरपक्षः ‘मित्रः’ ; ‘तौ’ चन्द्रसूर्यात्मकौ मित्रा-  
वरुणौ ‘उभौ’ ‘एतां रात्रिं’ दर्शरात्रिं ‘समागच्छतः’ सह समाप्नुतः ।  
‘तत्’ तस्मात् कारणात् ‘एतत्’ एतेन मैत्रावरुणयागिन  
‘उभावेव’ तौ ‘सह सन्तौ’ सह भवन्तौ युगपत् ‘प्रीणाति’  
तर्पयति । “सर्वं ह वा अस्वेति, वेदितुः फलम् ॥ १८ ॥

मित्रावरुणदेवद्वयं प्रकारान्तरेण स्त्रीति— “तद्वा एता  
मिति । ‘एतां रात्रिम्’ । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया \* । ‘मित्रः’  
अपरपक्षाभिमानी देवः, ‘वरुणे’ शुक्लपक्षाभिमानिने देवे ‘रेतः’  
सिञ्चति । ‘तत्’ तथा सति ‘एतेन रेतसा’ स शुक्लपक्षः ‘प्रजा-  
यते’ उत्पद्यते ; ‘यत्’ यतः कारणात् अस्मिन् चन्द्रः ‘आपूर्यते’ ।  
‘यत्’ यस्मात् एवम्, ‘तत्’ तस्मात् ‘एषा’ मित्रावरुणदेवताका  
‘पयस्या’ ‘अवल्लृप्ततमा’ अतिशयेनावल्लृप्ता, क्लृप्तसामर्थ्या  
भवति ॥ १९ ॥

\* “कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे”— इति पा० सू० २. ३. ५ ।



इतोऽपि पयस्यायागो दर्शे युक्ततर इत्याह—<sup>१</sup>“सान्नाय्यभाजना वा इति । ‘सान्नाय्यभाजना’ सान्नाय्ययागस्य स्थानभूता ह्यमावास्या ; ऐन्द्रदध्यामावास्याया मिति दधिपयसोर्यागस्य प्रकृतौ तत्र विहितत्वात् । ‘तत्’ तथा सति ते द्वे ऐन्द्रसान्नाय्ये ‘अदः’ विप्रकृष्टः ‘पौर्णमास्याम्’ एव ‘क्रियते’ । यद्यपि ‘सः’ पौर्णमास्यां सान्नाय्यं यजमानः ‘अत्र’ दर्शे ‘अपि’ ‘सन्नयेत्’, तदा कृतस्यैव पुनःकरणत्वात् ‘जामिता’ दोषः स्यात् ; अपि च दर्शपूर्णमासदेवतयोः परस्परं ‘समदं’ कलहं ‘कुर्यात्’ । पूर्णसासे कृतमेन्द्रं सान्नाय्यं परित्यज्य दर्शे मित्रावरुणदेवतत्वात् पथस्यैव कार्या । तस्या अपि दधिपयसोर्विकारत्वात् अमावास्यायाः सान्नाय्यभाजनत्वं मपि न व्याहन्यत इत्यर्थः । “तदेन मद्भ्य इत्यादि । ‘तत्’ तेन दर्शेऽनुष्ठितेन सान्नाय्ययागेन अस्मि ओषधिषु च प्रविष्टम् ‘एनम्’ सोमं ततः ‘सम्भृत्य’ दधिपयोरूपेण सम्पाद्य, अग्नौ हुत्वा, तानि ‘आहुतिभ्यः’ सकाशात् ‘अधिजनयति’ । ‘स एषः’ चन्द्रः ( सान्नाय्याहुतिभ्यः जातः \* ) प्रतिपदि ‘पश्चाद् ददृशे’ कलारूपेण दृश्यते ॥ २० ॥

पयस्योत्पत्त्यनुनिष्ठादिनो वाजिनस्यापि † होमं विधितुः पयस्यावाजिने सम्भूय स्तौति— “मिथुनादिति । ‘एनं’ चन्द्रं ‘मिथुनात्’ एव हि खलु ‘एतत्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । किन्तर्हि मिथुनम् ? ‘पयस्या’ हि स्त्रीलिङ्गत्वाद् ‘योषा’ स्त्री, ‘वाजिनं’ हि ‘रैतः’ पुरुषस्य वीर्यस्थानीयम् ; ‘तत्’ खलु ‘अनुष्ठाम’

\* नाख्येतत् पदद्वयं च-पुस्तके ।

† “दधिपयसोः सारभूतं यत् कठिनं सम्यज्यते, सा पयस्या ; यच्च उदकं पृथग् भवति, तद् वाजिनम्”—इति या० दे० ( का० सू० ४, ४, ६, ) ।



अनुष्ठानात् सम्यक् 'यत्' यत्न खलु स्त्रीपुंसलक्षणात् 'मिथुनात्'  
'जायते' ॥ २१ ॥

इत्थं वाजिनस्य मिथुनसम्प्रत्यर्थत्वमुक्त्वा तस्य होमं विधत्ते—  
“अथ वाजिभ्य इति \* । विहितं वाजिनहोमं प्रजोत्पत्तिहेतुत्वेन  
स्तीति— “ऋतवो वा इति । ‘ऋतवः’ खलु वाजिशब्दाभिधेयाः ,  
तेभ्यः । वाजिनहोमात् ऋतुष्वेव सर्वप्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’  
‘सित्तं’ भवति ; तस्माच्च रेतसः सकाशात् ते ‘ऋतवः’ सर्वाः  
‘प्रजाः’ उत्पादयन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

तस्य वाजिनहोमस्य कालं विधातुं स्तीति— “स वा इति ।  
यज्ञस्य पश्चाद्भागे प्रस्तरपरिधिप्रहरणोत्तरकालं वाजिनहोमः  
कर्त्तव्यः । अत एवोक्तं कात्यायनेन— “वाजिनं निषिच्योत्करे  
करोति , ०—० प्रहृत्य त्वणं तेन चरति , विमुच्य वा स्तुचौ”—  
इति † । आपस्तम्बोऽप्याह स्म— “परीधीन् प्रहृत्य , संस्त्रवान्तं  
कृत्वा , वाजिनपात्रमुपस्तीर्य”—इत्यादि । होमे विशेषं  
विधत्ते— “स वा इति । ‘सः’ खलु अध्वर्युः ‘अग्ने’ प्रथमं  
‘प्रागेव’ प्रागपवर्गं मत्स्यं वाजिनं ‘जुहोति’ । “अग्ने वीहि”—  
‘इति’ ‡ यदा होता ‘अनुवषट् करोति’, तदा खिष्टकृत्स्थानीयं  
वाजिनशेषमुत्तरपूर्वस्थां दिशि जुहोति § । “स वै प्रागेवेति ,  
प्रधानहोमस्य निगमनम् ॥ २३ ॥

हुतशिष्टेन वाजिनेन दिग्व्याघारणं विधत्ते— “अथ दिशो  
व्याधारयतीति ॥ । दीर्घधारयान्नी प्राच्यादिदिक्षु पातनम् , व्याघा-

\* का० औ० सू० ४. ४. ६ ।

† का० औ० सू० ४. ४. ६— १२ ।

‡ ऐ० ब्रा० १. ४. ५ द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० सू० ४. ४. १६ का ।

॥ का० औ० सू० ४. ४. १६ ख ।



रणम् । तन्मन्त्रा.—“दिशः प्रदिश इत्यादयः ॥ । अनेन वाजि-  
नेन ‘दिशः’ दृष्टा भवन्तु । एव सुत्तरत्रापि योज्यम् । प्रधानभूताः  
‘दिशः’, दिक्षध्ववर्त्तिन्यः ‘प्रदिशः’, ईषद्दिशः ‘आदिशः’, ‘विदिशः’  
आग्नेयादिकोणदिशः, ‘उद्दिशः’ ऊर्ध्वा दिशः । एवं पञ्चभिर्मन्त्रैः  
स्वाहाकारान्तैः प्राच्यादिक्रमेण पञ्चसु दिक्षु व्याधारार्थं “दिग्भ्यः  
स्वाहा”—इति षष्ठेन पूर्वार्द्धे जुहुयात् । तदुक्तं सूत्रकृता—  
“वाजिनशेषेण दिशो व्याधारयति, दिश इति प्रतिमन्त्रम्; प्रदक्षिणं  
पुरस्तात् प्रथमं सुत्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्द्धे च”—इति ॥ । तदेतद्  
व्याधारणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति ॥ २४ ॥

यजमानपञ्चमाना ऋत्विजां भक्षणं विधत्ते— “तद्वै पञ्चै-  
वेति § । तद्भक्षणं प्रशंसति— “पञ्च वा ऋतव इति । “हेमन्त-  
शिशिरयोः समासेन”—इति § ऋतूनां पञ्चत्वम् । यदेव पञ्चानां  
ऋत्विजां भक्षणम्, एतत् पञ्चसङ्ख्यानां ऋतूनां मेव रूपं क्रियते ।  
“तत्” तस्मात् ‘ऋतुषु’ प्राक् ‘सिक्तं’ रेतः ‘प्रतिष्ठापयति’ प्रतिष्ठितं  
करोति ॥

यजमानस्य प्राथम्यं विधत्ते— “प्रथमो यजमान इति ॥ ।  
ऋत्विग्भ्यः ‘प्रथमः’ पूर्वभावी सन् अहं ‘रेतः’ ‘परिगृह्णानि’ स्वीक-  
रवाणि ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानस्य प्रथमभक्षणं मित्वर्थः ॥

पञ्चान्तरमाह— “अथो अष्टुत्तम इति ¶ । पञ्चान्तर-  
द्योतकः ‘अथो’-शब्दः । ऋत्विजाम् ‘उत्तमः’ चरमभावी सन्

\* वा० सं० ६, १६, १—५ ।

† का० औ० सू० ४, ४, १६, १७ । “स्वाहाकारः सर्वत्र साकाङ्गत्वात्” १८ ।

‡ “होत्रध्वर्युर्ब्रह्माग्नौ यजमानाः”— इति का० औ० सू० ४, ४, २६ ।

§ ऐ० ब्रा० १, १, १ द्रष्टव्यम् ।

॥, ¶ “प्रथमो वोभयतस्तु यजमानः”— इति का० औ० सं० ४, ४, २७ ।



यजमानो भक्षयेत् । एव मपि विरोधो नास्तीति 'अपि'-शब्द-  
 स्यार्थः । 'उत्तमे' चरमभाविनि यजमाने कृत्स्नं 'रेतः' 'प्रति-  
 तिष्ठात्' प्रतितिष्ठेत्, न मा भतिवर्त्तेत, इत्यनेनाभिप्रायेण यज-  
 मानस्य चरमभक्षणं मित्यर्थः \* ॥

अथ मन्त्रानुज्ञापनपूर्वकं तद्वक्षणं कर्त्तव्यमिति विधत्ते—  
 'उपहृत इति । "उपहृतः"—इत्यनुज्ञामन्त्रः, "उपहृत्यस्व"—  
 इत्यनुज्ञापनमन्त्रः । एतच्च द्वादशलक्षणां तृतीये विचारितम् † ।  
 कात्यायनेनाप्युक्तम्— "उपहृत्यस्वेत्यामन्त्रं भक्षणं उपहृत इति  
 प्रसूतः"—इति ‡ । एवञ्च सति 'एतद्' वाजिनम् ऋत्विजः 'सोम  
 मेव' सोमसदृशं मेव 'कुर्वन्ति'; उपहवसाधनं हि सोम-  
 धर्मः § ॥ २५ ॥ १ [४. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवौये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

\* "ऋतूनां त्वा वाजिनां वाजिनं भक्षयामीति"—इत्यादयश्च मन्त्रविधयः  
 का० श्रौ० ४. ४. २३-२४-२५-सूत्रेषु द्रष्टव्याः ।

† मी० जै० सू० ३. ५. १६-५३ सूत्राणि, तेषु ६-१६ अधिकरणानि च  
 द्रष्टव्यानि । विशेषतस्त्विह "वचनादनुज्ञातभक्षणम्, यदुपहृत उपहृत्यस्वेत्य-  
 नेनानुज्ञापयेत्तिज्ञात्"—इति सूत्रद्वयं विवेच्यम् (४०, ४१ सू०; १४, १५ अधि०) ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ४. १६ । "युक्तनामभिर्वा"—इति तदुत्तरम् (२०) ।

§ का० श्रौ० सू० ४. ४. २१ । "दाचायणं वा दक्षिणां"—इति (का०  
 श्रौ० सू० ४. ४. २८.) चात्र दक्षिणाविधिः । 'दाचायणं सुवर्णं मुच्यते ०—  
 तच्च शतमानं रक्तिकाशतपरिमितम् (२०, १, २५ सू०)—इत्यादि  
 च तत्र वृत्तौ याज्ञिकं देवः ।



वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।  
 पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,  
 सप्तार्ध्वीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
 रत्नोक्तां रुक्मशजिहिपसहितरथौऽसायणिः सिङ्गणार्यो,  
 व्यश्याणीद्विष्वक्क्रां प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजते राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः,  
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मल्लत मुदा पात्रसास्त्रिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥



( अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्. )

प्रजापतिर्ह वा ऽद्भुद मय ऽएक एवास । सु  
ऐक्षत कथं नु प्रजायंयेति सोऽश्नाम्यत् स तपोऽतप्यत  
सु प्रजा असृजत ता अथ प्रजाः सृष्टाः पराबभूवु-  
स्तानीमानि व्यधांसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं  
द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो व्यधांसि ॥ १ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । यथा न्वेव पुरैको-  
ऽभूव मेव सु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति सु द्वितीयाः  
ससृजे ता अथ परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं  
थुदन्यत् सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृज ऽद्वित्याहुस्ता अथ  
परैव बभूवुस्त ऽद्वमे सर्पा एता ह न्वेव द्वयीर्याज्ञ-  
वल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनर्ऋचा \* ॥ २ ॥

सोऽर्चञ्क्षुम्यन् प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे । कथं नु  
मे प्रजाः † सृष्टाः पराभवन्तीति सु हैतदेव ददर्शन-  
शनुतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति सु आत्मन एवाग्ने  
स्तुनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे सु प्रजा असृजत ता

\* 'चा'— इति घ, ङ ।

† 'प्रजाः'— इति घ, ङ ।



अस्य प्रजाः सृष्टा स्तुनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्-  
भवुस्ता इमा अपराभूताः ॥ ३ ॥

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । प्रजा ह तिम्रो  
ऽअत्याय मीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता एवैतदभ्य-  
नूक्तं न्यन्या अर्क्कं मभितो विविश्र ऽदृत्यग्निर्वी  
ऽअर्क्कस्तद्या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्नि मभितो  
निविष्टास्ता एवैतदभ्यनूक्तम् ॥ ४ ॥

महद्ब्र० तस्यौ भुवनेष्वन्तरिति । प्रजापति मेवै-  
तदभ्यनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति दिशो वै-  
हरितस्ता अयं व्यायुः पवमान आविष्टस्ता एवैष-  
ऽर्गभ्यनूक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव  
प्रजापतिः प्रजा असृजतेदं हि यदैव स्त्रियै स्तुना-  
वाप्यायेते ऽजुधः पशूना मथैव यज्जायते तज्जायते  
तास्तत स्तुनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥ ५ ॥

तद्वै पय एवान्नम् । एतदध्यमे प्रजापतिरन्न  
मजनयत तद्वा ऽअन्न मेव प्रजा अन्नाद्वि सम्भवन्तीदं  
हि यासाम्पयो भवति स्तुनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्भ-  
वन्त्यथ यासाम्पयो न भवति जात मेव ता अथा-



दयन्ति तदु ता अन्नादेव सम्भवन्ति तस्मादन्न मेव  
प्रजाः \* ॥ ६ ॥

स युः प्रजाकामः । एतेन हविषा यजत ऽआ-  
त्मानमैवैतद्यज्ञं विधत्ते प्रजापतिं भूतं † ॥ ७ ॥

स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।  
अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापति-  
स्तस्मादाग्नेयो भवति ॥ ८ ॥

अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै सोमस्तुदग्नौ  
प्रजनयितुरि सोमं रेतः सिञ्चति तत् पुरस्तान्मिथुनं  
प्रजननम् ॥ ९ ॥

अथ सावित्रः ‡ । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो  
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां  
प्रसविता प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता तस्मात्  
सावित्रो भवति ॥ १० ॥

अथ सारस्वतश्चरुर्भवति । पौष्णश्चरुर्योषा वै  
सरस्वती वृषा पूषा ततः पुनर्मिथुनं प्रजननं मेत-

\* 'प्रजाः'— इति घ, ङ ।

† 'भूतं'— इति घ, ङ ।

‡ 'त्रः'— इति घ, ङ ।



स्माद्वा ऽउभयुतो मिथुनात् प्रजुननात् प्रजापतिः  
 प्रजाः ससृज ऽद्वतुश्चोर्ध्वा द्रुतश्चावाचीरुथो ऽएवैषु  
 एतस्मादुभयुत एव मिथुनात् प्रजुननात् प्रजाः  
 सृजत ऽद्वतुश्चोर्ध्वा द्रुतश्चावाचीरुस्माद्वा ऽएतानि  
 पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ११ ॥

अथातः पयस्याया एवायुतनम् । मारुतस्तु सप्त-  
 कुपालो विंशो वै मरुतो देवविंशस्ता हेतु मनि-  
 पेध्रा \* इव चेरुस्ताः प्रजापतिं यजमानमुपेत्योचुर्वि  
 वै ते मथिष्यामह ऽद्वमाः प्रजा या एतं न हविषा  
 स्तद्व्यस ऽद्वति ॥ १२ ॥

सु ऐक्षत प्रजापतिः । पुरा मे पूर्व्याः प्रजा  
 अभूवन्निमा उ चेदिमे विमथुते न ततः किञ्चन  
 परिशेक्ष्यत ऽद्वति तेभ्य एतं भागं सकल्पयदेतं मारु-  
 तं सप्तकुपालं पुरोडाशं सु एष मारुतः सप्त-  
 कुपालस्तद्व्यत् सप्तकुपालो भवति सप्त-सप्त हि  
 मारुतो गणस्तस्मान् मारुतः सप्तकुपालः पुरोडाशो  
 भवति ॥ १३ ॥

तं वै स्वतवीभ्य द्वति कुर्यात् । स्वयं हि त



ऽएतं भागं मुकुर्व्वतोतो स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये  
न व्विन्दन्ति स उ खलु मारुत एव स्यात् स वा  
ऽएष प्रजाभ्य एवाहिंसायै क्रियते तस्मान्  
मारुतः \* ॥ १४ ॥

अथातः पयस्यैव † । पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति  
पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः  
सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत् करोति तद्याः पूर्व्वै-  
र्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता एतस्मात् पयस एतस्यै  
पयस्यायै सम्भवन्ति ॥ १५ ॥

तस्यां मिथुन मस्ति । योषा पयस्या रेतो  
व्वाजिनं तस्मान् मिथुनादिष्व मसम्मित मनु प्राजा-  
यत तद्यदेतस्मान् मिथुनादिष्व मसम्मित मनु  
प्राजायत तस्माद्वैश्वदेवी भवति ॥ १६ ॥

अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
एतैर्व्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावा-  
पृथिवीभ्यां पर्य्यगृह्णात्ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां  
परिगृहीतास्तथो ऽएवैष एतद्या एतैर्हविर्भिः प्रजाः

\* 'मारुतः' — इति क, घ, ङ ।

† 'व' — इति घ, ङ ।



सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति तुस्माद्  
द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १७ ॥

अथात आहुदेव \* । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं  
विसृष्ट मसत् सुर्व्वं मसद्वैश्वदेव मसदिति चेधा  
वर्हिः सुन्नद्धं भवति तत् पुनरेकधैतद्धि प्रजुननस्य  
रूपं प्रजुनन मु हीदं पिता माता यज्जायते तत्  
तृतीयं तुस्मात् चेधा सत् पुनरेकधा मुख उप-  
सुन्नद्धा भवन्ति तं प्रस्तरं गृह्णाति प्रजुनन मु  
हीदं प्रजुनन मु हि प्रस्वस्तस्त्वात् प्रसुः प्रस्तरं  
गृह्णाति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति † । अग्निं  
ह वै जायमानं मनु प्रजापतेः प्रजा जन्तिरे‡ तथो  
ऽएवैतस्त्वाग्नि मेव जायमानं मनु प्रजा जायन्ते  
तस्मादासाद्य हवींष्यग्निं मन्यन्ति § ॥ १९ ॥

नवप्रयाजं भवति । नवानुयाजं दृशाक्षरा वै  
व्विराड्यैता सुभयतो न्यूनां व्विराजं करोति

\* 'व'— इति घ, ङ ।

†, § 'मन्यति'— इति ग ।

‡ 'जन्तिरे'— इति च दृशो डा०-वेवरेण ।



प्रजुननायैतस्माद्वा ऽउभयतो न्यूनात् प्रजुननात् प्रजा-  
पतिः प्रजाः ससृज ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुथो  
ऽएवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजुननात् प्रजाः  
सृजत ऽइतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीरुत्सान्नवप्रयाजं  
भवति नवानुयाजम् ॥ २० ॥

त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्ति । ज्याय इव  
हीदुषु हविर्यज्ञाद्युत्र नवप्रयाजं नवानुयाज मयो  
ऽअप्येक मेव स्याद्वविर्यज्ञो हि तुल्य प्रथमजो गौर्दु-  
क्षिणा ॥ २१ ॥

एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञेनेष्टा येयं प्रजापतिः  
प्रजातिर्या श्रीरेतद् बभूवैताणु ह वै प्रजातिं प्रजा-  
यत ऽएताणु श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन  
युजते तस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ २२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

अथ चातुर्मास्यानि \* विधित्सुस्तत्र वैश्वदेवस्य प्रजासृष्टि-  
हेतुता साख्यायिकया प्रतिपादयति— “प्रजापतिर्ह वा इति ।

\* चातुर्मास्यशब्देन इतः क्रमाद् विधास्यमानानि वैश्वदेवरूपप्रधास-  
साकमेधसुनामीरीयसञ्ज्ञानि चत्वारि पर्वाण्यभिधीयन्ते ।



इदं दृश्यमानं चराचरात्मकं जगत् तत्समग्रसृष्टेः प्राक्काले प्रजा-  
पतिरेक एव आसीत् ; कार्यस्य जगतः कारणभूते प्रजापतौ लीन-  
त्वात् । सः असहायः एक एव आसीदित्यर्थः ।

ततः सकाशात् प्रजासृष्टिं दर्शयति—“स ऐक्षतेत्यादिना ।  
“अश्राम्यदिति । प्रजोत्पत्तिकारणपर्यालोचनया श्रान्तः खिन्नो-  
ऽभवदित्यर्थः । “अमु तपसि खेदे च” \* । “शमा मष्टा-  
नाम्”—इति † दीर्घः । स च श्रान्तः सन् प्रजोत्पत्तिकारणं  
तपस्तप्तवान् । “स प्रजा इत्यादि, निगदसिद्धम् ।

“तानीमानीति । या खलु सृष्टेः पराभूताः, ‘तानि  
इमानि’ ‘वयांसि’ जातानि, पञ्चिरूपेणामवन्नित्यर्थः । एतदुपपा-  
दयति—“पुरुषो वा इति । ‘पुरुषः’ मनुष्यः खलु सृष्टानां  
प्रजानां मध्ये ‘प्रजापतेः’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमं कार्यम् । स च  
पादद्वयोपेतः, तत्परिणामरूपत्वात् पञ्चिणोऽपि पादद्वयोपेता  
दृश्यन्ते । तस्माद् वयसां पुरुषसाधर्म्यात् तेषां तत्परिणामरूपत्व  
मवसेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

पुनरन्यथा प्रजासृष्टि माह—“स ऐक्षतेति । “यथा न्वेवेति ।  
‘यथा’ खलु ‘पुरा’ प्रजासृष्टेः पूर्वम् ‘एकः’ असहायः ‘अभूवम्’;  
‘अप्येतर्हि’ इदानीं प्रजासृष्ट्युत्तरकाले मपि तथैव ‘एकः एव  
अस्मि इति’ । एव मीक्षित्वा ‘सः’ पुनः अन्याः प्रजाः ‘ससृजे’,  
पूर्वसृष्टप्रजापेक्षया आसां द्वितीयत्वम् । “परेवेति । ‘अस्य’  
‘ताः’ अपि प्रजाः पराभूताः ‘एव’ अभवन् । ‘तत्’—इति विधेया-  
पेक्षं नपुंसकत्वम् ; ताः पराभूताः द्वितीयसृष्ट्युत्पन्नाः प्रजाः,

\* दि० प० ६८ धा० ।

† पा० सू० ७. ३. ७४ ।



यत् 'इदं' 'क्षुद्रम्' अल्पशरीरं 'सरीसृपं' सर्पणशीलं सूर्यव्यति-  
रिक्तं प्राणिजातं दृश्यते, तदात्मना परिणता इत्यर्थः । "तृतीयाः  
सृज इत्याहुरिति । पुनरपि स प्रजापतिः सृष्टिद्वयापेक्षया  
'तृतीयाः' अन्याः प्रजाः 'सृज' सृष्टवान् 'इति' 'आहुः' अभिज्ञाः  
कथयन्ति । 'ताः' अपि 'अस्य' पराभूताः अभवन् । 'ते इमे'  
सर्परूपेण दृश्यन्ते ॥

तृतीयसृष्टावाहुरिति यः परोक्षनिर्देशः, तदभिप्राय माह  
— "एता हेति । 'एताः' पूर्वोक्ताः 'द्वयीः' द्विविधाः 'एव' प्रजाः  
प्रजापतिना सृष्टाः इति 'आत्रवल्क्यः' महर्षिः 'उवाच' उक्तवान्,  
न तृतीयानां प्रजानां सृष्टिः ; 'ऋचा' ऋद्धन्तेण \* 'पुरः' 'त्रयी'  
त्रिविधा अपि 'प्रजाः' सृष्टा इति प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

स चोदाहरिष्यते— "सोऽर्चन्नित्यादि । त्रिवारं सृष्टानां  
प्रजानां पराभवकारणं किं मिति विचार्य 'सः' खलु 'एतत् एव'  
कारणं 'ददर्श' । एतच्छब्दनिर्दिष्टं दर्शयति— "अनशनत-  
येति । उत्पन्नानां प्रजानां मशनराहित्यं पराभवकारणं मित्यर्थः ।  
उत्पद्यमानानां प्रजानां मनशनत्वं माभूदिति प्रजापतिना कल्पित  
मशन माह— "स आत्मन एवेति । 'अग्ने' सृष्टेः प्रागेव प्रजा-  
पतिः 'आत्मनः' स्वशरीरस्य एव सम्बन्धिनोः 'स्तनयोः' 'पयः'  
'आप्याययाचक्रे' आप्यायितं पूरितं कृतवान् । एव मशनं  
प्रकल्प्य अनन्तरं या प्रजाः असृजत, 'अस्य' प्रजापतेः 'ताः'  
सृष्टाः 'प्रजाः' पयसा पूर्यो 'स्तनौ' 'अभिपद्य' जीवनवत्योऽभवन् ।  
'ततः' अनन्तरं 'ताः' प्रजाः 'सम्बभूवुः' सम्यगुत्पन्ना लब्धात्मानो-  
ऽभवन् । पराभवं न प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

\* त मिमं मन्त्र मिहैवोपरिष्ठात् चतुर्थपञ्चमयोदुष्टत्वा आख्यास्यते ।



उक्तेऽर्थे ऋक्षन्त्वं संवादयति— “तस्मादिति । यस्मादग्रे  
एव मासीत्, तस्मात् कारणात् तदुक्त मर्थजातम् ‘ऋषिणा’ मन्त्रेण  
‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् \* । तत्र प्रथमपाद मनुष्योक्तार्थ-  
परता माह— “प्रजा हेति । ‘तिस्रः’ त्रिविधाः ‘प्रजाः’  
‘अत्यायम्’ अत्ययं विनाशम् ‘ईयुः’ जग्मुः । ‘ह’-शब्द एतद्-  
ब्राह्मणप्रसिद्धिं द्योतयति † । “तद्या इति । ‘याः’ खलु प्रजाः  
त्रिधा सृष्टा अन्नाभावहेतुना ‘पराभूताः’, ‘एतत्’ एतेन मन्त्र-  
पादेन ता एवाभिलक्ष्य ‘अभ्यनूक्तम्’ प्रतिपादितम् ॥

द्वितीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “न्यन्या इति । ययोरूप  
मशनं प्राप्य ‘अन्याः’ प्रजाः ‘अर्कम्’ अर्चनीय मग्निम् ‘अभितः’  
सर्वतः ‘निविविश्रे’ निविवेशिरे । “नेर्विशः”—इति ‡ आत्मने-  
पदम्, “इरयो रे”—इति § रे-आदेशः । “तद्या इत्यादि ।  
‘तत्’ तत्र ‘या इमाः प्रजाः’ ‘अपराभूताः’, ‘ताः’ एव, जाठररूपेण  
लौकिकवैदिकमेदेन वावस्थितम् ‘अग्निं’ स्वस्वव्यापाराय पर्युपविष्टा  
वर्त्तन्ते । एतदेतेन आदेन प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

तृतीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “महद्ब्र तस्याविति । इत्थं  
देवमनुष्यादिरूपासु प्रजासु सतीषु तत्सृष्टा प्रजापतिः ‘भुव-

\* ऋ० सं० द. १०१. १४ ।

† भाष्यकारस्येदं वचन मशङ्क्यम् ; अस्य हि ब्राह्मणग्रन्थस्य ऋग्वेदीय-  
मन्त्रग्रन्थात् परतन्त्रत्वात् । अत एवात्र ऋक्षन्त्रमगोपन्यासः सङ्गच्छते ।  
वस्तुतः सर्व एव ब्राह्मणग्रन्थाः सर्वेभ्य एव मन्त्रग्रन्थेभ्यः परभवा इत्येति-  
हासिकसिद्धान्त एव ।

‡ पा० सू० १. ३. १७ ।

§ पा० सू० ६. ४. ७६ ।



नेषु 'अन्तः' मध्ये 'महत्' \* अधिकं 'तस्यै' सर्वोत्कर्षेणावस्थितः । गत मन्यत् ॥

चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “पवमान इति । 'दिशो वै हरितः' दिशो हि हरिच्छब्दवाच्याः, अतः 'ताः' 'अयं' पुरोवर्त्ती 'पवमानः' वायुः 'आविष्टः' दृश्यते । अतस्तुरीयपादेन अयमर्थः प्रतिपाद्यत इति । “ता एवेति, उक्तार्थनिगमनम् । 'ताः' उक्ताः प्रजाः 'एव' अभिलक्ष्येत्यर्थः † ॥

प्रजापतिकृतायाः सृष्टेरविच्छेदेनानुवृत्तिं दर्शयति— “ता इमा इति । 'यथैव' येन हि प्रकारेण पुरा 'प्रजापतिः प्रजाः असृजत', 'तथैव' तेनेव प्रकारेण 'ता इमाः' मनुष्याद्याः 'प्रजाः' 'प्रजायन्ते' उत्पद्यन्ते । एतदेवोपपादयति— “इदं हीति । इदानीं स हि 'यदेव' खलु लोके 'स्त्रियै' स्त्रियाः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । 'स्तनौ' 'आप्यायेते' पयसा पूरितौ भवतः । व्यन्ययेनेकवचनम् § । गवादिपशूनाम् 'जधः' च पयसा पूर्यं भवति । 'अथ' अनन्तरम् 'एव' 'यत् जायते' 'तत्' एव 'जायते', अन्यदजायमानं विपद्यत इत्यर्थः । “तास्तत इति । 'ताः' उत्पन्नाः प्रजाः

\* 'बृहत्'— इति सुद्धितायाः शाकलशाखाया आम्बलायनशाखाया वा पाठः । तदेवं शतपथब्राह्मणान् शाकलाभिधानां पञ्चानां आम्बलायन्यादीनां माविर्भावात् पूर्वतन मिति गम्यते । नाप्येतेन मन्त्रसंहिताभ्य इदं पुरातन मिति अभितथम् ।

† ऐतरेयकारण्यके त्वेव मन्त्रो विशेषतो व्याख्यातः । ऐ० आ० २ ब्रा० १ अ० १ ख० ४—८ । तत्र 'तिस्रः' इत्यस्य 'वज्रावगधाच्चैरपादाः'— इति व्याख्या समान्वाता । सायणकृतं तद्व्याख्यानम् न समीचीनं मन्यामहे ।

‡ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

§ पा० सू० ३. १. ८५ । इह कारिका द्रष्टव्या ।



‘ततः’ जननानन्तरं पयोधरौ ‘स्तनौ एव’ ‘अभिपद्य’ अभि-  
प्राप्य स्तन्यपानेन ‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, न विपद्यन्ते ॥ ५ ॥

पयसोऽन्नरूपता साह— “तद्वै पय इति । ‘तत्’ तत्र खलु  
जन्मानन्तरकाले ‘पय एव’ प्रजानाम् ‘अन्नम्’ भवति । ‘हि’  
यस्मात् ‘अग्रे’ इतरान्नदृष्टेः प्राक् ‘एतत्’ एव ‘अन्नम्’ ‘प्रजापतिः’  
‘अजनयत’ उत्पादितवान्, तस्मादिदं मेव मुख्यं मन्त्रं मित्यर्थः ।  
तस्य चान्नस्य कार्यकारणयोरभेदोपचारेण प्रजारूपता सुप-  
पादयति— “अन्नं मेवेति । ‘हि’ यस्मात् ‘प्रजाः’ ‘अन्नात्’  
‘सम्भवन्ति’ प्रवर्द्धन्ते, तस्मात् तदालम्बिका इत्यर्थः । ‘इदं हि’  
इदानीं ह्येत्यर्थः । “जातं मेवेति । स्तन्याभावे जातस्य शिशो-  
र्जीविनासम्भवात् तज्जीवनार्थं जननानन्तरं मेव ‘ताः’ प्रजाः स्तन्य-  
मेव ‘अदयन्ति’ भोजयन्ति \* । स्पष्टं मन्त्रम् । इत्यं मन्त्र-  
हेतुकं प्रजापतेः प्रजासर्जनं सुपोद्घातत्वेनोपन्यस्तम् ॥ ६ ॥

अथोपोद्घातिकेषु वैश्वदेवहविरुत्पादयंस्तद् दर्शयिष्यंस्तावत्  
वैश्वदेवयागं विधत्ते— “स यः प्रजाकाम इति † । ‘यः’ यजमानः  
प्रजाकामः, ‘सः’ ‘एतेन’ वैश्वदेवाख्यपर्वरूपेण ‘हविषा’ यजेत, तस्य  
प्रजाफलसाधनत्वं सुपपादयति— “आत्मानं मेवेति । स यजमानः  
‘आत्मानं मेव’ प्रजापतिरूपं मापन्नम् ‘एतद्’ वैश्वदेवाख्यं ‘यज्ञं’  
विधत्ते’ वैश्वदेवयज्ञं मात्मना करोतीत्यर्थः । अतो वैश्वदेवेनेष्टवतः  
प्रजापतेः प्रजोत्पत्तिसाधनत्वं सुन्नीतं मित्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधाय प्रशंसति— “स वा इति ‡ ।

\* ‘आदयन्ति भाजयन्ति’— इति च ।

† का० श्रौ० सू० ५. १. १—२० ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १. ५ । आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः ।



‘आग्नेयः’ अग्निदेवता अस्य । “सास्य देवता”—इत्यर्थः \* “अग्ने-  
र्ढक्”—इति † ढक् । अष्टसु कपालेषु संस्कृतः ‘अष्टाकपालः’ ।  
‘अग्निः प्रजनयिता’ मातापितृभ्यां भुक्तस्यान्नस्य जाठराग्निपरि-  
पाकवशेन शुक्रशोणितात्मना परिणामादग्नेः प्रजनयितृत्वम् ; अत  
एव प्रजापतिः सोऽग्निरित्यर्थः ॥ ८ ॥

द्वितीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सौम्य इति ‡ । सोमो  
देवता अस्य ‘सौम्यः’ । “सोमाट् व्यण्”—इति व्यण् । ‘प्रजनयितरि’  
उत्पादयितरि ‘अग्नौ’ सोमात्मकं ‘रेतः’ ‘सिञ्चति’, तदेव ‘तत्’  
प्रजोत्पत्तिसाधनं ‘पुरस्तात्’ क्रियमाणं मेकं ‘मिथुनं’ सम्भवं  
भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ तृतीयं हविर्विधाय प्रशंसति— “अथ सावित्र इति § ।  
सौम्ययागानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । सविता देवता अस्य  
‘सावित्रः’ । ‘प्रसविता’ प्रेरयिता । स एव ‘प्रजापतिः’ वैश्व-  
देवादिः । आग्नेयादीनां पञ्चानां यागानां मध्ये इज्यमानः सन्  
‘सविता’ ‘मध्यतः’ प्रजानां ‘प्रजनयिता’ भवति ॥ १० ॥

चतुर्थपञ्चमे हविषी विधाय सम्भूय प्रशंसति— “अथ सार-  
स्वत इति ॥ । सरस्वती देवता अस्य ‘सारस्वतः’ ¶ । “तत्  
पुनर्मिथुन मित्यादि । आदावनुष्ठितादग्रे क्रियमाणादित्यर्थः ।  
“इतश्चोक्षा इत्यादि । ‘इतः’ अस्मात् भूलोकादारभ्योपरितन-

\* पा० सू० ४. २. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३३ ।

‡ “सौम्यश्चरुः”—इति का० औ० सू० ५. १. ६ ।

§ “सावित्रो दादशकपालोऽष्टाकपालो वा”—इति का० औ० सू० ५. १. ७ ।

॥ “सारस्वतश्चरुः, पौष्णश्चरुः प्रपिष्टानाम्”—इति का० औ० सू० ५. १. ८, ९ ।

¶ “योषा वै सरस्वती”—इत्यर्थवादादिह सरस्वत्या देवतात्वं, न तु सरस्वतः ।



लोकवर्त्तिनीः 'प्रजाः' 'उभयतः' अवस्थितात् 'मिथुनात्' प्रजा-  
पतिः सृष्टवानित्यर्थः । इदानीन्तनयजमानोऽपि एव मेव मिथुन-  
द्वयानुष्ठानेन द्विविधाः प्रजाः सृजतीत्याह— "तथो एवेति ।  
"तस्मादित्यादि , विहितानां हविषां निगमनम् ॥ ११ ॥

एवं पञ्चभिर्हविर्भिरुत्पादितानां प्रजानां स्थित्यर्थं प्रजापतिना  
कल्पितं पयस्सारूप मन्त्रं दर्शयितव्य मिति पयस्यायागस्य स्थानं  
प्रतिजानीते— "अथात इति । 'अथ' एवं प्रजासृष्टेरनन्तरं  
यतः सृष्टानां प्रजानां मन्त्रं मपैक्षितम् , 'अतः' 'पयस्याया एव'  
पयोविकारद्रव्यसाध्यस्य यागस्य एतत् 'आयतनं' स्थान मित्यर्थः ।  
अथैवं पयस्यायाग एव षष्ठोऽनुष्ठेय इति , नैत्याह— "मारुतस्तु  
इति । 'तु'-शब्दः पयस्यायागस्य न्यायप्राप्तं षष्ठस्थानत्वं व्यावर्त्त-  
यति ; 'मारुतः सप्तकपालः' एव षष्ठोऽनुष्ठेय इत्यर्थः \* ।

एतदाख्यायिकयोपपादयति— "विशो वै मरुत इत्यादिना ।  
वैश्यजातयो हि मरुतः ; ते च देवतारूपत्वाद् 'देवविशः' खलु  
'अग्निषेदुध्रा इव'† अग्निषेधुकाः , नियन्तृरहिता इव स्वतन्त्राः  
'चेरुः' । 'ताः' स्वातन्त्र्ये वर्त्तमानाः आद्यैः पञ्चभिः हविर्भिः  
प्रजा उत्पादितवन्तं 'प्रजापतिं यजमानम्' 'उपेत्य' उपगत्य 'जचुः'  
—'ते' त्वदीयाः 'इमाः' उत्पन्नाः 'प्रजाः' वयं 'विमथिष्यामः'  
हिंसिष्यामः , 'याः' प्रजाः 'एतेन' वैश्वदेवधर्मात्मना 'हविषा' त्वं  
'स्रक्ष्यसे' सृष्टाः करिष्यसि ॥ १२ ॥

एवं मरुद्भिरुक्ते सति 'सः' 'प्रजापतिः' 'ऐक्षत' पर्यालोचित-  
वान् । 'मे' मदीयाः 'पूर्वाः' पूर्वसृष्टाः 'प्रजाः' 'पराभूवन्' ।

\* का० श्रौ० सू० ५. १. १६, १७ ।

† 'अग्निषेधा इव'—इति च ।



‘इमाः’ प्रजाः ‘इमे’ मरुतः ‘विमथ्यन्ते’ बाधन्ते चेत् ‘ततः’ अनन्तरं ‘किम्’ अपि सृष्टं ‘न परिशेष्यते’ परिशेषितं न भविष्यति । ‘इति’ एवं मरुद्भ्यो भीतः सन्, ‘तेभ्यः’ ‘एतं’ सप्तदशकपालरूपं ‘भागं’ कल्पितवान् । अतः प्राप्तस्थान मपि पयस्यायागं परित्यज्य ‘स एष मारुतः’ यागः इदानीं मपि षष्ठत्वेनानुष्ठीयते । सप्तसङ्ख्या मनूद्य प्रशंसति— “तद्यदिति । मरुतो हि सप्तगणाः, तेष्वेकैकस्मिन् गणेषु सप्त सप्त मरुतः । ते चैकोनपञ्चाशत्सङ्ख्याकाः अग्निस्थापनप्रकरणे “ईदृङ् चान्यादृङ् च”— इत्यादिभिर्मन्त्रैस्तत्तन्नाम्ना प्रतिपादिताः ॥ १३ ॥

तेषां किञ्चिद् विशेषण सुपक्षिपति— “तं वे स्वतवोभ्य इतीति † । ‘तं’ खलु सप्तकपालं पुरोडाशं ‘स्वतवोभ्यः’ ‘इति’ विशेषणविशिष्टेभ्यो मरुद्भ्यः ‘कुर्यात्’ । ‘तवः’ इति बलनाम ‡ । स्वायत्तं तवो बलं येषां ते स्वतवसः । अस्य विशेषणस्यान्वर्थता माह— “स्वयं हीति । ‘ते’ मरुतः ‘स्वयं हि’ स्वपौरुषेणैव हि ‘एतं भागम्’ ‘अकुर्वन्’ स्वीकृतवन्तः, अतस्ते स्वतवसः सम्पन्ना इत्यर्थः ।

प्रागुक्तं मेव पक्षं निगमयितुं कारणं सुपन्यस्यति— “अत इति । यदि तु ‘स्वतवोभ्यः’ प्रतिपादिके § ‘याज्यानुवाक्ये’ ‘न’ लभते, तदा ‘सः’ एव प्रागुक्तः केवलः ‘मारुत एव’ यागो

\* तै० सं० ४. ६. ५. १५—२१ द्रष्टव्याः । “सप्तगणा वै मरुतः”— इति च तै० ब्रा० २. ७. २ ।

† ‘स्वतवद्भ्यः’—इति का०-अ०-सू०-सम्मतः पाठः । “स्वतवद्भ्य इति क्कान्दसं रूपम्”— इति तत्र या० दे० । ‡ निघ० २. ६. ५ ।

§ ‘स्वतवः-प्रतिपादिके’— इति वा स्वादिह पाठः ।



भवति । एतच्च पञ्चदशं । कात्यायनोऽप्यक्षयत्— “मरुद्भ्यः  
स्वतवोभ्यः सप्तकपालो मारुतो वेति ० ।

“स वा एष इति । ‘सः’ खलु ‘एषः’ मारुतो यागः  
‘प्रजाभ्यः’ प्रजानान् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी† । ‘अहिंसायै’ मरुत्-  
क्षतबाधराहित्याय ‘एव’ ‘क्रियते’ । “तस्मादिति । मारुत-  
यागस्य निगमनम् ॥ १४ ॥

पयस्यायागं विधत्ते— “अथात इति ‡ । ‘अथ’-शब्दो  
मारुतयागानन्तर्ये । यतः सृष्टाः प्रजा मारुतयागेन तत्कृत-  
हिंसायाः परिहृतत्वात् सुखेनावस्थिताः अन्न माकाङ्क्षन्ते, अतः  
पयोरूप मन्नं तेभ्यो जनयितुं पयस्यायागः कर्तव्य इत्यर्थः ।  
तस्य प्रजावृद्धिहेतुत्व माह— “पयसो वा इत्यादि । सृष्ट्यादौ  
प्रजापतिना सृज्यमानास्ताः ‘प्रजाः’ तदीयस्वरूपरूपात् ‘पयसः’  
सकाशात् ‘सम्भूताः’ प्रवर्धिताः यतः, एव मिदानी मपि  
सर्वाः प्रजाः पयस एव ‘सम्भवन्ति’ जन्मानन्तरं तत्क्षणे एव पयो-  
लक्षण मन्नं प्राप्य वर्धन्ते । पयोरूपस्य तस्यान्नस्य सम्पत्ति मत्र  
दर्शयितुं मुक्त मर्थं मनुवदति— “तद्यत एवेति । ‘तत्’ तथा  
सतीत्यर्थः । ‘एतत्’ एतेन पयस्यायागेन ‘तदेव’ प्रजावृद्धिहेतुभूतं  
पयः ‘आभ्यः’ प्रजाभ्यः ‘करोति’ सम्पादयति । अत एवेदानीं  
पूर्वसृष्टानां प्रजानां मभिष्टुष्टिर्दृश्यत इत्याह— “तथा इति ।  
‘पूर्वैः’ प्रागुक्तैराग्नेयादिभिः पञ्चभिः ‘हविर्भिः’ । “एतस्मात्

\* का० श्रौ० सू० ५, १, १६, १७ ।

† पा० २, ३, ६२ सू० १ वा० ।

‡ “वैश्वदेवी पयस्या” — इति का० श्रौ० सू० ५, १, १८ ।



पयस इति । दध्ना संस्कृतः पयोविकारः पयस्या \* । अस्मी  
 चामिच्छा-शब्देनान्यत्रान्नायते— “तप्ते पयसि दध्नायति स्म  
 वैश्वदेव्यामिच्छा, वाजिभ्यो वाजिनम्”—इति † । कात्यायनोऽपि  
 पयस्यां प्रकृत्य सूत्रयामास— “श्रुते वा दध्नायति, वाजिनं  
 निषिच्योत्करे करोति”—इति ‡ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । एतस्याः  
 पयस्यायाः प्रकृतिभूतं पयः ॥ ; एतस्मादुत्पन्नाः प्रजा वर्धन्त  
 इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं यागोपयुक्तं द्रव्यं प्रशस्य तस्य वैश्वदेवत्वं प्रतिपादयति—  
 “तस्या मित्यादिना । ‘तस्यां’ पयस्यायां प्रजननसाधनं ‘मिथुनं’

\* “आमिच्छापयस्येति चानर्थान्तरम्”—इति या० दे० ( का० श्रौ०  
 सू० ४. ३. १० ) । “पयस्या भवति, पयो हि वा एतस्मादपक्रामति”—  
 इति ऐ० ब्रा० २. ३. ६ । “आण्डस्य वा एतद्रूपं यदामिच्छा”— इति  
 तै० ब्रा० १. ६. २०. ४ । तथाच वङ्गदेशादिप्रसिद्धा ‘काना’ एव पयस्या,  
 सैत्रामिच्छा चेति स्फुटम् ।

† “वैश्वदेव्यामिच्छा”— इत्यादि, “वाजिनो यजति, अग्निर्वायुस्सूर्यस्ते  
 वै वाजिनः”—इत्यादि च तै० ब्रा० १. ६. २, ३; तै० स० १. ८. २ । आमि-  
 छाया निःसृतं यन्नीरं तदेव वाजिनशब्दाभिधेय मिति च तद्वाच्योक्ति-  
 रेवावगम्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० ४. ४. ८, ९ । “अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी”—  
 इति तत्पूर्वसूत्रम् । अत एव पयस्यां प्रकृत्युक्तम् ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

॥ अत्र चोपरिष्ठातु ३ का० ३ अ० ३ ब्रा० २ क० ( ३ भा० १६५,  
 १७१ पृ० ) दशविधानां गयानां परिचयो द्रष्टव्यः ।



विद्यते । ‘पयस्या’-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् ‘योषा’, तदनु-  
निष्पादि ‘वाजिनं’ ‘रेतः’ पुंसो वीर्यम् ; ‘तस्मात् मिथुनात्’ ‘अस-  
न्मितम्’ अपरिमितम् इदं ‘विश्वं’ देवमनुष्याद्यात्मकम् ‘अनु प्राजा-  
यत’ अनुक्रमेण प्रजायते, प्रजात मभृत् । “तद्यदेतस्मादिति,  
प्रतिपादितार्थस्य हेतुत्वाभिधानम् । “तस्मादिति । यस्मात्  
विश्वोत्पत्तिहेतुः पयस्या, तस्माद् विश्वदेवदेवत्या कार्ये-  
त्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्तिमं हविर्विधत्ते— “अथेति \* । द्यावापृथिव्यौ देवते  
अस्येति ‘द्यावापृथिव्यः’ । “द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वत्”—इति-  
सूत्रेण † यत् । तत्र हि चकारेण यदित्यनुल्लभ्यते । तदेतत्पुरा-  
कृति मुदाहृतदृष्टान्तेन उपपादयति— “एतैर्वा इत्यादिना ।  
“द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णादिति । अधस्तात् पृथिव्या, उप-  
रिष्ठात् द्युलोकेन, तदुभयलोकवर्तिनीः सृष्टाः प्रजाः ‘पर्यगृह्णात्’  
परितो वेष्टितवान् । याश्च ‘इमाः’ प्रजाः आभ्यां ‘द्यावापृथिवीभ्यां’  
‘परिगृहीताः’ परिवेष्टिता एव वर्तन्ते, न पुनः स्वतो निग-  
च्छन्ति । “तथो एवेति । यथा प्रजापतिः, ‘तथो’ तथैव ‘एषः’  
ब्रह्मानीन्तनो यजमानोऽपि ‘यः एतैः हविर्भिः प्रजाः सृजते’, सृष्ट्वा  
च पयस्यायागेन तार्सा पयोरूप मन्त्रं परिकल्प्य, द्यावापृथिव्य-  
यागेन ‘द्यावापृथिवीभ्यां’ ‘ताः’ ‘परिगृह्णाति’ परिवेष्टयतीत्यर्थः ॥  
एवं विश्वदेवपर्वणि अष्टौ प्रधानयागा विहिताः ‡, तद्धित-

\* “द्यावापृथिवीय एककपालः”— इति का० श्रौ० सू० ५. १. १६ ।

† पा० सू० ४. २. ३२ ।

‡ “एतद् वैश्वदेवम्”— इति का० श्रौ० सू० ५. १. २० वृत्तिर्द्रष्टव्या ।



निर्देशौषधिद्रव्यत्वास्त्रिङ्गसामान्याद् दर्शपूर्णमासविधयस्तत्राति-  
दिष्टाः ; “प्रकृतिवद् विवृतिः कर्त्तव्या” इति \* ॥ १७ ॥

तत्र यानि वैशिष्ट्यकानि † अङ्गानि तानीदानीं विधातुं प्रति-  
जानीते— “अथात आह्रदेवेति । ‘अथ’-इति आनन्तर्ये । यतः  
प्रधानानां सङ्गापेक्षा, अतः कारणात् । ‘आह्रत्’ शब्दः प्रकार-  
वाची । चोदकप्राप्ताया मितिकर्त्तव्यतायां प्रकारविशेषः कथ्यते ;  
न त्वन्यत् किञ्चिन्नूतन मत्र प्रतिपाद्यत इति ‘एव’-कारार्थः ।  
अग्निमन्थनादेर्वैशिष्ट्यकस्याङ्गस्य विधास्यमानत्वात् सङ्घचरित ‡  
सुत्तरवेद्यावपन मपि प्रसक्तम्, तद्विवेधति— “नोपकिरन्तीति ।  
‘उत्तरवेदिं’ ‘नोपकिरन्ति’ नोपक्षिपन्ति, नोपवपन्तीत्यर्थः ।  
ऋत्विजां बहुत्वाद् बहुवचनम् । “कृ विक्षेपे”-इति § धातुः ।  
तत्र हेतु माह— “विसृष्ट मिति । सत्यां ह्युत्तरवेदी तत्रानुष्ठीय-  
मान मेतत् कर्म तथा निरुद्धगति स्यात् ; तदभावे तत्कृतनिरोधा-  
भावात् क्रियमात्रं कर्म ‘विसृष्टं’ व्यापनशीलम् ‘असत्’ भवेत् ;  
अत एव परिच्छेदाभावात् ‘सर्वं’ कृत्स्नं सम्पूर्णम् ‘असत्’ भवेत् ।  
कालर्त्यादेव तद् ‘विश्वदेवम्’ विश्वदेवसम्बन्धयोग्यम् ‘असद्’  
भवेत् ; न ह्यसर्वस्य सर्वदेवसम्बन्धो घटते ; अतो विसृष्टत्वादिसिद्धये  
उत्तरवेदिर्न कार्येत्यभिप्रायः ॥

\* “प्रकृतिवद् विवृतिः कर्त्तव्या”—इत्येवंरूपेणानुमानिकवचनेन—  
इत्यादि का० श्रौ० ४. ३. ३ सूत्रव्याख्यायां याज्ञिकदेवः । तच्चानुमानं  
“दर्शपूर्णमासघर्मा इष्टिपशुषु सामर्थ्याद् दर्शनाच्च ; वैश्वदेवघर्माश्चातुर्मा-  
स्येषु वचनप्रवृत्तिभ्याम्”—इत्येवमादिभ्यो वचनेभ्य एव बोधवीति ।

† ‘वैशिष्ट्यकानि’-इति च ।

‡ ‘सङ्घवाचित’-इति च ।

§ तु० प्र० १२८ धा० ।



बर्हिःराहरणे विशेषं विधत्ते— “त्रेधा बर्हिरिति । ‘त्रेधा’ त्रिविधं ‘बर्हिः’ प्रथमं सन्नद्ध, ‘तत्’ एव ‘पुनः’ ‘एकधा’ एकावधं सन्नद्धति । त्रिशब्दात् एकशब्दाच्च “सङ्ख्याया विधायं धा”—इति † धा-प्रत्ययः । प्रजोत्पत्त्यनुकूलत्वेनेतत् स्वीति— “एतच्चीति । यदेतत् त्रिधाबद्धस्य बर्हिषः पुनरेकधा संहतम्, ‘एतत्’ खलु ‘प्रजननस्य’ प्रजोत्पत्तेः स्वरूपम् । तदेतत् त्रेविध्यं प्रजननगतं दर्शयति— “प्रजननं सु हीति । ‘पिता, माता’, ‘यत् जायते’ यज्जायमान मपत्यम् ‘तत्’, एतत् ‘द्वतीयं’ द्वतयम् ; इदं मेव हि ‘प्रजननं’ प्रजातिः ‡ ; अस्य हि मातापित्रादिरूपेण त्रिहत्वात्, प्रजननरूपेण चेकात्वात्, तन्नाधनभूतस्य बर्हिषस्तधर्मभाक्त्वं सूचितं मित्यर्थः । तस्मिन्नेव बर्हिषि धर्मविशेषं विधत्ते— “प्रसू इति § । प्रसुवते फलानीति ‘प्रसूः’ पुंष्विताङ्गुराः ॥, ते ‘उपसन्नद्धाः’ भवेयुः । “षूङ् प्राणिगर्भविमोचने” ¶ । प्रपूर्वादस्मात् “सत्-सू-दिष”— इति \*\* क्तिप् । “ओः सुपि”— इति †† यण् । प्रसूतयुक्तानां कुशानां प्रस्तरत्वेन ग्रहणं विधत्ते— “तं प्रस्तरं मिति ‡‡ । ‘तम्’—इति प्रस्तरापेक्षयैकवचनम् । प्रसूभिः :कुशैः प्रस्तराख्यं मुष्टिं सम्भरेदित्यर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० ५, १, २५ ।

† पा० सू० ५, ३, ४२ ।

‡ तैत्तिरीयके ( ब्रा० १, ६, ३, ) हीदं स्पष्टं मान्नातम्— “त्रिवृद् बर्हिः भवति, माता पिता पुत्रः”—इत्यादि ।

§ का० श्रौ० सू० ५, १, २६ क ।

॥ ‘पुंष्वितकुशाः’— इति छ ।

¶ अदा० प्र० २० धा० ।

\*\* पा० सू० ३, २, ६१ ।

†† पा० सू० ६, ४, ८३ ।

‡‡ का० श्रौ० सू० ५, १, २६ ख ।



एतस्य प्रकृतिकर्मानुकल्पना माह — “प्रजननं सु हीद मिति ।  
‘इदं हि’ वैश्वदेवाख्यं कर्म ‘प्रजननं’ प्रजोत्पत्तिसाधनम्, ‘प्रस्वः’  
प्रसूतयुक्ताः कुशाश्च फलोत्पत्तिहेतवः ; अतः साधर्म्यात् प्रसूतकुश-  
मयं प्रस्तरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रकृतितोऽप्राप्तत्वात् तत्कालविशिष्टं \* मग्निमन्यनं विधत्ते—  
“आसाद्य हवींषीति † । प्रकृतिवद्विरासादनान्तं कृत्वा अग्नि-  
मन्यनं कुर्यादित्यर्थः । तदेतत् प्रशंसति—“अग्निः ‡ हेति ।  
प्रथमसृष्टौ प्रजापतिरग्निं जनयित्वा तदनन्तरं मेव अन्याः प्रजाः  
सृष्टवान् ; अत इहान्नेर्जननं प्रजोत्पत्तिकारणं भवतीत्यर्थः । अतः  
एव प्रागान्नातम्— “तद् या इमाः प्रजा अपरामूतास्ता अग्नि  
मभितो निविष्टाः”—इति § ॥ १९ ॥

चोदकप्राप्तानां प्रजानां सङ्ख्यानं विधत्ते § — “नवप्रयाजं  
भवतीति । नव प्रयाजाः अनुयाजाश्च यस्मिन् तत् ‘नवप्रयाजं,  
नवानुयाजं’ ; तथा कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥ । नवसङ्ख्यां प्रशंसति—  
“दशाक्षरेति । “उभयत इति । प्रधानयागात् पुरस्तादुपरि-  
ष्टाच्च । “न्यूनादिति । एकाक्षरेण ‘न्यूनात्’ । “एतस्माद्वा  
इत्यादि । ‘एतस्मात्’ उभयतोऽनुष्ठीयमानात् प्रयाजानुयाज-  
रूपात् एकाक्षरन्यूनात् ‘प्रजननात्’ प्रजननसाधनादित्यर्थः । “इत-  
श्चोर्द्धा इति । प्रयाजरूपात् प्रथमाद् विराजो मूलोकादारभ्योर्द्ध-

\* ‘प्रकृतितोऽप्राप्तकालविशिष्ट’— इति च ।

† का० औ० सू० ५, १, २७ ।

‡ पुरस्तादिहैव चतुर्थकण्डिकायां ( २५१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ ‘सङ्ख्यानं माह’— इत्येव द-पुस्तके ।

॥ का० औ० सू० ५, २, ७ ।



वर्त्तिनीः प्रजाः सृष्टवान् । उपरिष्ठात् क्रियमाणादनुयाजरूपाद्  
विराजो भूलोकात् अवाचीनाः प्रजाः सृष्टवान् । सृष्ट-  
मन्यत् ॥ २० ॥

चोदकप्राप्तस्य समिष्टयजुषोऽपि सङ्ख्यानतरं विधाय प्रश्न-  
सति \* — “त्रीणि । तानि च सूत्रकृता दर्शितानि— “त्रीणि  
समिष्टयजूषि जुहोति, देवा गातुविदो यज्ञ यज्ञ मेष त इति ॥” —  
इति । “ज्याय इव हीद मिति । अन्यस्मादविर्यज्ञाद् दर्शपूर्ण-  
मासाद् ‘इदं’ वैश्वदेवपर्वरूपं हविः ‘ज्याय इव’ प्रवृद्ध मिव हि ।  
ज्यायस्त्वे कारण माह— “यत्रेति । ‘यत्र’ यस्मिन् कर्मणि ‘नव-  
प्रयाजं नवानुयाजं’ भवति, तच्च प्रकृतेर्ज्यायो भवति ; प्रकृतौ  
प्रयाजानां पञ्चत्वात् अनुयाजानां त्रिवृत्त्वाच्च ॥

पञ्चान्तर माह— “अथो इति । ‘एक मेव’ समिष्टयजुर्मवति,  
न तु त्रीणि ‡ । तत्र कारण माह— “हविर्यज्ञ इति ।  
‘हि’-शब्दो द्वेती । दक्षिणां विधत्ते— “तस्येति । यजमानस्य  
गोष्ठे प्रथमं जातः ‘प्रथमजः’, तादृशो ‘गौः’, ‘तस्य’ वैश्वदेव-  
पर्वणो दक्षिणात्वेन देय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

विहितस्य वैश्वदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वं सदृष्टान्तमुप-  
संहरति— “एतेनेत्यादिना § । “एतद् बभूवेति ॥ । ‘एतत्’

\* ‘सङ्ख्यानतर माह’—इत्येव च-पुस्तके ।

† का० औ० सू० ५. २. ६ ; वा० सं० ८. २१, २२, २३ ।

‡ “एकं वा वैश्वदेवे”— इति का० औ० सू० ५. २. १२ ।

§ “प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम्”—इति का० औ० सू० ५. २. २० ।

॥ यानि विशेषवक्तव्यानि नेहान्वातानि तानि सर्वाण्येव प्रायः कात्यायन-  
नेन सूचितानि ; तत्रैव तानि द्रष्टव्यानि ( औ० सू० ५. १. २. ) ।



एतर्हि 'प्रजापतेः' 'या श्रीः' बभूवेत्यर्थः । "तस्मादिति । उप-  
संहृतस्य यागविधेर्निगमनम् \* ॥ २२ ॥ २ [ ५.१. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजाः सृजते ता अस्य  
प्रजाः सृष्टा व्वरुणस्य यवान् † जक्षुर्व्वरुण्यो ह वा  
ऽअग्रे यवस्तदुन्वेव ‡ व्वरुणस्य यवान् प्रादंसस्माद्  
वरुणप्रघासा नाम ॥ १ ॥

ता व्वरुण्यो जग्राह । ता व्वरुणगृहीताः  
पुरिदीर्क्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिष्यिरे च निषेदुश्च  
प्राणोदानौ हैवाभ्यो नापचक्रमतुरथान्याः सव्व्या  
देवता अपचक्रमुस्तयोहैवास्य हेतोः प्रजा न परा-  
बभूवुः ॥ २ ॥

\* तै० ब्रा० १. ६. १-३, तै० स० १. ८. १. २; एवमुवाकेषु चैतद्  
वैश्वदेवयागविधानादिकं मान्यतम्, तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यमिति ॥

† 'यवान्'— इति क, ग ।

‡ 'न्वेव'— इति क ।



ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत् ।  
तद्याश्चैवास्य प्रजा जाता आसन् याश्चाजातास्ता  
उभयीर्व्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत् \* ता अख्यानमीवा  
अकिल्बिषाः † प्रजाः प्राजायन्त ‡ ॥ ३ ॥

अथ युदेष एतैश्चतुर्थे मासि यजते । तन्नाह  
न्वेवैतस्य तथा प्रजा व्वरुणो गृह्णातीति देवा  
अकुर्व्वन्निति त्वेवैष § एतत्करोति याश्च त्वेवास्य ।  
प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्व्वरुणपाशात् प्र-  
मुञ्चति ता अख्यानमीवा अकिल्बिषाः ¶ प्रजाः प्रजा-  
यन्ते \*\* तस्माद्वा ऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजते ॥ ४ ॥

तद्वै द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः । तद्यद् द्वे वेदी  
द्वावग्नी भवतस्तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्माद् द्वे वेदी  
द्वावग्नी भवतः ॥ ५ ॥

स उत्तरस्या मेव वेदी । उत्तरवेदिमुपकिरति न

\* 'प्रामुञ्चत्'—इति पाठश्च दृश्यो डा०-वेवरेण ।

† 'अकिल्बिषाः'—इति क, ख ।

‡ 'प्राजायन्त'—इति घ, ङ ।

§ 'न्वेवैष'—इति घ, ङ ।

॥ 'न्वेवास्य'—इति घ, ङ ।

¶ 'अकिल्बिषाः'—इति क, ग ।

\*\* 'प्रजायन्ते'—इति घ, ङ ।



दक्षिणस्यां क्षत्रं वै व्वरुणो विशो मरुतः क्षत्रं मेवै-  
तद्दिश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रिय  
सधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादुत्तरस्या मेव  
व्वेदा ऽउत्तरवेदि मुपकिरति न दक्षिणस्याम् ॥ ६ ॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्वै  
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो व्वरुण-  
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदितश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मा-  
द्वा ऽएतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नी द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।  
प्राणोदानौ वा ऽइन्द्राग्नी तद्यथा पुण्यं चक्रुषे  
पुण्यं कुर्यादेवं तत्तयोर्हैवाद्य हेतोः प्रजा न  
परावभूवस्तत् प्राणोदानाभ्या मेवैतत् प्रजा भिषज्यति  
प्राणोदानौ प्रजासु दधाति तस्मादैन्द्राग्नी द्वादश-  
कपालः पुरोडाशो भवति ॥ ८ ॥

उभयत्र पयस्ये भवतः । पयसो वै प्रजाः  
सम्भवन्ति पयसः सम्भूतास्तद्यत एव सम्भूता यतः  
सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो व्वरुणपाशात् प्रजाः  
प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मादुभयत्र पयस्ये  
भवतः ॥ ९ ॥



व्वारुण्युत्तरा भवति । व्वरुणो ह वा ऽअस्य  
 प्रजा अगृह्णात्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाश्रात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चति मारुतौ दक्षिणाजामितायै न्वेव मारुतौ  
 भवति जामि ह कुर्व्याद्यदुभे व्वारुण्यौ स्वाता मतो  
 ह वा ऽअस्य दक्षिणतो मरुतः प्रजा अजि-  
 घाप्संस्तानेतेन भागेनाशमयत् तस्मान्मारुतौ  
 दक्षिणा ॥ १० ॥

तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति । कां वै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कुम्बेवैष एतत्  
 प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति । शं व्यै  
 प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत कुम्बेवैष  
 एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ॥ १२ ॥

अथ काय एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
 कां वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन  
 पुरोडाशेनाकुरुत कुम्बेवैष एतत् प्रजाभ्यः काये-  
 नैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते तस्मात् काय  
 एककपालः पुरोडाशो भवति ॥ १३ ॥

अथ पूर्व्वेद्युः । अन्वाहार्यपचने ऽतुषानिव



युवान् कृत्वा तानोषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि  
कुर्वन्ति यावन्तो गृह्याः सुखावन्त्येकेनातिरि-  
क्तानि ॥ १४ ॥

तत्रापि मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति । तयो-  
र्मेषे च मेष्यां च यदनैडकीरुणा \* विन्देत्ताः  
प्रणिज्य निष्प्रेषयेद्यद्यु ऽनैडकीर्नं विन्देद्यो  
ऽपि कुशोर्णा एव सुः ॥ १५ ॥

तदनुमेषश्च मेषी च भवतः । एष वै प्रत्यक्षं  
व्वरुणस्य पशुर्यन्मेषस्तत् प्रत्यक्षं व्वरुणपाशात्  
प्रजाः प्रमुञ्चति यवमयौ भवतो युवान् हि जक्षुषी-  
व्वरुणो ऽगृह्णान्मिथुनौ भवतो मिथुनादेवैतद्  
व्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ १६ ॥

स उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषी मव दधाति ।  
दक्षिणस्यां मेष मेव मिव हि मिथुनं कृष्टं मुत्तरतो  
हि स्त्री पुमांश्च मुपशेते ॥ १७ ॥

स सर्वाण्येव हवींष्यध्वर्युः † । उत्तरस्यां व्वेदा-

\* 'यदनैलकीरुणा'— इति सा०-सम्मतः, पाठ इति डा० वेवरः ।  
इहोत्तरत्र 'ऽनैलकीर्न'— इति चैव मेव ।

† 'र्युः'— इति घ, ड ।



वासादयत्यथैता मेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता  
दक्षिणस्यां वेदावासादयति ॥ १८ ॥

आसाद्य हवींष्यग्निं मन्यति । अग्निं  
मन्यित्वानुग्रहत्याभिजुहोत्यथाध्वर्युरेवाहाम्नये समिध्य-  
मानायानुब्रूहीति ता ऽउभावेवेध्मावभ्याधत्त उभौ  
समिधौ परिशिष्टे ऽउभौ पूर्वावाधारावाधारयतो  
ऽथाध्वर्युरेवाहाम्निमग्नीत् सम्मृद्धीत्यसम्मृष्ट मेव  
भुवति सम्प्रेषितम् ॥ १९ ॥

अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपुरेति । स पत्नी मुदा-  
नेष्ट्यन् पृच्छति केन चरसीति व्वरुण्यं व्वा ऽएतत्  
स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेन्मेऽन्तः-  
शल्या \* जुहवदिति तस्मात् पृच्छति निरुक्तं व्वा  
ऽएनः कनीयो भवति सत्यं हि भुवति तस्मादेव  
पृच्छति सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यैत-  
द्वहितं स्यात् ॥ २० ॥

तां व्वाचयति । प्रवासिनी हवामहे मरुतश्च  
रिशुदसः । करस्मेण सजोषस इति यथा पुरोऽनु-  
वाक्येव मेष्टैतयैवैनानेतेभ्यः पाचेभ्यो ह्वयति ॥ २१ ॥



तानि वै प्रतिपुरुषम् \* । यावन्तो गृह्याः स्तु-  
स्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तत् प्रतिपुरुषु मेवै-  
तदेकैकेन या अथ प्रजा जातास्ता व्वरुणपाशात्  
प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्तानि भवन्ति तद्या एवाथ  
प्रजा अजातास्ता व्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति तस्मा-  
देकेनातिरिक्तानि भवन्ति ॥ २२ ॥

पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ह्यशनं भुज्यते यव-  
मयानि भवन्ति यवान् हि जक्षुषीर्व्वरुणो ऽगृह्णाच्छूर्पेण  
जुहोति शूर्पेण ह्यशनं क्रियते पत्नी जुहोति मिथुना-  
देवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥ २३ ॥

पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो जुहोति । अहुतादो  
वै व्विशो व्विशो वै मरुतो यत्र वै प्रजापतेः प्रजा  
व्वरुणगृह्यताः परिदीक्षा अनत्यश्च प्राणत्यश्च  
शिथिरे † च निषेदुश्च तद्वासां मरुतः पाप्मानं  
व्विमथिरे तथो ऽएवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं  
व्विमथते तस्मात् पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो  
जुहोति ॥ २४ ॥

\* 'वै'— इति, च, ड ।

† 'शिथिरे'— इति च दृश्ये डा०-वेवरेण ।



स \* वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति । यद् ग्रामे  
 यदुरण्य ऽहुति ग्रामे वा ह्युरण्ये वैनः क्रियुते  
 यत्सभायां यदिन्द्रिय ऽहुति यत्सभाया मिति युन्मा-  
 नुष ऽहुति तदाह यदिन्द्रिय ऽहुति यद्देवचेति  
 तदाह यदेनश्चक्रमा व्यय मिदं तद्वयजामहे स्वाहेति  
 यत् किञ्च व्यय मेनश्चक्रमेदं व्ययं तस्मात् सर्वस्मात्  
 प्रमुच्यामहे ऽहुत्येवैतदाह ॥ २५ ॥

अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति । यन्त्र वै प्रजापतेः  
 प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेशिरे तद्देवाश्चक्र  
 ऽहुमे ह मे प्रजा न विमथीरन्निति ॥ २६ ॥

स एता मैन्द्रीं मरुत्वती मजयत् । क्षत्रं वा  
 इन्द्रो विशो मरुतः क्षत्रं वै विशो निषेधा नि-  
 षिद्धा † असन्निति तस्मादैन्द्री ‡ ॥ २७ ॥

सो षू णः । इन्द्राव पृथु देवैरस्ति हि ध्मा  
 ते शुष्मिन्नवयाः । महश्चिद्युस्य मीढुषो यव्या  
 हविष्मतो मरुतो व्वन्दते गीरिति § ॥ २८ ॥

\* 'सा'—इति क, ग।

† 'निषिद्धा'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण।

‡ 'त्री'—इति घ, ङ।

§ 'गीरिति'—इति क, घ, ङ।



अथैनां व्वाचयति । अक्रन् कर्म कर्मकृत इत्यु-  
 क्रन् हि कर्म कर्मकृतः सह व्वाचा मयोभवेति सह  
 हि व्वाचाक्रन् देवेभ्यः कर्म कृत्वेति देवेभ्यो हि कर्म  
 कृत्वास्तं मेत सचाभुव इत्यन्यतो ह्योढया सह  
 भवन्ति \* तस्मादाह सचाभुव इत्यस्तं मेतेति जघ-  
 नार्धो वा ऽएष यज्ञस्य यत्पत्नी ता मेतत् प्राचीं  
 यज्ञं प्रासीषदद् गृहा वा ऽअस्तं गृहाः प्रतिष्ठा तद्  
 गृहेष्वेवैना मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ २६ ॥

प्रतिपराणीयोदैति प्रतिप्रस्थाता † । सम्मृज-  
 न्यग्निं सम्मृष्टे ऽग्नौ ता ऽउभावेवोत्तरावाधारावा-  
 धारयतो ऽथाध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते प्रवृत्तो  
 होतुत्तरस्यै व्वेदेर्हीदृषदन ऽउपविशत्युपविश्य  
 प्रसीति ता ऽउभावेव प्रसूतौ स्नुच आदायाति-  
 क्रामतोऽतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह समिधो यजेति  
 यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थे प्रयाजे समानयमानौ  
 नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥ ३० ॥

अथाध्वर्युरेवाह्वाग्नये ऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्य-

\* 'भवति'—इति क, ग; डा०-वेवरेण च दृष्टः ।

† 'ता'—इति क, 'ता'—इति घ, ङ ।



भागं ता उभावेव चतुराज्यस्त्रावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाहाग्निं यजेति ता  
ऽउभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३१ ॥

अथाध्वर्युरेवाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य  
माज्यभागं ता उभावेव चतुराज्यस्त्रावदायाति-  
क्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह सोमं यजेति  
ता उभावेव व्षट्कृते जुहुतः ॥ ३२ ॥

तद्यत् किञ्च व्वाचा कर्तव्यम् । अध्वर्युरेव  
तत् करोति न प्रतिप्रस्थाता तद्यदध्वर्युरेवाश्ना-  
वयतीहैव यत्र व्षट् क्रियते ॥ ३३ ॥

कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता । क्षत्रं वै चरुणी  
व्विशो मरुतस्तत् क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरा मनु-  
वर्त्मानं करोति प्रत्युद्यामिनीं ह क्षत्राय व्विशं  
कुर्याद्यदपि प्रतिप्रस्थाताश्चावयेत्तस्मान्न प्रतिप्रस्थाता-  
श्चावयति ॥ ३४ ॥

पाणावेव प्रतिप्रस्थाता । सुचौ कृत्वोपास्तौ  
ऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरत्याग्नेयेनाष्टाकपालेन  
पुरोडाशेन सौम्येन चरुणा सावित्रेण द्वादशकपालेन  
वाष्टाकपालेन वा पुरोडाशेन सारस्वतेन चरुणा



पौष्णेन चरुणैन्द्राग्नेन द्वादशकपालेन पुरोडाशेन  
॥ ३५ ॥

अथेताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ विपरि-  
हरतः । स यो मेषो भवति मारुत्यां तं व्वारुण्या  
सुवदधाति या मेषी भवति व्वारुण्यां तां मारुत्या  
सुवदधाति तद्यदेवं विपरिहरतः क्षत्रं वै वुरुणो  
व्वीर्यं पुमान्वीर्यं मेवैतत् क्षत्रे धत्तो ऽवीर्या वै स्त्री  
व्विशो मरुतस्तदवीर्या मेवैतदिशं कुरुतस्तस्मादेवं वि-  
परिहरतः ॥ ३६ ॥

अथाध्वर्युरेवाह व्वरुणायानुब्रूहीति । स  
उपस्तृणीत ऽञ्चाज्यं मथास्यै व्वारुण्ये पयस्यायै द्विरु-  
द्यति सो ऽन्यतरुणावदानेन सह मेषं सुवदधात्यथो-  
परिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽअति-  
क्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह व्वरुणं यजेति व्वषट्कृते  
जुहोति ॥ ३७ ॥

सव्ये पाणावध्वर्युः \* । स्तुचौ कृत्वा दक्षिणेन  
प्रतिप्रस्थातुर्व्वं सो ऽन्वारभ्याह मरुद्भ्यो ऽनुब्रूही-  
त्युपस्तृणीत ऽञ्चाज्यं प्रतिप्रस्थातायास्यै मारुत्यै



पयस्त्रायै द्विरुवद्यति सो ऽन्यतरेणावदानेन सह  
 मेषी मवदधात्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
 नक्तावदाने ऽतिप्रक्रामत्यथाध्वर्युरेवाश्राव्याह मरुतो  
 यजेति वृषट्कृते जुहोति ॥ ३८ ॥

अथाध्वर्युरेव कायेन \* । एककपालेन पुरो-  
 डाशेन प्रचरति कायेनेककपालेन पुरोडाशेन  
 प्रचर्याध्वर्युरेवाहान्नये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति स  
 सर्व्वेषा मेव हविषा मध्वर्युः सकृत्सकृदुवद्यत्यथैतस्या  
 ऽएव पयस्त्रायै प्रतिप्रस्थाता सकृदुवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
 द्विराज्यस्याभिघारयतस्ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽति-  
 क्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाहान्निष्ठं स्विष्टकृतं यजेति ता  
 ऽउभावेव वृषट्कृते जुहुतः ॥ ३९ ॥

अथाध्वर्युरेव प्राश्निन् मवद्यति । इडां समव-  
 द्वाय प्रतिप्रस्थात्ते ऽतिप्रजिहीते तत्रापि प्रतिप्रस्थाता  
 मारुत्यै पयस्त्रायै द्विरुवद्यत्यथोपरिष्ठाद् द्विराज्यस्या-  
 भिघारयत्युपहूय मार्जयन्ते ॥ ४० ॥

अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिध  
 माधायान्नि मग्नीत्संमृद्धीति स सुचोरेवाध्वर्युः पृष-



दाज्यं व्यानयते ऽथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं  
 भवति तत्सु द्वेधा व्यानयत ऽउतो तुत्र पृषदाज्यं  
 न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत् सु द्वेधा व्यानयते  
 ता ऽउभावेवातिक्रामतो ऽतिक्रम्याश्चाव्याध्वर्युरेवाह  
 देवान्यजेति यज-यजेति चतुर्थे-चतुर्थेऽनुयाजे समा-  
 नयमानौ नवभिरनुयाजैश्चरतस्तद्वन्नवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजं तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः  
 प्रमुञ्चतीतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तस्मान्नवप्रयाजं भवति  
 नवानुयाजम् ॥ ४१ ॥

ता ऽउभावेव सादयित्वा स्नुचो व्यूहतः । स्नुचो  
 व्युह्य परिधीन्त्वमज्य परिधिं मभिपद्याश्चाव्या-  
 ध्वर्युरेवाहेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो  
 मानुषः सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते  
 ऽथैता ऽउभावेव प्रक्षरौ समुल्लुम्पत ऽउभावनुप्रहरत  
 उभौ तृणे ऽअपगृह्योपासाते यदा होता सूक्तवाक्  
 माह \* ॥ ४२ ॥

अथाग्नीदाहानुप्रहरति । ता ऽउभावेवानुप्रह-  
 रत ऽउभावात्माना ऽउपस्पृशेते ॥ ४३ ॥



अथाह संवदस्वेति । अगानग्नीदुगच्छावयु  
 औषट् स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शं यो-  
 ब्रहीत्यध्वर्युरेवैतदाह ता उभावेव परिधीननुग्रह-  
 रत उभौ स्तुचः सम्प्रगृह्य स्फ्ये सादयतः ॥ ४४ ॥

अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य । पत्नीः संयाजयत्यु-  
 पास्त एव प्रतिप्रस्थाता पत्नीः संयाज्योदैत्यध्वर्युः \*  
 ॥ ४५ ॥

वीणि समिष्टयजूंषि जुहोति । तूष्णी मेव प्रति-  
 प्रस्थाता स्तुचं प्रगृह्णाति तद्ये वैश्वदेवेन यजमानयो-  
 र्वाससी परिहिते स्थातां ते एवात्रापि स्थाता म-  
 थास्यै व्वारुण्यै पयस्यायै क्षामकर्षमिश्च मादायावभृथं  
 यन्ति व्वरुण्यं व्वा एतन्निर्व्वरुणतायै तत्र न साम  
 गीयते न ह्यत्र साम्ना किञ्चन क्रियते तूष्णी मेवेत्या-  
 भ्यवेत्योपमारयति ॥ ४६ ॥

अवभृथ निचुम्पुण । निचेरुरसि निचुम्पुणः † ।  
 अव देवैर्देवकृत मेनो ऽयासिष मव मत्यैर्मर्त्यकृतं  
 पुरुराव्णो देव रिषस्पाहीति कामः हैते यस्मै

\* 'दैत्यध्वर्युः'—इति ग-पाठः, डा०-वेवरदृष्टम् ।

† 'णः'—इति घ, ङ ।



कामयेत तु त्वे दद्यान्न हि दीक्षितवसने भवतः सु  
यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैव सृर्वस्मात् पाप्मनो  
निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोह्याग्नी ऽउदव-  
सायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदा-  
वग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृह्णानित्वा निर्म-  
य्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्नयज्ञ ऽइव वा ऽएष  
यच्चातुर्मासान्यथैष कृमः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्  
पौर्णमासं तत् कृमेनैवेत्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति  
तस्मादुदवस्यति ॥ ४८ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

विधिक्षितस्य वरुणप्रघासाख्यस्य \* द्वितीयस्य पर्वणो वरुण-  
पाशविमोचनहेतुत्वं मांख्यायिकया प्रतिपादयंस्तद्विधिं सुन्नयति †  
— “वैश्वदेवेन वा इत्यादिना । पुरा वैश्वदेवयागेन प्रजापतिना  
सृष्टाः ‘प्रजाः’ वरुणसम्बन्धिनो ‘यवान्’ ‘जक्षुः’ [ भक्षयामासुः ।  
यवस्य वरुणदेवत्वत्वं माह— “वरुणो हेति । ‘अग्रे’ सृष्टिसमये  
सृज्यमानः ‘यवः’ वरुणसम्बन्धी ‘एव’ अभवत् । अतो यवो  
वरुणस्य सम्भूतः । तत्प्रसङ्गात् वरुणप्रघासोऽस्य नाम निर्वृत्तम् ।

\* पुरस्तात् २५६ पृ० \* टीप्पणी द्रष्टव्या ।

† ‘सुपन्नयति’—इति च ।



“तद्यदिति । ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’ यस्मात् ‘एव’ कारणात्  
 ‘वरुणस्य’ स्वभूतान् ‘यवान्’ ‘प्रादन्’ प्रकर्षेणाभक्षयन्, ‘तस्माद्’  
 वरुणसम्बन्धियवप्रघासनात् ‘प्रजाः’ ‘वरुणप्रघासाः’ । तत्पाश-  
 गृहीतानां तासां पाशविमोचनाय क्रियमाणा यागा अप्युपचारेण  
 वरुणप्रयासाख्याः सञ्जाता इत्यर्थः । ‘जक्षुः’—इति, अदेर्लिटि  
 लुङि च ‘लुङ्सनोर्घञ्’—“लित्यन्यतरस्याम्”—इति \* घञ्ज्ञादेशे  
 रूपम् ॥ १ ॥

यवादनानन्तरं वरुणकृत्य माह— “ता इति । ‘परिदीर्क्षाः’  
 परितो दीर्क्षाः, परितो दीर्घमाणावयवाः । ‘दृ विदारणे’—  
 इति, † अस्मात् निष्ठायां “श्रुक्रः किति”—इति ‡ इट्-प्रतिषेधः,  
 “ऋट् इडातोः”—इतीत्वम् §, “ल्वादिभ्यः”—इति ॥ निष्ठातका-  
 रस्य नकारः । “अनत्यखेत्यादि । वरुणपाशग्रहणादेव हेतोः  
 ‘अनत्यः’ चेष्टमानाः, हस्तपादादिधूननं कुर्वाणाः, ‘प्राणत्यश्च’  
 प्राणनव्यापारं श्वासोच्छ्वासादिलक्षणं कुर्वत्यः, ‘शिश्चिरे च,  
 निषेदुश्च’ शयनासनाभ्यां मेव कालं नीतवत्यः ; न पुनर्व्यापारा-  
 न्तरक्षमा बभूवुरित्यर्थः । “प्राणोदानौ हेत्यादि । ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्यः सकाशात् केवलं प्राणोदानावेव ‘नापचक्रमतुः’ ; ‘अन्याः’  
 तु ‘सर्वाः’ वाक्चक्षुरादीन्द्रियाधिष्ठातृदेवता अग्न्याद्याः ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्योऽपक्रान्ताः ; आसा मिन्द्रियपाटव मपि प्रस्रष्टमित्यर्थः ।  
 “तयोर्हेवेति । ‘तयोः’ प्राणापानयोरेवानपक्रमणाहेतोः ‘अस्य’  
 प्रजापतेः ‘प्रजाः’ ‘न पराबभूवुः’ न विनष्टाः ॥ २ ॥

\* अद्वा० प० १ धा० । पा० सू० २. ४. ३७, ४० ।

† क्वा० प० २० धा० ।

‡ पा० सू० ७. २. ११ ।

§ पा० सू० ७. १. १०० ।

॥ पा० सू० ८. २. ४४ ।



कामयेत तु सौ दद्यान्न हि दौक्षितवसने भवतः सु  
यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवः सर्वस्मात् पाप्मनो  
निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोह्याग्नी ऽउदव-  
सायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदा-  
वग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा निर्मु-  
च्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्नयन्नु ऽद्वव वा ऽएष  
यच्चातुर्मासान्यथैष कृत्नः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत्  
पौर्णमासं तत् कृत्नेनैवैतद्यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति  
तस्मादुदवस्यति ॥ ४८ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

विधिक्षितस्य वरुणप्रघासाख्यस्य \* द्वितीयस्य पर्वणो वरुण-  
पाशविमोचनहेतुत्वं मांख्यायिकया प्रतिपादयंस्तद्विधिं मुन्नयति †  
— “वैश्वदेवेन वा इत्यादिना । पुरा वैश्वदेवयागेन प्रजापतिना  
सृष्टाः ‘प्रजाः’ वरुणसम्बन्धिनो ‘यवान्’ ‘जक्षुः’ [ भक्षयामासुः ।  
यवस्य वरुणदेवत्वत्वं माह— “वरुणो हेति । ‘अग्रे’ सृष्टिसमये  
सृज्यमानः ‘यवः’ वरुणसम्बन्धी ‘एव’ अभवत् । अतो यवो  
वरुणस्य सम्भूतः । तत्प्रसङ्गात् वरुणप्रघासोऽस्य नाम निर्वृत्तम् ।

\* पुरस्तात् २५६ पृ० \* टीप्पनी द्रष्टव्या ।

† ‘सुपन्नयति’—इति च ।



“तद्यदिति । ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’ यस्मात् ‘एव’ कारणात्  
 ‘वरुणस्य’ स्वभूतान् ‘यवान्’ ‘प्रादन्’ प्रकर्षणामचयन्, ‘तस्माद्’  
 वरुणसम्बन्धियवप्रवासनात् ‘प्रजाः’ ‘वरुणप्रधासाः’ । तत्पाश-  
 गृहीतानां तासां पाशविमोचनाय क्रियमाणा यागा अप्युपचारेण  
 वरुणप्रयासाख्याः सञ्जाता इत्यर्थः । ‘जक्षुः’-इति, अदर्लिङि  
 लुङि च ‘लुङ्सनोर्बल्लु’-“लित्यन्यतरस्याम्”-इति \* घञ्छादेशे  
 रूपम् ॥ १ ॥

यवादनानन्तरं वरुणस्तत्र माह— “ता इति । ‘परिदीर्क्षाः’  
 परितो दीर्क्षाः, परितो दीर्घमाणावयवाः । “दृ विदारणे”-  
 इति, † अस्मात् निष्ठायां “श्रुक् किति”-इति ‡ इट्-प्रतिषेधः,  
 “ऋत इजातोः”-इतीत्वम् §, “त्वादिभ्यः”-इति ॥ निष्ठातका-  
 रस्य नकारः । “अनत्यश्चेत्यादि । वरुणपाशग्रहणादेव हेतोः  
 ‘अनत्यः’ चेष्टमानाः, हस्तपादादिधूननं कुर्वाणाः, ‘प्राणत्यश्च’  
 प्राणनव्यापारं प्रवासोच्छ्वासादिलक्षणं कुर्वत्यः, ‘शिशिरे च,  
 निषेदश्च’ शयनासनाभ्यां मेव कालं नीतवत्यः ; न पुनर्व्यापारा-  
 न्तरक्षमा बभूवुरित्यर्थः । “प्राणोदानौ हेत्यादि । ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्यः सकाशात् केवलं प्राणोदानावेव ‘नापचक्रमतुः’ ; ‘अन्याः’  
 तु ‘सर्वाः’ वाक्चक्षुरादीन्द्रियाधिष्ठाहृदेवता अग्न्याद्याः ‘आभ्यः’  
 प्रजाभ्योऽपक्रान्ताः ; आसा मिन्द्रियपाटव मपि प्रस्वष्टमित्यर्थः ।  
 “तयोर्हैवेति । ‘तयोः’ प्राणापानयोर्देवानपक्रमणाद्देतोः ‘अस्य’  
 प्रजापतेः ‘प्रजाः’ ‘न पराबभूवुः’ न विनष्टाः ॥ २ ॥

\* अदा० प० १ घा० । पा० सू० २. ४. ३७, ४० ।

† क्त्वा० प० २० घा० ।

‡ पा० सू० ७. २. ११ ।

§ पा० सू० ७. १. १०० ।

॥ पा० सू० ८. २. ४४ ।



“ता एतेनेत्यादि । वरुणपाशग्रहणजनितं मुक्तविधं प्रकारं  
मालोक्य ‘प्रजापतिः’ ‘एतेन’ वरुणप्रघासाख्येन ‘हविषा’ ‘ताः’  
प्रजाः ‘अभिषज्यत्’ अचिकित्सत् । “भिषज् चिकित्सायाम्”—  
इति धातुः \* । तेन च भेषजेन ‘जाताः’ ‘अजाताः’ जनिष्यमाणा-  
श्चोभयविधाः ‘प्रजाः’ ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रासुञ्चत्’ । तस्य विमोचने  
सति ‘अस्य’ प्रजापतेः प्रजाः ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः, ‘अकित्स्वि-  
षाः’ रोगनिदानभूतपापरहिताश्च अभवन्वित्यर्थः ॥ ३ ॥

विधत्ते— “अथ यदिति । ‘अथ’-शब्दो वैश्वदेवानन्तर्ये ।  
‘एषः’ यजमानः वैश्वदेवानन्तरं ‘चतुर्थे मासि’ (‘सम्पूर्णे’ सति †)  
‘एतेः’ वक्ष्यमाणैर्हविर्भिः ‘यजते’ ‡ । अप्राप्तार्थत्वाद् वर्त्तमान-  
निर्देशः । विधिरुक्नेतव्यः । यच्छब्दो हेतौ ; यस्माद्वरुणप्रघासैर्यजते,  
‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘नु’, ‘एव’— इति निपाताः । ‘नेव’  
‘खलु’ ‘एतस्य’ यजमानस्य ‘प्रजाः’ तथा ‘वरुणो गृह्णाति इति’ ।

“देवा इत्यादि । पुरा खलु ‘देवाः’ एव मेव वरुणप्रघासम्  
‘अकुर्वन्’ । ‘तु’-शब्दोऽप्यर्थः । ‘एषः’ अपि यजमानः ‘इति’  
एवम् ‘एव’ ‘एतत्’ एतर्हि ‘करोति’ ।

इत्थं मनुष्यकर्तृकयागस्य देवकर्तृकेन योगेन साभ्यात् तादृक्-  
फलसाधनत्वं माह— “याश्चेति । उक्तार्थं मेतत् । “तस्मादा  
इति, वरुणप्रघासविधेर्निगमनम् ॥ ४ ॥

\* भिषज्यतिः कण्डादिः ।

† एते पदे च-पुस्तकादन्यत्र न दृश्यते ।

‡ “अथ यच्चतुर्थं चतुर्थं मासेषु स चातुर्याख्ययाजी । वसन्ते वैश्वदेवेन  
यजते, प्राद्वि वरुणप्रघासैः, शरदि शाकमेधैः”—इति आप० श्रौ० सू०  
८, ४, १३ । का० श्रौ० ५, २, १६, २० सू० चेह विवेक्तव्ये ।



|                                                                                                                                                                   |     |         |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|---------|
| Padumawati, Fasc. 1-4 @ 2/                                                                                                                                        | ... | Rs. 8 0 |
| Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5 each...                                                                                                                  | ... | 1 14    |
| Prāk ta-Paingalam, Fasc. 1-7 @ 1/ each                                                                                                                            | ... | 2 10    |
| Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 1/ each                                                                                                             | ... | 1 14    |
| Ditto (English) Part II, Fasc. I                                                                                                                                  | ... | 12      |
| Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. I                                                                                                                                  | ... | 1 8     |
| Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each                                                                       | ... | 7 8     |
| Parācara, Institutes of (English)                                                                                                                                 | ... | 0 12    |
| Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each                                                                                                                | ... | 2 4     |
| *Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10; II, 1-6; III, 1-7; IV, 1-6; V, 1-8 @ 1/ each Fasc...                                                              | ... | 12 6    |
| Sāṅkhya Sūtra V. tti, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/                                                                                                                       | ... | 1 8     |
| Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 1/12 each                                                                                                                             | ... | 2 4     |
| Sraddha Kriya Kaumudī, Fasc. 1-6                                                                                                                                  | ... | 2 4     |
| Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. I @ 1/12/                                                                                                                           | ... | 0 12    |
| Suddhī Kaumudī, Fasc. 1 3                                                                                                                                         | ... | 1 2     |
| *Taittīreya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 1/ each                                                                                                                 | ... | 9 0     |
| Tāpdyā Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each                                                                                                                      | ... | 7 2     |
| Tantra Vartika (English) Fasc. 1-4 @ 1/12/                                                                                                                        | ... | 3 0     |
| Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 1/ each | ... | 14 4    |
| Tattvarthadhigama Sūtram, Fasc. 1-3                                                                                                                               | ... | 1 2     |
| Trikāṇḍa-Maṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/                                                                                                                          | ... | 1 2     |
| Upamita-bhava-prapañcha-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 1/ each                                                                                                          | ... | 3 0     |
| Uvāsagadasāo, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 1/12/                                                                                                                | ... | 4 8     |
| Vallala Carita, Fasc. I                                                                                                                                           | ... | 0 6     |
| Varṣa K yā Kaumudī, Fasc. 1-6 @ 1/                                                                                                                                | ... | 2 4     |
| *Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 1/ each                                                                                             | ... | 4 8     |
| Vidhano Parigata, Fasc. 1-7                                                                                                                                       | ... | 2 10    |
| Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 1/ each                                                                                                                       | ... | 2 10    |
| Vjhat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6                                                                                                                                  | ... | 2 4     |

#### Tibetan Series.

|                                                                                            |     |      |
|--------------------------------------------------------------------------------------------|-----|------|
| Pag-Sam Thi Śīn, Fasc. 1-4 @ 1/ each                                                       | ... | 4 0  |
| Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-3; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each           | ... | 14 0 |
| Rtogs brjed dpag mkhari Śīn (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each | ... | 10 0 |

#### Arabic and Persian Series.

|                                                                                                                                                                                       |     |       |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-------|
| *Ālamgir-nāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 1/ each                                                                                                                               | ... | 4 14  |
| Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 1/12/                                                                                                                                     | ... | 2 4   |
| Āin-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each                                                                                                                                             | ... | 22 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each                                                                                              | ... | 29 12 |
| Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each                                                                                                                                   | ... | 37 0  |
| Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8; Vol. II, Fasc. @ 1/ each                                                                                                                           | ... | 9 0   |
| Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger                                                                                                                                               | ... | 0 6   |
| Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/ each                                                                                                                                 | ... | 7 2   |
| Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2                                                                                                                                         | ... | 2 0   |
| Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each                                                                   | ... | 3 0   |
| Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each                                                                                                              | ... | 21 0  |
| Farhang-i-Rashidī, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each                                                                                                                                        | ... | 14 0  |
| Fihrist-i-Tūsī, or, Tūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/12/ each                                                                                                        | ... | 3 0   |
| Futūh-ush-Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1 9 @ 1/ each                                                                                                                                  | ... | 3 6   |
| Ditto of Āzādī, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/ each                                                                                                                                            | ... | 1 8   |
| Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. I                                                                                                                            | ... | 0 12  |
| History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each                                                                                                                              | ... | 4 8   |
| Iqbāl-nāmah-i-Jahāngīrī, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/ each                                                                                                                                   | ... | 1 2   |
| Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 1/12/ each                                                                                                                                 | ... | 38 4  |
| Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9; Vol. II, Fasc. 1-9; Vol. III, Fasc. 1-10; Index to Vol. I, Fasc. 10-11; Index to Vol. II, Fasc. 10-12; Index to Vol. III, Fasc. 11-12; @ 1/6/ each | ... | 13 2  |
| Maghāzī of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each                                                                                                                                       | ... | 1 14  |

\* The other Fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.



|                                                                                                                         |      |    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------|----|
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ / / each ...                                                                 | Rs 5 | 10 |
| Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes ; Vol. III, Fasc. 1 @ /12/ each ... | 12   | 0  |
| Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ / / each ...                                                                    | 7    | 2  |
| Ma'āfir-i-'A'lamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ / / each ...                                                                   | 2    | 4  |
| Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1 ...                                                                                     | 0    | 6  |
| Nizāmī's -Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ /12/ each ...                                                     | 1    | 8  |
| Riyāzu-s-Salātīn, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                       | 1    | 14 |
| Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5 ...                                                                                     | 3    | 12 |
| Tabaqāt-i-Nāgiri, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                       | 1    | 14 |
| Ditto (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each ...                                                                              | 10   | 8  |
| Ditto Index ...                                                                                                         | 1    | 0  |
| Tārīkh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-dīn Barni (Text) Fasc. 1-7 @ / / each ...                                               | 2    | 10 |
| Tārīkh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                              | 2    | 4  |
| Ten Ancient Arabic Pcems, Fasc. 1-2 @ /18/ each ...                                                                     | 3    | 0  |
| Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1 ...                                                                                | 0    | 12 |
| Wis o Rāmīn, (Text) Fasc. 1-5 @ / / each ...                                                                            | 1    | 14 |
| Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ / / each ...                                                        | 6    | 6  |

### ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 1c/ each ... 20 0
  2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ / / per No. ; and from 1870 to date @ /8/ per No. ...
  3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1895 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8 per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. I, No. 1, 1905, @ 1-s per No. to members ana Rs. 2/ per No. to Non-members. ...
  5. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0
  - A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., J. A.S.B., 1878) ... 4 0
  - Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., J. A.S.B., 1858) ... 2 0
  - Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., J. A.S.B., 1875) ... 4 0
  6. Anis-ul-Musharrahīn ... 3 0
  7. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 8
  8. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 32 0
  9. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 1c/ each ... 2 0
  10. Jawāmlu-l-'ilm ir-riyyāsi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 4 0
  11. Khizānatu-l-'ilm ... 40 0
  12. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 2c/ each ... 18 0
  13. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III, with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 4 0
  14. Sharayaool-Islām ... 4 0
  15. Tibetan Dictionary, by Csoma de Kőrös ... 10 0
  16. Ditto Grammar ... 8 0
  17. Kacmīracaddām ta, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
  18. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
  19. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., J.L. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0

Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0

Nepalesé Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0

*N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.*

7-9-05.

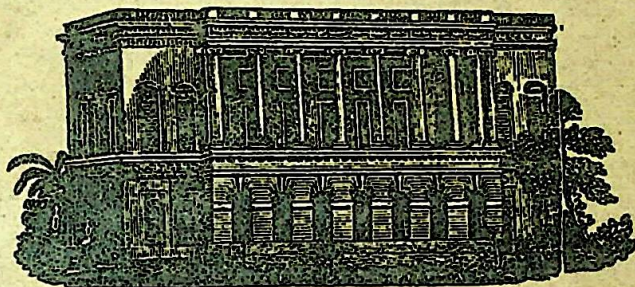
BOOKS ARE SUPPLIED BY V.-P.-P.



BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1158.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् ॥

THE ÇĀTAPATHA BRĀHMAṆA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,  
WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS IV,

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,
1906.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No. 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM
THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,
15, L'ICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO
HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

~~~~~  
*Complete copies of those works marked with an asterisk \* cannot be supplied—some  
of the Fasciculi being out of stock.*

### BIBLIOTHECA INDICA.

#### Sanskrit Series.

|                                                                                                                            |     |     |    |    |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----|-----|----|----|
| *Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 2,4 @ 1/5/ each                                                                       | ... | Rs. | 0  | 12 |
| Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2                                                                                         | ... | ... | 0  | 12 |
| *Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ 1/5/ each                                                                                | ... | ... | 4  | 2  |
| Aitārēya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/5/                | ... | ... | 8  | 10 |
| Aphorisms of Sāṃdilya, (English) Fasc. 1                                                                                   | ... | ... | 0  | 12 |
| Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/1/ each                                                                 | ... | ... | 2  | 4  |
| Acvavaidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each                                                                                 | ... | ... | 1  | 14 |
| Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc 1-5; Vol. II. Fasc. 1-5 @ 1/1/ each                                    | ... | ... | 10 | 0  |
| A Lower Ladakhi version of Kesarsaga, Fasc. 1...                                                                           | ... | ... | 1  | 0  |
| Bāla Bhāṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2                                                                                             | ... | ... | 0  | 12 |
| Baudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ 1/5/ each                                                                             | ... | ... | 1  | 2  |
| Bhāṭṭa Dipikā Vol. I, Fasc. 1-5                                                                                            | ... | ... | 1  | 14 |
| Bṛhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ 1/5/ each                                                                                  | ... | ... | 1  | 8  |
| Bṛhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/5/ each                                                                           | ... | ... | 2  | 4  |
| Bodhicaryavatara of Candidevi, Fasc. 1-3                                                                                   | ... | ... | 1  | 2  |
| Ātadusani, Fasc. 1-2                                                                                                       | ... | ... | 0  | 12 |
| Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each                                                                  | ... | ... | 8  | 0  |
| Ātapattha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7. Vol II Fasc 1-5, Vol III Fasc 1-7...                                                   | ... | ... | 7  | 2  |
| Ātasaahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-12 @ 1/6/ each                                                        | ... | ... | 4  | 8  |
| *Āturvarga Chintāmaṇi, (Text) Vo's. II, 1-25; III. Part I, Fasc. 1-18, Part II, Fasc. 1-10 @ 1/1/ each; Vol. IV, Fasc. 1-5 | ... | ... | 21 | 12 |
| Ālokavā-tika, (English) Fasc. 1-5                                                                                          | ... | ... | 3  | 12 |
| *Ārta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ 1/1/ each                                                                    | ... | ... | 4  | 8  |
| Ditto Āṅkhyāna, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ 1/1/ each; Vol 4, Fasc. 1              | ... | ... | 6  | 0  |
| Ārī Bhāshyam, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/1/ each                                                                                 | ... | ... | 1  | 2  |
| Dan Kriya Kaumudī, Fasc. 1-2                                                                                               | ... | ... | 0  | 12 |
| Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...                                                                           | ... | ... | 2  | 10 |
| Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc.-1.                                                                                          | ... | ... | 0  | 6  |
| Kāla Viveka, Fasc. 1-6                                                                                                     | ... | ... | 2  | 4  |
| Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/12/ each                                                                                    | ... | ... | 4  | 8  |
| Kāthā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12/ each                                                                      | ... | ... | 10 | 8  |
| Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ 1/1/ each                                                                                 | ... | ... | 3  | 6  |
| Lalita-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ 1/12/ each                                                                           | ... | ... | 2  | 4  |
| Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ 1/3/ each...                                                                          | ... | ... | 4  | 2  |
| Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-4, @ 1/1/ each                         | ... | ... | 9  | 6  |
| Manuṭīkā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ 1/1/ each                                                                            | ... | ... | 1  | 2  |
| Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ 1/12/ each                                                                        | ... | ... | 6  | 12 |
| *Mīmāṃsā Darpaṇa, (Text) Fasc. 7-19 @ 1/5/ each                                                                            | ... | ... | 4  | 14 |
| Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/1/                                                                                      | ... | ... | 2  | 4  |
| *Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ 1/1/ each                                                                            | ... | ... | 3  | 0  |
| Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ 1/1/                                                                                  | ... | ... | 2  | 10 |
| Nityacarapradīph, Fasc. 1-6                                                                                                | ... | ... | 2  | 4  |
| Nyāyabinduṭīkā, (Text) ...                                                                                                 | ... | ... | 0  | 10 |
| Nyāya Kusumāñjali Prakaraṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ 1/5/ each                                       | ... | ... | 3  | 6  |



तेषु वरुणप्रघासेषु चोदकतो वेदेराह्वनीयस्य चैकत्वे प्राप्ते  
द्वित्वं विधत्ते— “तद्वै द्वे इति \* । ‘तत्’ तत्र वरुणप्रघासेषु ।  
वेद्याह्वनीययोर्द्वित्वं मनूय प्रयोजनकथनेन स्तौति— “तद्य-  
दिति । दक्षिणत उत्तरतश्च स्थिताभ्यां वेदिभ्या मग्निभ्याम् ;  
‘तदुभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च पार्श्वद्वयादेव ‘वरुणपाशात्’  
‘प्रजाः’ ‘प्रमुञ्चति’ । “इतश्चोक्षा इति प्रागुक्तार्थम् † ॥ ५ ॥

उत्तरवेदिनिवपनं विधत्ते— “स इति । द्वयोर्वेद्योर्या ‘उत्तरा’  
उत्तरदिगवस्थिता तस्या मेव वेद्या माह्वनीयायतने ‘उत्तरवेदिम्’  
‘उपकिरति’ उपक्षिपति । एवकारयोर्व्यावर्त्यं दर्शयति— “न  
दक्षिणस्या मिति । ‘दक्षिणस्यां’ वेदौ उत्तरवेदिः ‘न’ कार्येत्यर्थः ।  
तच्चोत्तरवेदिनिर्माणं सूत्रकृतापि दर्शितम्— “उत्तरवेदिं निव-  
पति उत्तरस्यां, ग्रम्या मादाय चात्वालं सिमीते”—इति ‡ ॥

तदेतत् स्तौति— “क्षत्रं वा इति । “यान्येतानि देवत्रा  
क्षत्राणीन्द्रो वरुणः”—इति अग्रे समारम्भास्यते § ; अतो वरुणो देवेषु  
मध्ये क्षत्रियः, मरुतो देवविशः । तत्रोत्तरस्या मादौ वरुण इज्यते  
दक्षिणस्यां मरुतः । अत एवेदानीं लोके तथा दृश्यत इति  
प्रसिद्धिमुदाहरति— “तस्मादिति ॥ ६ ॥

वैश्वदेवे पर्वणि आदितो यान्याग्नेयादीनि पञ्च हवींषि । ,  
तान्यत्रापि विधत्ते— “अथैतानीति । अयोगव्यवच्छेदार्थं

\* का० श्रौ० सू० ५. ३. ६-१८।

† पुरस्तादिहैव २७० पृ० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ३. १६, २० । तत्रान्यथापि द्रष्टव्यम् ( ३३ सू० ) ।

§ श्रुत० ब्रा० १४. ४. २. २३ ।

॥ पुरस्तादिहैवाध्याये १ ब्रा० अष्टमकण्ठीतो द्रष्टव्यानि ।



एवकारः । तदेतत् स्तौति— “एतैर्वा इति । एतानि वरुण-  
पाशविमोचने विहितानि हवींषि प्रजापतिः साधनत्वेन यतः  
प्रागुक्तवान्, अतोऽत्रापि तेषा मनुष्ठान सुपपन्न मित्यर्थः । “इत-  
श्चोर्द्धा इति, व्याख्यातम् \* ॥ ७ ॥

षष्ठं भागं विधत्ते † — “अथैन्द्राग्न इति । तत् प्रशंसति—  
“प्राणोदानावित्यादिना । “तद्यथेति । तत्र लोके यथा ‘पुण्यं’  
शोभन सुपकारं कृतवते प्रत्युपकाररूपं ‘पुण्यं’ शोभनं ‘कुर्यात्’,  
‘एवम्’ एव तदिन्द्राग्न्योर्हविर्निर्वपणम् । ताभ्यां कृत सुपकारं  
दर्शयति— “तयोरिति । प्राणोदानात्मकयोस्तयोरवस्थानादेव कार-  
णात् ‘अस्य’ प्रजापतिः ‘प्रजा न परावभूतः’ । प्रागान्नातम्—  
“प्राणोदानौ ह्रैवाभ्यो नापचकमतुः”—इति ‡ । “तत् प्राणो-  
दानाभ्या मित्यादि । ‘तत्’ तस्मात् प्राणोदानरूपयोरिन्द्राग्न्यो-  
र्यागाभ्याम् ‘एव’ ‘एतत्’ ‘प्रजाः’ वरुणपाशगृहीताः चिकित्सति,  
तौ ‘प्राणोदानौ’ एव तासु ‘प्रजासु’ स्थापयति । “तस्मादिति,  
प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ८ ॥

वेदिहयेऽपि पयस्यां विधत्ते— “उभयत्वेति § । ‘उभयत्र’  
अध्वर्युकर्तृकाया सुत्तरस्यां वेद्यां प्रतिप्रस्थातृकर्तृकायां दक्षि-  
णस्यां च । ( द्वे ॥ ) ‘पयस्ये’ हविषी ‘भवतः’ । वरुणपाश-

\* पुरस्तादिहैव २७० पृ० १८ पं० द्रष्टव्यम् ।

† ‘षष्ठं’ हविरेन्द्राग्नौ द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति—इति का०  
श्रौ० ५. ४. २६ सू० ।

‡ अत्रैव २७२ पृ० १४ पं० ।

§ ‘अवरोक्त सुत्तरम्’—इति का० श्रौ० स० १. १०. ५ । “दक्षिणं  
प्रतिप्रस्थातुः”—इति च का० श्रौ० सू० ५. ४. २५ ।

॥ च-पुस्तकादन्यत्र नैतत् पद मस्ति ।



विमोचनानुकूलं पयस्यायाः प्रतिपादयति — “पयसो वा इति । पुरा प्रजापतिना सृष्टाः ‘प्रजाः’ तदीयस्तन्यरूपात् ‘पयसः’ ‘सम्भू-  
ताः’ वर्द्धिताः, इदानीं मपि मानुषाः स्तन्यरूपात् पयस इव ‘सम्भ-  
वन्ति’ वर्द्धन्ति । “तद्यत एवेति, अस्यार्थस्यानुवादः । ‘तत एव’  
सम्भूतिहेतोः ‘पयसः’ कारणात् ‘उभयतः’ दक्षिणत उत्तरतश्च  
पार्श्वद्वयात्, प्रजानां वरुणपाशविमोचनं कृतवान् भवति ॥ ८ ॥

अध्वर्युकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति — “वारु-  
णीति \* । उत्तरस्यां वेद्यां या पयस्या, सा वरुणदेवताका कार्या ।  
“तत् प्रत्यक्ष मिति । देवतान्तरयागेन वरुणपाशविमोचनं  
परोक्षम्, वरुणदेवताकेन तु यागेन ‘तत्’ पाशविमोचनं ‘प्रत्य-  
क्षम्’ एवेति वरुणदेवताकत्वं युक्ततर मित्यर्थः ।

प्रतिप्रस्थातृकर्तृकायाः पयस्याया देवतां विधाय स्तौति —  
“मारुती † दक्षिणेति । दक्षिणस्यां वेदौ क्रियमाणा पयस्या मरु-  
देवताका भवेत् । “अजामिताया इति । वरुणदेवतां परित्यज्य  
‘अस्याः’ पयस्याया यत् मरुत्तक्ष्णदेवतान्तरकरणम्, तत् जामिता-  
दोषराहित्याय भवति । व्यतिरेकेण तदेवाह — “जामीति ।  
‘यद्’ यदि ‘उभे’ अपि दक्षिणोत्तरपयस्ये वरुणदेवताके ‘स्याताम्’,  
तदा प्रयुक्तस्या एव देवतायाः पुनःप्रयोगो नवीकरणाभावात् अल-  
सतारूपजामितादोषः स्यादित्यर्थः ।

मारुतत्वे कारणान्तर माह — “अतो ह वा इति । ‘अतः’  
अस्मद्वक्ष्यमाणादपि हेतोः दक्षिणा पयस्या मारुती कार्या । अस्य  
हि प्रजापतेः सम्बन्धिनी प्रजा पुरा दक्षिणतः स्थितानां मरुता

\* ‘वारुणी अध्वर्योः’ — इति का० श्रौ० ५. ४. २३ सू० या० दे० ।

† “मारुती सहाज्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्याम्” — इति का० श्रौ० ५. ५. ५ ।



मुपशमनाय दक्षिणतः क्रियमाणैषा पयस्या मारुती कार्ये-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

करीराणा मावपनं विधाय स्तौति — “तयोरिति । तयो-  
रुभयोः पयस्ययोः करीराणि प्रक्षिपेत् \* । मधुराः फलविशेषाः  
करीराणि ; तानि चोत्तरापथे प्रसिद्धानि † । “कं वा इत्यादि ।  
‘करीरैः’ एतैः करीरफलैः ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाभ्यः’ अस्माकं ‘कं’  
सुखम् ‘अकुरुत’ तस्मादिदानीं मध्येष यजमानस्तदावपनेन सुख  
मेव प्रजाभ्यः कुरुते ॥ ११ ॥

शमीपर्णाना मावपनं विधत्ते — “तयोरिति । ‘शमीपला-  
शानि’ शम्याः पर्णानीत्यर्थः । “शं वा इत्यादि । ‘शम्’ उपद्र-  
वाणां शमनमित्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् । अत एवोक्तं कात्यायनेन —  
“उभयोः करीराण्यावपति शमीपलाशमिश्राणि”—इति ‡ ॥ १२ ॥

अथान्तिमह विधत्ते — “अथ काय इति । कः प्रजापति-  
देवता अस्य, ‘सास्यदेवता’—इत्यणि § “कस्येत्”—इति ॥ ‘क’-

\* “वाजिने निषिच्योभयोः करीराण्यावपति”—इति का० औ० सू०  
५. ५. १ । “यतीनां भवत्यमानानां शोर्षाणि परापतन् ते खर्जूरा अभ-  
वन् तेषां रसज्ज्ञोऽपतत्तानि करीराण्यभवनसौम्यानि वै करीराणि  
सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टिं चावयति यत् करीराणि भवन्ति”—  
इति तै० सं० २. ४. ६. ४ ।

† राजस्थान प्रदेशीय जयपुर पत्तनादावपि बहु जायन्त इमानि सुमिष्ट-  
क्षुद्रफलानि ; व्यवहृत्यन्ते चैतदामानि शाकार्यं मपीति दृश्यम् ।

‡ का० औ० सू० ५. ५. १ । “शमी नाम कण्टकी वृक्षः, तस्य पर्णानि  
शमीपलाशानि । करीरोऽपि अपर्णः कण्टकीवृक्षः, तस्य फलानि करी-  
राणि । शमीपर्णानां करीरफलानाञ्च तुल्यत्वम्”—इत्यादि च तत्र या० दे० ।

§, १ पा० सू० ४. २. २४, २५ ।



शब्दस्येकारान्तादेशः । एतस्य हविषः प्रयोजन माह— “कं वा इति । सुखात्मको हि प्रजापतिः ‘क’-शब्दवाच्यः । अतस्तद्देवताकेन यागेन सुखकारणमुपपन्नमिति भावः ॥ १३ ॥

करम्भपात्राणां निर्माणं विधत्ते— “अथ पूर्वैद्युरिति । यस्मिन् दिवसे वरुणप्रघासयागः, ततः ‘पूर्वैद्युः’ पूर्वं दिवसे । “अन्वाहार्यपचने इति । अन्वाहार्यो नामेष्टिः । दक्षिणदिग्भागे मरुतो ‘जिघांसन्’ हन्तुमैच्छन्; तान् प्रजापतिरेतेन पयस्यारूपेण भागेन ‘अशमयत्’ शमितवानिति यावत्, तस्माद् । दक्षिणात्वेन देय ओदनो यस्मिन् पच्यते स तथोक्तः । तस्मिन् दक्षिणाग्नौ ‘अतुषान्’ तुषरहितान् ‘कृत्वा’, सम्पूर्णं ‘तान्’ ‘ईषदिव’ अत्यल्पमिव ‘उपतप्य’ अपयित्वोदकेनालोक्ष्य, तैः ‘करम्भपात्राणि’ अष्टयवचूर्णाः \* करम्भाः, तन्मयानि पात्राणि ‘कुर्वन्ति’ अध्वर्युयजमानादयः † । कियन्ति तानि पात्राणीत्यपेक्षाया माह— “यावन्त इति । यावत्सङ्ख्याका यजमानस्य ‘गृह्याः’ स्वगृहे वर्त्तमानाः पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञातयो भवेयुः, ‘तावन्ति’ तावत्सङ्ख्याकानि करम्भपात्राणि कार्याणि । तानि च जनिष्यमाणपत्यार्थम् ‘एकेन’ ‘अतिरिक्तानि’ अधिकानि कार्याणि ‡ ॥ १४ ॥

करम्भपात्रावशिष्टाद् यवपिष्टादेव मेषमेषीलक्षणमिथुनस्य

\* ‘पिष्टचूर्णाः’—इति च ।

† करम्भो दध्ना संयुताः सक्तवः, तन्मयानि पात्राणि करम्भपात्राणीति का० श्रौ० ५. ५. २ सू० या० दे० ।

‡ “यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकानि”—इति का० श्रौ० सू० ५. ३. ३ । तत्र इतोऽतिरिक्ते चेमे सूत्रे— “प्रजायां वा ज्ञातश्रुतेः, त्रीणि वा नित्यत्वात्”—इति ४, ५ ।



निर्माणं विधत्ते— “तत्रापीति । ‘अपि’-शब्द एवकारार्थः । ‘तत्र’  
 करम्भपात्रनिर्माणसमये एव, तेनैव पिष्टेन मेषमेष्यौ कर्त्तव्ये \* ।  
 “तयोरिति । सम्भूयानुदितयोः । ‘मेषे च मेष्याश्च’ इति पृथगुपा-  
 दानं विष्णुष्टार्थम् । “यद्यनैडकीः †” इति । एडको ‡ मेषः, तत्-  
 सम्बन्धरहिता अनैडकः, ‘जर्णाः’ कम्बलोपादानभूतानि तज्जाती-  
 यानि रोममयानि § सूत्राणि । यदि तास्तथाविधा जर्णाः  
 ‘विन्देत्’ लभेत, तदा ‘ताः’ ‘प्रणिज्य’ प्रक्षाल्य, तयोः मेषमेष्योः  
 ‘निश्लेषयेत्’ संश्लेषयेत् ॥ । ‘यद्यु’ यदि खलु “अनैडकीः” जर्णाः  
 “न विन्देत्” न लभेत, तर्हि “कुशोर्णा एव स्युः” कुशमया एवो-  
 र्णाः, तयोः संश्लेषणीयाः भवेयुः ¶ ॥ १५ ॥

मेषमेष्योः कारण मनूय स्तौति— “तद्यदिति । “वरुणस्य  
 पशुर्यन्मेष इति । ‘यदु’ ‘एषः’ खलु ‘प्रत्यक्षं’ ‘वरुणस्य’ हवि-  
 र्भूतः ‘पशुः’ । अत एव पञ्चेकादशिन्याम् “अधोरामः सावित्रो  
 वारुणः कृष्ण एकशितिपात् पेल्वः”—इत्याम्नायते \* \* । पेल्वो  
 विगतपुंस्को मेष इति हि तत्रार्थः । “यवान् हीति । ‘हि’  
 यस्माद् ‘यवान्’ ‘जक्षुषीः’ भक्षितवतीः प्रजाः ‘वरुणः’ “अंगृ-  
 ह्णात्”, अतस्तद्यवप्रत्यर्पणाय मेषमेष्योर्यवत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० ५, ३, ६ । निस्तुषा मभृष्टयवकरम्भस्यैव मेष मेषा-  
 कारं प्रतिरूपकम् मेषौ मेषाकारां प्रतिवृत्तिश्च करोति—इति या० दे० ।

†, ‡ ‘नैलकीः’, ‘एलको’ च ।

§ तज्जातीयरोममयाणि—इति च ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, ३, ७ ।

¶ का० श्रौ० सू० ५, ३, ८

\* \* वा० सं० २६, ५८



तयोः स्त्रीपुंस्वरूपता मनूय स्तौति— “मिथुनौ भवत इति ।  
‘मिथुनाद्’—इत्येतद् ‘वरुणपाशाद्’—इत्यस्य विशेषणम् । द्वैरूप्याधि-  
करणाद् दक्षिणस्यां मेघो न मोचनहेतुः \* ॥ १६ ॥

अथ तयोः प्रक्षेपं विधत्ते— “स इति । अध्वर्युकर्तृकायाम्  
‘उत्तरस्याम् पयस्यायां’ ‘मेघीम्’ ‘अवदधाति’ प्रक्षिपति । प्रति-  
प्रस्थात्कर्तृकायां ‘दक्षिणस्यां’ ‘मेघं’ प्रक्षिपति । अनयोर्दक्षिणो-  
त्तरभावं लोकन्यायेनोपपादयति— “एव मिवेति † ॥ १७ ॥

हविषा मासादनं विधत्ते— “स सर्वाण्येवेति । आग्नेयादीनि  
‘सर्वाण्येव हवींषि’ ‘उत्तरस्यां’ ‘वेदौ’ वेद्यां ‘सः अध्वर्युः’ ‘आसा-  
दयेत्’, ‘प्रतिप्रस्थाता’ तु ‘एताम्’ मारुतीं ‘पयस्या मेव’ ‘दक्षि-  
णस्यां’ वेद्या मासादये दित्यर्थः ‡ ॥ १८ ॥

हविरासादनोत्तरकाल मन्त्रिमन्थनं विधत्ते— “आसाद्येति ।  
‘अग्निं मथित्वेत्यादि । अग्निमन्थनानन्तरजातम् ‘अग्निम्’ आह-  
वनीये “भवतन्नः”—इति § मन्त्रेण ‘अनुग्रह्य’ प्रक्षिप्य, “अग्न-  
वग्निः”—इति ॥ मन्त्रेणाभिजुहुयात् । एतच्चाग्निमन्थनादिकम् ¶  
‘अध्वर्युः’ एकः ‘एव’ कुर्यात् ; न प्रतिप्रस्थातेत्यभिप्रायः । दक्षि-  
णोत्तरयोरुभयोरप्याहवनीययोराहुत्यधिकारणत्वेनेभादीनां समि-  
न्धनीयत्वात् तद्धेतुभूतः सामिधेनीप्रैषोऽपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्प्रभ्या  
मुभाभ्यां प्रयोक्तव्य इत्याशङ्काह— “अथाध्वर्युरेवेति । ‘एव’-कारः

\* का० श्रौ० सू० ५. ५. २. ३ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. ५ ।      ‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ४ ।

§ वा० सं० ५. ३ ।

॥ वा० सं० ५. ४ ।

¶ “अमये मथ्यमानायानुवाचयति, मन्थति गायत्रेणेति ( का० श्रौ०  
५. २. )”—इत्यादीनि सूत्राणीहालोच्यानि ।



प्रतिप्रस्थातृव्यावृत्त्यर्थः । एकस्याहवनीयस्य देशभेदेन द्विधावस्था-  
नात् , प्रतिप्रस्थातुराहवनीयान्तराभावात् , प्रेष्यस्य च होतुरुभय-  
त्रैकत्वाद् , अध्वर्युणोच्यमान एव प्रैष उभयत्रीपकरोति, ता उभौ  
समिधावित्यभिप्रायः । इधाधानादिकन्तु ताभ्यां समनुष्ठेय मित्याह—  
“ता उभाविति । ‘तौ’ अध्वर्युप्रतिस्थातारौ ‘उभौ’ । अथाध्वर्युरेव  
कर्तव्य माह — अथाध्वर्युरेवेति । हे ‘अग्नीत् !’ ‘अग्निम्’ आह-  
वनीयं ‘सम्पृङ्घि’ सम्मार्जनेन संस्क्रु । “असंसृष्ट मेवेति ।  
करम्भपात्राणां होमस्य कालविधिः । अग्नि मग्निदिति सम्प्रैषे कृते  
तदर्थत्वात् आग्नीध्रेणानुतिष्ठत इत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

तस्य च करम्भपात्राणां होमस्य पत्नीकर्तृकत्वं विधित्सुस्तस्या-  
सम्भावितस्य पुरुषान्तरसम्भतिजनितस्यैनसः प्रश्नं दर्शयति— “अथ  
प्रतिप्रस्थातेति । अग्नि मग्नीदिति सम्प्रैषानन्तरं ‘प्रतिपरैति’  
निवर्त्तते , पत्नी यत्रास्ते तं देशं प्रतिगच्छेदित्यर्थः । ‘सः’ च  
प्रतिप्रस्थाता ‘पत्नीम्’ ‘उदानेष्णन्’ उदागमयिष्यन् । तां पत्नीं  
‘पृच्छन्ति’,— त्वं ‘केन’ जारेण ‘चरसि’ वर्त्तसे ‘इति’ † । पुरुषा-  
न्तरसङ्गतेर्दोषान्तरता माह — “वरुण्य मिति । येन पापेन  
हेतुना वरुणपाशबन्धो भवति, तत् पापं ‘वरुण्यम्’ । ‘अन्यस्य’  
पुरुषस्य पत्नी ‘सती’, ‘अन्येन’ पुरुषान्तरेण सह ‘चरति’ वर्त्तते  
यत् , एतत् वरुण्य मेव ‘स्वीकरोति’ । प्रष्टुः प्रतिप्रस्थातुरभिप्राय  
माह — “अथो इति । ‘अथो’ अपि च एषा पत्नी ‘अन्तःशल्या ‡’  
शरीरमध्ये दुश्चरितजनितेन पापरूपेण शल्येन § युक्ता सती ‘न  
इत्’ नैव ‘मे’ मदीयेऽग्नी ‘जुहवत्’ ‘इति’ । ‘तस्मात्’ कृतस्य

\* का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ क ।

† का० श्रौ० सू० ५, ५, ६ ख ।

‡, § ‘शल्या’, ‘शल्येन’ च ।



पापस्य कनीयस्त्वम् । “तस्माद् वेवेति । ‘उ’-शब्दोऽपीत्यर्थे ,  
‘एव’-कारो भिन्नक्रमः । तस्मादपि कारणात् पृच्छत्येवेत्यर्थः ॥

विपक्षे बाधोपन्यासेन पत्न्या अपि यथार्थभाषणं कर्तव्य  
मिति विधत्ते— “सेति । ‘यत्’ यदि ‘सा’ पत्नी पृष्ट मर्थे ‘न  
प्रतिजानीत’ न प्रतिब्रूयात् , ‘तत्’ तदा, ‘अस्यै’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी,  
अस्याः पत्न्याः ‘ज्ञातिभ्यः’ ‘अहितम्’ अनिष्टं स्यात् , तस्माद्  
वस्तुतो विद्यमानं हतान्त माचक्षीतेत्यर्थः । तैत्तिरीयकेऽप्या-  
ज्जायते— “यज्जारं सन्तं न प्रब्रूयात् , प्रियं ज्ञातिं रुन्ध्यात् ,  
असौ मे जार इति निर्दिशेदिति १ । तदुक्तं कात्यायनेन— “प्रति-  
प्रस्थाता पत्नी मानिष्यन्नाह केन चरसीति संस्तुतानाचष्टे”—इति ३ ।  
संस्तुताः परिजाता जारा इत्यर्थः ॥ २० ॥

तस्या वाचनं विधत्ते— “तां वाचयतीति । “प्रघासिनः”  
—इत्यादिर्वाचनीयो मन्त्रः ॥ तस्याय मर्थः— ‘प्रघासिनः’  
प्रघासः प्रघसनीयं भोज्यं हविः , तद्वतो ‘मरुतः’ “शुक्रज्योतिश्च  
चित्त्रज्योतिश्च”—इत्यादिना प्रतिपादितनामधेयान् एकोनपञ्चा-  
शत्संख्याकान् देवान् ‘हवामहे’ आह्वयामः । यतो ‘रिशादसः’  
रिशाः हिंसकाः शत्रवः , तेषां निरसितारः । ‘करम्भेण’ करम्भ-

\* पत्नी एतावन्तो मे जारा इति नामग्राहं कथयति , अमुना  
अमुना जारेण सह चरामीति वा ; नो चेन्नान्येनेति । यदि लज्जादि-  
वशात् न कथयति , प्रति जारं तृणानि उद्धृणाति । का० श्रौ० ५. ५.  
७-१० सू० इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ५. २ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. ६. ७ ।

§ वा० सं० ३. ४४. १ ।



पात्ररूपेण हविषा 'सजोषसः' समानप्रीतयश्च भवन्ति, तान् मरुत इति ।

एतन्मन्त्रं पुरोऽनुवाक्यानुवचनसादृश्येन स्तौति — “यथेति । ‘पुरोनुवाक्या’ हि यच्च्यमाणदेवताह्वानार्था, ‘एवम् एव’ ‘एषा’ प्रधासिन इत्यृक् । अतः ‘एतया एव’ ‘एतान्’ मरुतः ‘एतेभ्यः’ ‘पात्रेभ्यः’ करम्भपात्रेभ्यः ‘ह्वयति’ होष्यमाणं करम्भपात्रलक्षणं हविर्भोक्तुं माह्वयतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

“करम्भपात्राणि कुर्वन्ति यावन्तो गृह्णाः स्युस्तावन्ति”—इति वाक्येन प्राग्विहितम् \*, तदनु स्तौति — “तानि वा इति । ‘प्रतिपुरुषं’ पुरुषं पुरुषं प्रत्येकैकं करम्भपात्रं भवति । यावन्त इत्याद्युक्तार्थम् । पुरुषसङ्ख्याया पात्रनिर्माणस्य प्रयोजन माह—“तत् प्रतिपुरुष मिति । ‘अस्य’ यजमानस्य ‘याः प्रजाः जाताः’, ‘ताः’ ‘प्रतिपुरुषं’ प्रत्येकम् ‘एकैकेन’ पात्रेण ‘वरुणपाशात्’ ‘प्रमुञ्चति’ । एतदतिरिक्ततामनूद्य स्तौति—“एकेनेति । जनिष्यमाणानां प्रजानां वरुणपाशविमोचनार्थं मेक मतिरिक्तं कर्त्तव्य मित्यर्थः ॥ २२ ॥

पुरोडाशादिरूपतां विहाय पात्ररूपेण निर्माणमुपपादयति—“पात्राणीति । ‘हि’ यस्मात् ‘पात्रेषु’ कांस्यादिनिर्मितेषु ‘अश्वम्’ अन्नम् ‘अश्यते’ भुज्यते, अतो मरुतां पयस्यारूपस्यान्नस्य भोजनीयपात्ररूपेणैव निर्मातव्यानीत्यर्थः । यवमयत्वं मनूद्य स्तौति—“यवमयानीति । ‘जक्षुषीः’ भक्षितवतीरित्यर्थः । अथ तेषां करम्भपात्राणां होमं विधत्ते—“शूर्पेणेति † । जुह्वादि

\* पुरस्तात् पृ० २७६ पं० १ द्रष्टव्यम् ।

† “करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्ध्वनि कृत्वा दक्षिणे ऽग्नौ प्रथङ्मुखी जायापती वा”—इत्यादि का० श्रौ० सू० ५. ५. ११ ।



पात्रं विहाय शूर्पेणैव तानि जुहुयात् । तेन हि 'शूर्पेण' तुषनिर्व-  
पनद्वारा \* 'अशनम्' अन्नं 'क्रियते', अतः न चात्र शूर्पी हेत्वर्थः  
शङ्कनीयः ; "हेतुर्वास्यादर्शवत्तोपपत्तिभ्याम्, सुतिसु शब्दपूर्व-  
त्वात्"—इत्यधिकरणे † सुतित्वेनान्वयस्य प्रतिपादितत्वात् । "पत्नी  
जुहोतीति कर्त्तृविधिः ‡, मिथुनदेवेत्यादि तत्प्रशंसा । स्त्रिया  
अपि कर्त्तृत्वेन होमेऽन्वयात् मिथुनं सम्पद्यते । तथाच यजमान-  
पत्नीरूपात् मिथुनादेवेत्यय मर्थः सिध्यति ॥ २३ ॥

स्रुवाधारहोमादेः पूर्वभावित्वं करश्मपात्रहोमस्य विधत्ते—  
"पुरेति । यज्ञो वषट्कारप्रदानो यजतिचोदित आग्नेयः, आहु-  
तयः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतिचोदिताः । एतत्पूर्वभावित्वं मुप-  
पादयति— "अहुताद इति । अहुतं होमसंस्काररहितम् अदन्ति  
भक्ष्यन्त्यहुतादः । मरुतां वैश्यजातित्वेन अहुतादानधर्मवत्त्वात्  
सर्वहोमात् पूर्वं तेभ्यो हविःप्रदानं युक्त मिति भावः । इतोऽपि  
करश्मपात्राणां पूर्वहोम इत्याह— "यत्रेति । 'परिदीर्क्षाः'—इत्या-  
दिकं व्याख्यातम् § । 'यत्र' यदा खलु 'प्रजापतेः प्रजाः' 'वरुण-  
गृहीताः' परिदीर्क्षत्वादि-रोगग्रस्ता अभवन्, 'तत्' तदा 'आसां'  
प्रजानां प्रधानं 'मरुतः' 'विमेशिरे' विलोपयन्ति ॥ स्म, संस्ने-

\* 'स्रुवापवनद्वारा'—इति च ।

† मी० जै० सू० १, २, २६—३० ; अधि ३ ।

‡ 'करश्मपात्राणि पत्नी जुहोति, जुहूस्थानापन्नेन शूर्पेण ; मस्तक-  
स्थोपरि शूर्पं कृत्वा । यदा पत्नीयजमानौ जुहुतो नैकाकिनी पत्नी'  
—इति तत्र वृत्तौ या० दे० ।

§ २८७ पृ० ८ पङ्क्तौ द्रष्टव्यम् ।

॥ 'विलोपयन्ति'—इति च ।



धितवन्त इत्यर्थः । 'तथो एव' 'एतस्य' यजमानस्य 'प्रजानां'  
वरुणपाशगृहीतानां 'पाप्मानं' पाशविमोचनात् प्रागेव मरुतः  
'विमथ्यते' संविश्लेषयन्ति । 'तस्माद्' वरुणपाशविमोचनार्थाद्  
यज्ञात्, 'आहुतिभ्यः' च पूर्वमेव करम्भपात्राणां होसेन मरुतां  
शंसनं \* युक्तमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अग्निविशेषं विधत्ते— "सा वा इति । 'सा' खलु पत्नी  
'दक्षिणे' दक्षिणस्यां वेद्या मवस्थिते आहवनीये 'अग्नौ' 'जुहोति' ।  
'यद् ग्राम इति † । तं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे— "यद् ग्रामे  
इत्यादिना ‡ । 'यत् एनः क्रियते', 'तत्' ग्रामे वा अरण्ये वा  
भवति । "यत् सभाया मिति, द्वितीयपादस्य कात्स्न्येनानुवादः ।  
तत्र प्रथमाह मनूद्य सभाशब्दं व्याचष्टे— "यत्सभाया मिति ।  
यन्मनुष्यसङ्घैः एनः क्रियत इति योऽर्थः, अयमेव यत्सभाया  
मिति मन्त्रभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । यदिन्द्रियपदस्य देवसङ्घ-  
परत्वमाह— "यदिन्द्रिय इति । 'इन्द्रिये' इन्द्रसम्बन्धिनि देव-  
समूहे । तदुत्तरभागमनूद्य व्याचष्टे— "यदेन इति । ग्रामादि-  
स्थानेषु यत् पापचयं 'चक्रम' कृतवन्तः, 'तत्' पापम् 'इदम्'  
इदानीं करम्भपात्रलक्षणेन हविषा 'अवयजामहे' समर्पयामः ।  
'स्वाहा'—इति निपातो दानार्थे, स्वाहुतमिदमस्त्विति मन्त्रभाग-  
स्यार्थः । "तस्मात् सर्वस्मादित्यादि । कृतस्वैनसोऽवयजनं नाम  
'तस्मात् सर्वस्मात्' 'प्रमोचनं' विश्लेषः । आसारण्यादिस्थानभेदेन  
बहुविधस्वैनसः सङ्ग्रहाय सर्वस्मादिति विशेषणम् ॥ २५ ॥

\* 'शंसनं'—इति च ।

† वा० सं ३, ४५, १ ।

‡ का० औ० सू० ५, ५, ११ ।



यजमानस्य मन्त्रजपं विधत्ते— “अथेति । ‘अथ’-शब्दो होमानन्तर्ये, ‘ऐन्द्रीम्’ इन्द्रदेवताकाम्, ‘मरुत्वतीं’ मरुत्वच्छब्द-  
युक्ताम्, ‘मो षू ण इन्द्र’—इत्यादिका सृचं \* यजमानो जपेदि-  
त्यर्थः । उक्तं हि सूत्रकृता— “मो षू ण इति यजमानो जपति”  
—इति † । मरुत्वदिन्द्रदेवताका सृचं प्रशंसति— “यत्रेति ।  
‘मरुतः पाप्मान मित्यादि । यदा खलु वरुणपाशेन बद्धाः प्रजाः,  
तासां यद् बन्धनकारिणं पापं ‘मरुतः’ ‘विमेशिरे’ विलोपितवन्तः,  
‘तत्’ तदानीं प्रजापतिः खलु ‘ईक्षाञ्चक्रे’ पर्यालोचितवान्—  
‘इमे’ खलु ‘मरुतः’ मदीयाः ‘प्रजाः’ न विमथ्नीरन् न विवा-  
धेरन् इति” ॥ २६ ॥

“स एता मिति । ‘सः’ प्रजापतिः पूर्वोक्तरूपं पर्यालोच्य  
‘एताम् ऐन्द्रीं मरुत्वतीम्’ ऋचम् ‘अजपत्’ । अत्रेन्द्रस्य प्रसङ्ग  
माह— “अत्रं वा इति । ‘इन्द्रः’ खलु क्षत्रियजातिः, तस्येन्द्रस्य  
‘विशो मरुतः’; क्षत्रियो हि प्रजानां ‘निषेधा’ निरोधकः, तेनेन्द्रेण  
‘निषिद्धाः’ निवारिता भवेयुः । ‘इति’ अनेताभिप्रायेणेन्द्रदेवता-  
काया ऋचो जप इत्यर्थः ॥ २७ ॥

ता सृचं पठति— “मो षू ण इति । अस्य चाय मर्थः ।  
हे ‘इन्द्र !’ ‘अत्र’ एषु ‘पृत्सु’ । सङ्ग्रामनामैतत् । अस्मदीयाः  
प्रजाः ‘मा उ सु हिंसीः’ । ‘हे शुभिन्’ बलवन्निन्द्र ! ‘देवैः’ मरुद्भिः  
सहितः ‘ते’ तव ‘अवयाः’ । अवपूर्वाद् “अवयाः श्वेतवाः”—इति ‡  
निपात्यते । अवयजमानरूपकरश्चपात्रहोमः ‘अस्ति’ खलु । ‘मह-  
च्चित्’ महतोऽपि ‘मीढुषः’ सेक्तुः ‘यव्याः’ । “सुपां सुलुक्”—

\* वा० सं० २. ४६. १ ।

† का० औ० सू० ५. ५. १२ ।

‡ पा० सू० ८. २. ६७ ।



इति \* भिस आडादेशः । यवमयैर्हविर्भिः 'हविषतः' 'यस्य'  
इन्द्रस्य 'मरुतः' देवाः अनुचराः 'गीः' स्तुतिरूपा वाक् 'वन्दते'  
स्तीति । "वदि अभिवादनस्तुत्योः"—इति † धातुः । 'इति  
इत्यस्य पूर्वत्वान्वयः ॥ २८ ॥

पत्न्या वाचनं विधत्ते— "अथैना मिति । तं वाचनीयं  
मन्त्रं पदशोऽनूय व्याचष्टे— "अक्रन् कर्मेति ‡ कर्म कुर्वन्तीति  
'कर्मकृतः' यजमानाः ; ते हि इदानीं करभपात्रहोमरूपं 'कर्म'  
'अक्रन्' अकार्षुः । अतोऽक्रन् कर्मेति मन्त्रभागवाचनं युक्तम् ।  
द्वितीयपादस्यार्थः प्रसिद्ध इत्याह— "सह हीति । 'मयोभुवः'  
मयसः सुखस्य भावयित्रया मन्त्ररूपया वाचा सह एतत् कर्म  
'अक्रन्' अकार्षुः । "देवेभ्य इत्यादि । हे यजमानस्यामात्वा  
ऋत्विजस्य यूयं वरुणप्रघासाख्यकरभपात्रहोमरूपं च कर्म देवाय  
'कृत्वा' । 'अस्तं' गृहनामेतत् ; यजमानस्य गृहान् 'सचा भुवः'  
पत्न्या सह भवन्तः , सह वर्त्तमानाः 'एत' आगच्छतेति मन्त्रभाग-  
स्यार्थः । स चा भुव इत्येतद् व्याचष्टे— "अन्यत इति । अन्य-  
स्माद् देशाद् पत्न्यासनलक्षणात् 'ऊढया' आहवनीयसमीपं प्रापि-  
तया पत्न्या सह खल्विदानीं वर्त्तन्ते, तस्मात् सचाभुव इत्येतद् यथा-  
र्थम् । अस्तं प्रेत्येत्याभिप्राय माह— "जघनाद्धौ वा इति ।  
ता मेतत् प्राची मिति । यज्ञस्यापरभागेऽवस्थितां 'ताम्' 'एतत्'  
एतर्हि 'प्राचीं' प्राग् गच्छन्तीम् , पूर्वभागसम्बन्धिनीं 'यज्ञं' 'प्रासी-  
षदत्' प्रापीपत् प्रतिप्रस्थाता । सदर्ष्टाङ्गि चङ्गि रूपम् । "गृहा  
वा अस्त मिति । अस्यते क्षिप्यते सर्वं वस्तुजात मस्मिन्निति 'अस्तं'

\* पा० सू० ७, १, ३६ ।

† भा० आ० १३ ।

‡ वा० सं० ४, ४७, १ ।



गृहाः । “क्तोऽधिकरणे च”—इति \* क्त-प्रत्ययः । ‘एतत्’ एतेन  
 “अस्तं प्रेत”—इति मन्त्रभागवचनेन गृहरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
 पुनः ‘एनां’ स्थापितवान् भवति † ॥ २६ ॥

अक्रन् कर्त्तव्येति मन्त्रवाचनानन्तरं कर्त्तव्यं सुपदिशति—  
 “प्रतिपराणीयोदैतीति । पतिं प्रतिनिवर्त्य स्वस्थानं प्रापयितुं  
 ‘प्रतिप्रस्थाता’ ‘उदैति’ उद्गच्छेत् ‡ । “अग्निं मग्नीत्”—इति  
 प्रैषसम्भार्जनयोर्मध्ये कर्त्तव्यं मुक्ता, तत्सम्भार्जनप्रभृति प्रकृतिव-  
 देवानुष्ठेय मिति दर्शयति— “सम्भृजन्तीत्यादिना । एकस्मिन्-  
 प्याग्नीध्रे घृजार्थं बहुवचनम् । एव माहवनीये ‘अग्नौ’ ‘सम्भृष्टे’,  
 ‘उभावेव’ । एवकारोऽप्यर्थे । उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ  
 ‘उत्तरौ आधारौ आधारयतः’ दीर्घधारया जुहुतः । हविर्वेद्य-  
 ग्नीनां भेदः प्रतिप्रस्थातुः अपि दक्षिणेऽग्नौ आधारादिकं सर्वं प्रयोग-  
 जात मध्वर्युवदनुष्ठेयम् । अत एव तैत्तिरीयकम्— “यदेवाध्वर्युः  
 करोति, तत् प्रतिप्रस्थाता करोतीति § ।

“अध्वर्युरेवाश्रावयेदित्यादि । प्रवरप्रयाजाज्यभागादिसम्प्रैषस्य  
 प्रैषस्य ह्यतुरेकत्वात् कालभेदाच्च अध्वर्युरैव कृतः प्रैष उभयत्रापि  
 तन्त्रेणोपकरोतीत्येवकाराभिप्रायः । प्रवरादीनां चोदकप्राप्तान्ना  
 मनुवादः । तेषां स्वरूपं प्रथमकाण्डे व्याख्यात मिति ॥ नेह  
 पठ्यते । प्रतिप्रस्थातुरपि कर्त्तव्यं प्रतिपादयति— “उत्तरस्यै वेदे-

\* पा० सू० ३. ४. ७६ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १३ क । ‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १४ ।

§ “ऽसिद्धं मेवाध्वर्युर्दक्षिणेन प्रपद्यते, ऽसिद्धम् प्रतिप्रस्थातोत्तरस्य”  
 —इति विशेषविधिश्च तै० सं० ६. ५. ३. ६ द्रष्टव्यम् ।

॥ ४३० २ ब्रा० ( १ भा० ३२७—३४४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।



रित्यादि । होता सौदत्यस्मिन्निति होतृषदनम् । उत्तरस्या वेद्याः  
सम्बन्धिनि 'होतृषदने' स्थाने ; न दक्षिणस्या इत्यर्थः । 'प्रसूति'  
अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ; प्रयाजान् कर्तुं युगादाने प्रेरयन्ति । "षु  
प्रसवेऽर्च्योः"—इति \* धातुः । 'प्रसूती' प्रेरितौ , अनुज्ञाता-  
वित्यर्थः । "सूच आदावेति । † अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारुभयोरपि  
प्रत्येकं जूहपशूतौ स्तः ‡, तदभिप्रायेण सूच इति बहुवचनम् ।  
"समिधो यज"—इति प्रथमप्रयाजसम्प्रैषः । द्वितीयादिषु "यज"  
—इत्येव सम्प्रैषः § । वीष्मा द्वितीयादिषु सर्वत्र सम्बन्धार्था ।  
"चतुर्थे-चतुर्थे"—इति वीष्मा द्वित्वापेक्षया । उभावपि 'चतुर्थे  
चतुर्थे प्रयाजे' अपि हुत मान्यं जुह्वं 'समानयमानौ' प्रतिनयन्तौ  
'नवभिः' नवसङ्ख्याकैः 'प्रयाजैः चरतः § ॥ ३० ॥

आज्यभागयोरपि प्रतिप्रस्थातृसाहित्यं विधातु माह— "अथा-  
ध्वर्युरिति ।। "उभावेवेति । उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ध्रौवस्य  
'आज्यस्य' सकाशात् 'चतुरवदाय' जुह्वां चतुर्गृहीत्वेत्यर्थः । "वषट्-  
कृते जुहुत इति । एकास्मिन्नेव वषट्कारे उभावपि स्वस्वाह-  
वनीये जुहुत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

"अथाध्वर्युरेवाह सोमावेत्यादि । एतेन द्वितीयाज्यभाग-  
स्यानुष्ठानप्रकारः प्रतिपादितः । सामिधेनिप्रैषादौ 'आश्राव्य'  
आश्रावणेन अध्वर्युरेवेति ॥ ३२ ॥

\* अदा० प्र० ३१ घा० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. १५ ।

‡ "यजयजेत्युत्तरौ"—इति का० श्रौ० सू० ३. ५. ७ । "उत्तरौ-  
दावशुयाजौ यजयजेत्येवं प्रैष्यति, प्रथम एव देवान् यजेति"—इति तत्र  
या० दे० । आप० श्रौ० सू० ३. ५. १ च द्रष्टव्यम् ।

§ "नवप्रयाजं नवानुयाजम्"—इति का० श्रौ० सू० ५. २. ७ ।



तत्र तत्र यत् प्रसङ्गत उक्तम्, तदिदानीं विधत्ते— “तद्य-  
दिति । ‘यत्’ किमपि आश्रावणादिकं ‘वाचा कर्त्तव्यं’ वागि-  
न्द्रियसाध्य मिति, ‘तत्’ ‘अध्वर्युरेव’ कुर्यात् । ‘प्रतिप्रस्थाता’  
तूष्णीं क्रियमाण मनुतिष्ठेत्, आश्रावणादिकं वाचा न प्रयुञ्जीत ।  
इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्य सूत्रित मापस्तम्बेन— “यत् किञ्च वाचा-  
कर्मीण अध्वर्युरेव तत् कुर्यात्”—इति \* । अस्य नियमस्य प्रयोजन  
माह— “तद्यदिति । ‘यत्र’ उत्तरस्यां वेद्यां ‘वषट् क्रियते’  
होत्रा वषट्कारः प्रयुज्यते, ‘इहैव’ अस्मिन्नेव स्थाने ‘अध्वर्युरेव  
आश्रावयति’ † ॥ ३३ ॥

“कृतानुकर एवेति । ‘प्रतिप्रस्थाता’ ‘कृतानुकरां’ कृतानु-  
कुर्वाणाम् ‘अनुवर्त्मानम्’ अनुगमनशीलां ‘करोति’ । विपक्षे बाध  
माह— “प्रत्युद्यामिनौ मिति । ‘यद्’ यदि हि अध्वर्युवत् प्रति-  
प्रस्थातापि पृथगाश्रावणं कुर्यात्, तदा ‘क्षत्राय’ वैश्यजातिं  
‘प्रत्युद्यामिनीं’ प्रत्युद्यमनशीलां ‘कुर्यात्’ । “तस्मादिति, उक्ता-  
र्थानुगमनम् ‡ ॥ ३४ ॥

“पाणाविवेति । एव मुभौ अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ आज्यभागाभ्यां  
प्रचर्य, ‘प्रतिप्रस्थाता’ हस्ते एव जुह्वपभृतौ धारयन् ‘उपास्ते’  
उपविशति, आ पयस्याप्रचरणकालात् । ‘अध्वर्युः’ तु ‘एतैः’

\* आप० श्रौ० सू० ८. ५. १७ । ‘वागिति वागिन्द्रिय मुच्यते, तज्जन्यो  
व्यापारो वाचाकर्म, तत्कार्त्तव्यं कर्म वाचाकर्मिणम्’—इति तद्वृत्तिः ।

† “प्रणीतापत्नीसन्नहनाग्निमन्थनाश्रुतप्रव्याश्रुतप्रेषयजमानवाचन-  
होत्वधनवरणप्राग्निनाङ्गुलिपर्वङ्गनावान्तरैर्वाभागापराश्राववष्टयान्न प्रतिप्र-  
स्थाता”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३३ ।

‡ “कृतानुकरोऽन्यत्र दक्षिणस्याम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ४. ३४ ।



आग्नेयादिभिः स्ववेद्या मासादितैः 'हविर्भिः' 'प्रचरति' । तानि हवींषि परिगणयति— "आग्नेयेनेत्यादिना ॥ ३५ ॥

"अथैताभ्या मित्यादि । एव मैन्द्रान्मपर्यन्तैः षड्भिर्हविर्भिरिष्ट्वा 'अथैताभ्यां' वारुणीमारुतीभ्यां 'पयस्याभ्यां' 'प्रचरिष्यन्तौ' यज्ञं तावद्ध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ मेषमेषौ 'विपरिहरतः' । तदेव विपरिहरणं दर्शयति— "स य इति । "सः उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेषौम्"—इत्यादिना \* विधानात् 'वारुण्यां मेषौ' स्यात्, 'मारुत्यां मेषः' । तत्र यो मारुत्यां मेषो भवति, तं तत आहृत्य वारुण्यां स्थापयेत्; या च मेषी वारुण्याम्, तां तत आहृत्य मारुत्यां स्थापयेत् † । तदेतद् विपरिहरणं मनूय स्तौति— "तद्यदेव मिति । मेषो हि पुंरूपत्वाद् वीर्यरूपः ; वरुणश्च चत्रियजातिः ; तस्मिन् चत्रियमेषस्य निधानात् 'वीर्यं मेव एतत् धत्तः' । 'अवीर्यां' वीर्यं सामर्थ्यम्, तद्रहिता खलु 'स्त्री' ; मरुतश्च वैश्यजातिः ; मारुते हविषि स्त्रीपशोर्मेषा निधानात् तां वैश्यजातिम् अवीर्यां वीर्यरहिता मेव कुरुतः ॥ ३६ ॥

विपरिहरणानन्तरं वारुण्या पयस्यायाः प्रचरणं विधत्ते— "अथाध्वर्युरिति । "वरुणायानुब्रूहीति । होतारं प्रत्यनुवाक्यार्थं सम्येष मुक्त्वा, जुह्वा मुपस्तीर्य, 'अस्यै वारुण्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । वारुण्या पयस्यायाः 'हिरवद्यति' । 'सः' अवद्यन्नध्वर्युः 'अन्यतरेण' पूर्वेण उत्तरेण वा 'अवदानेन' 'सह' कर्त्तुं 'मेषं' स्तुचि 'अवदधाति', पुनरभिघार्य अवत्तप्रदेशे हविःप्रत्यञ्जनं कुर्यात् । स ततोऽतिक्रमणादीनि प्रकृतिवत् कुर्यादित्यर्थः ‡ ॥ ३७ ॥

\* पुरस्तात् २७६ए० १३पं० द्रष्टव्यम् । † का० श्रौ० सू० ५. ५. १७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. १८ ।



प्रतिप्रस्थातुर्माकृत्या पयस्यायाः प्रचरणे विशेष माह— “सव्ये पाणाविति । स्वकीये ‘सुचौ’ जुहपश्वतौ अध्वर्युः आत्मीये ‘सव्ये पाणौ’ कृत्वा , ‘दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुः’ ‘वासोऽन्वारभ्य’, “मरुद्भ्योऽनुब्रूहि”—इति होतारं प्रतिप्रेष्य, उपस्तरणादिकं प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् ।

स प्रतिप्रस्थाता पूर्वोक्तोत्तरेण वावदानेन सह कृतस्त्रं मेघं सुचि अवदध्यात् । ततो मेघीं वारुण्या प्रत्यञ्जनेनेति । ततः प्रतिप्रस्थाता वेदी मतिक्रामति । अनन्तर अध्वर्युरेव तदीयं वासोऽन्वारभ्य मरुतो यजेति ब्रूयात् । होतुर्याज्यान्ते वषट्कृते सति केवलं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणे आहवनीये हविर्जुहोति , त मनु किञ्चिद् वाचाप्याहरेत् । एतत् सर्वं सङ्गृह्य कात्यायनेन सूत्रितम्— “पयस्याप्रचरणकाले मेघौ व्यतिहरतोऽन्यतरैणावदानेन सह मेघं सव्येन सुचौ गृहीत्वा प्रतिप्रस्थातुर्वासो दक्षिणेन मरुद्भ्योऽनुवाचयति वारुणीवदवदानम्”—इति \* ॥ ३८ ॥

कायेन हविषा प्रचरणं विधत्ते— “अथेति । प्रधानयागानन्तर मनुष्ठेयं स्विष्टकृदादिप्रयोगजातं सर्वं मनुक्रामति— “अध्वर्युरेवाहान्नये स्विष्टकृत इत्यादिना † । “अनुब्रूहि”—इति स्विष्टकृदं यागस्य पुरोऽनुवाक्याप्रैषः । अनुष्ठितं प्रधानयागं न्यूनातिरेकदोषपरिहारेण स्विष्टं शोभनं यज्ञं करोतीति स्विष्टकृत् ।

“सर्वेषां मेवेति । आग्नेयादि-कायान्तानाम् ‡ । “सकृदिति । प्रधानयागस्य । द्विरवदानप्रसक्तिं वारयति— “एतस्या एवेति । ‘एतस्याः’ माकृत्याः पयस्यायाः ‘एव’ हविषः सकाशात् स्विष्टकृदर्थं

\* का० श्रौ० सू० ५. ५. १७—२० ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २१ ।

‡ ३५—३६—कण्डिकासु द्रष्टव्यम् ।



‘सक्तत्’ एव अवद्येत् , नान्यस्मादित्येवकारार्थः । चतुरवदानसम्प-  
न्नये अभिधारणस्य द्वित्वं विधत्ते— “अथोपरिष्ठादिति । ‘द्विः’  
क्रियाभ्यावृत्तिगणनेऽर्थे , “द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्”—इति \* द्वि-  
शब्दात् सुच् ॥ ३८ ॥

“अथाध्वर्युरेव प्राशित्र मिति । प्रतिप्रस्थातुः प्राशित्रावदानं  
नास्तीत्येवकारार्थः । तस्य पयस्यारूपहविषः सान्नाय्यविकृतित्वात्  
प्रकृतौ सान्नाय्यात् प्राशित्रावदानस्यादर्शनादित्यभिप्रायः । “इङां  
समवदायेति । सर्वेभ्यो हविर्भ्यः सम्भूय एकस्मिन्निडापात्रे अवद्या-  
दित्यर्थः । “अति प्रजिहीत इति । उत्तरां वेदि मतिक्रमय्य तदिङ्गा-  
पात्रं प्रगमयेदित्यर्थः † । “ओ हाङ् गतौ”—इत्यस्मात् ‡ अन्त-  
र्णीतिष्यर्थास्त्रिष्टि रूपम् , “भृजा मित्”—इति § अभ्यासस्येत्त्वम् ।  
“मारुत्यै पयस्याया इति , षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । “द्विरःज्यस्याभि-  
धारयतीति । अध्वर्युरेव , न प्रतिप्रस्थाता ॥ ४० ॥

“अथाध्वर्युरेवाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामीति । इडोपह्वानादिकं  
प्रकृतिवदेव कृत्वा , अनुयाजार्थं मभ्यनुज्ञापकं मिमं प्रैषं अध्वर्युरेव  
ब्रूयात् । “यत् किञ्च वाचा कर्त्तव्यं मध्वर्युरेव तत् करोति”—  
इति प्राक् प्रतिपादितस्यायं प्रपञ्चः ॥ , प्रैषार्थः प्रकृतिवर्णितः ।  
“स सुचोरेवेत्यादि । ‘सः’ अध्वर्युः ‘सुचोः’ जुह्वपभृतोः ‘एव’  
‘पृषदान्यं’ दधिमिष्य मान्यं ‘व्यानयते’ विविधं मासिञ्चति । पृष-  
दान्यधानीगतं पृषदान्यं जुह्वा मर्द्धं मासिच , शिष्टं मान्यं सुपभृति

\* पा० सू० ५. ४. १८ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ५. २२ ।

‡ जु० प० ७ घा० ।

§ पा० सू० ७. ४. ७६ ।

॥ पुरस्तात् २८१ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् ।



आनयेदित्यर्थः । प्रतिप्रस्थातुः पक्षद्वय माह— “अथ यदीति \* ।  
आज्यग्रहणकाले यदि प्रतिप्रस्थाता पृषदाज्यं गृह्णीयात्, तत्  
पृषदाज्यम्, इदानीं स प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युवत् जुहपभृतोः द्विधा  
व्यासिञ्चेत् । “उतो इति, पक्षान्तरद्योतने । यदि तु तत्र ग्रहण-  
समये पृषदाज्यं न गृह्णीतं भवति, तदा स प्रतिप्रस्थाता उपभृतिं  
स्थितं यदेवाज्यं विद्यते, तस्यैवपभृतस्याज्यस्य अहं प्रथमं जुह्वा  
मासिच्य, शिष्ट माज्यं चतुर्थे प्रयाजे आसिञ्चेदित्यर्थः ।

आसेवनानन्तरं कर्त्तव्य मतिक्रमणादिकं सुपदिशति— “ता  
उभावेवेत्यादिना । ‘देवान् यज’-इति प्रथमोऽनुयाजप्रेषः । ‘यज यज’  
-इत्यादि सर्वत्र । “नित्यवीषयोः”-इति † यजीत्यस्य द्विर्वचनम् ।  
जीहवेन पृषदाज्येन त्रिरिद्धा, ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ अनुयाजे औपभृतम् ।  
‘समानयमानौ’ उभावपि अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘नवभिः अनुयाजैः’  
‘चरतः’ प्रचरत इत्यर्थः । उभयापेक्षया ‘चतुर्थे-चतुर्थे’ इति वीष्मा ।  
प्रयाजानुयाजानां तद्वज्जाकत्वं सम्भूय प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
“प्रयाजानुयाजौ यज्जाङ्गे”-इति ‡ निपातनात् कुत्वाभावः ।  
नव प्रयाजा अनुयाजाश्च यस्मिन् इत्युभयत्र बहुव्रीहिः, शिष्ट  
मुक्तार्थम् ॥ ४१ ॥

अनुयाजानन्तरभावि सुगन्धूहनादिकं मपि चोदकप्राप्तं सुभा-  
भ्यां कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— “ता उभावेवेत्यादिना § । “परिधि  
मभिपद्येति । मध्यमं परिधि मन्वारभ्येत्यर्थः । उक्तं हि कात्या-

\* “प्रतिप्रस्थाता च, न वा (गृह्णाति)”-इति का० श्रौ० ५. ४. ३१, ३२ ।

† पा० सू० ८. १. ४ ।

‡ पा० सू० ७. ३. ६२ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ५. २४ ।



यनेन—“प्रथमं परिधिं गृहीत्वात्राव्याहेषिता दैव्या”—इति \* ।  
 “इषिता दैव्या”—इति सूक्तवाक्यैषः प्रकृतावेव व्याख्यातः † ।  
 “समुल्लुम्पत इति । “लुपृ क्तेदने” ‡ । समुच्छिनत्तः, समुद्गृहीत  
 इति यावत् । “उभावनुप्रहरत इति । सूक्तवाक्तेऽनूच्यमाने ‘उभौ’  
 अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ ‘अनुप्रहरतः’ स्वं स्वं प्रस्तर मग्नीं प्रक्षिपत  
 इत्यर्थः । “यदा होतेति । ‘यदा’ खलु होता सूक्तवाकं परिसमापयति  
 (४२), ‘अथ’ अनन्तरम् ‘आग्नीत्’ आग्नीध्रः ‘अनु प्रहर’—‘इति’  
 अध्वर्युं प्रति ‘आह’ । “उभावेवेति । यद्यप्यनुप्रहरेत्येकवचने-  
 नाध्वर्युरेव प्रेर्यते, तथापि कृतानुकरत्वात् § प्रतिप्रस्थातुरपि  
 ढणानुप्रहरणं विद्यत इत्यर्थः । “आत्माना उपसृशेते इति ।  
 “चक्षुष्या”—इति ॥ मन्त्रेण । तथा च सूत्रितम्—“चक्षुष्या इत्या-  
 त्मान मालभते”—इति ¶ ॥ ४२ , ४३ ॥

संवदस्वागानग्नीदित्यादीना मुक्तिप्रत्युक्तिरूपं यदस्ति, तद-  
 प्याग्नीध्रस्य अध्वर्युणोक्तेनैवेत्यभिप्रेत्याह—“अथाहेति । ‘अथ’  
 अनन्तरं “संवदस्व”—‘इत्याह’ आग्नीध्रः । तच्च संवदन मुक्ति-  
 प्रत्युक्तिरूप मनुक्रामति—“अगानिति । ते च मन्त्राः प्रकृतौ  
 व्याख्याताः \*\* । तेषु च विभागः सूत्रकृता दर्शितः—“एतेषां

\* का० श्रौ० सू० ३. ६. १ ।

† १. ८. ३. १०—१ भा० ५६०, ५७१ पृ० ।

‡ तु० उ० १५१ धा० ।

§ इतः पूर्वं मेवोक्तम्, टीकितञ्च तत् द्रष्टव्यम् ( ३०५ पृ० ) ।

॥ वा० सं० २. १६. १० ।

¶ का० श्रौ० सू० ३. ६. १५ ।

\*\* १. ८. ३. २—१ भा० ५६३, ५७४ पृ० ।



संवदस्वागाच्छ्रौषडित्यग्नीच्छेष मितरो व्यत्यासं ब्रूतः”-इति \* ।  
 “स्वगा दैव्या”-इति शंयुवाकप्रेष मध्वर्युरेव ब्रूयात् । परिधि-  
 प्रहरणादिकं तूभाभ्या मेवानुष्ठेयम् । “उभौ सुच इत्यादि । ‘सम्प्र-  
 गृह्य’ सम्यग् गृहीत्वा विमोचनार्थं ‘स्फोट सादयतः’ ॥ ४४ ॥

“अथाध्वर्युरेवेति । “प्रतिपरेत्येति । आहवनीयदेशात् प्रति-  
 निवृत्य, गार्हपत्यसमीपं गत्वेत्यर्थः । “उपास्त इति । पत्नी-  
 संयाजसमये तूष्णीं सुपविशेत् प्रतिप्रस्थाता । न तु तस्य तदानीं  
 कृतानुकरत्वं मपेक्षितं मित्यर्थः । “पत्नीः संयाज्योदैत्यध्वर्युरिति ।  
 पत्नीसंयाजानन्तरं माहवनीयदेशं गत्वेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

“त्रीणि समिष्टयजूंषीति । तानि च पूर्वस्मिन् वैश्वदेव-  
 ब्राह्मणे व्याख्यातानि † । “तूष्णीं मेवेति । प्रतिप्रस्थातुः समिष्ट-  
 यजुर्होमसमये आत्मीयं सूचं तूष्णीं मेव दक्षिणाग्नीं प्रगृह्णीयात् ।  
 सुगाप्तं माज्यं धारयेत्, तन्मन्त्रः स्वाहाकारी वा न विद्यते  
 इत्यर्थः ‡ । “तद् ये वैश्वदेवेनेत्यादि । वैश्वदेवयाजमाने समाप्ते  
 ‘यजमानयोः’ यजमानपत्नयोर्देवे ‘वाससी’, ते परिहिते भवतः ।

वरुणप्रघासाङ्गत्वेनावभृथगमनं विधत्ते—“अथास्या इत्यादि ।  
 या वरुणदेवताका पयस्या तस्याः । ‘क्षामकर्षमिश्रम्’ क्षामोऽति-  
 पाकेन दग्धः पात्रे संसक्तः, “क्षप विलेखने” क्षप्यते इति कर्षः ।  
 क्षामश्चासौ कर्षश्चेति क्षामकर्षः, तेन मिश्रं हविः ‘आदाय’,  
 ‘अवभृथम्’ उदकं प्रति ‘यन्ति’ ऋत्विग्यजमानाः, उदकसमीपं  
 गच्छेयुरित्यर्थः । गमनस्य प्रयोजनं माह—“वरुणं वेति ।

\* का० श्रौ० सू० ३. ६. १६ ।

† पुरस्तात् २७१८० ४५० द्रष्टव्यानि ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ५. २८ ।



‘एतत्’ चामकर्षमिश्रं हविः ‘वरुणम्’ वरुणसम्बन्धि, पापदेवतया सम्बद्धमित्यर्थः ; “यो विदग्धः स नैर्ऋतः”—इति श्रुतिः \* । यद्वा पयस्याया वरुणदेवताकत्वात् तद्यागशिष्टं सर्वं मपि वरुणम् । अतः ‘निर्वरुणतायै’ वरुणसम्बन्धराहित्याय अवश्यगमनं युक्तमित्यर्थः ।

सौमिकावश्यवत् प्रसक्तं सामगानं निषेधति— “तत्र न सामेति । अवश्यगमनसमये हि “अग्निष्टपति”—इति साम † प्रस्तोत्रा गेयम् ‡, ‘तत्र’ तस्मिन् वरुणप्रघासाङ्गावश्यगमने तत्र गातव्यम् । तदुपपादयति— “न हीति । सोमयागे हि स्तोत्रादिरूपेण साम्नां प्रयोगात्, तदङ्गावश्यगमनेऽपि सामगानं मयुक्तम् । ‘न’ खलु ‘अत्र’ वरुणप्रघासे ‘साम्ना’ ‘किम्’ अपि प्रयोजनं ‘क्रियते’, अतोऽप्रयुज्यमानस्य साम्नोऽवश्येऽप्यप्रयोग एव युक्त इत्यर्थः । अतः ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकम् ‘एव’ अवश्यसमीपम् ‘अभ्यवेत्य’ “अवश्य निचुम्पुण”—इति मन्त्रेण § चामकर्षमिश्रं हविः ‘उपमारयति’ अप्सु प्रक्षिपति । सूत्रितच्चेह— “वारुणीनिष्काषेणावश्यं तूष्णीं मेत्याभ्यवेत्य मज्जयत्यवश्येति”—इति ॥ ॥ ४६ ॥

\* तै० सं० २. ६. ३. ४ ।

† “स गायति, अग्निष्टपति प्रतिदहत्यहोऽहो इति”—इत्याम्नास्यति चेहोपरिष्ठात् ( ४ का० ४ अ० ५ ब्रा० ८ क० ) ।

‡ षड्विंश-ब्राह्मणस्य तृतीयप्रपाठके प्रथमखण्डे एतद्विवरणं स्फुटम् । तस्यामखरूपानु योनिगाने १२. १. ४० द्रष्टव्यम् । आर्षेयनामब्राह्मणे त्वेतदवश्यसामेत्वेवान्नातम् । एतदङ्गमूलकं मेवाग्निष्टोमसाम मूह्ये ६. २. ४ अतम् ।

§ मन्त्र एष वा० सं० ३. ४८ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ५. २६, ३० ।



“अवभृथेति । मन्त्रस्याय मर्थः— सोमलिप्तानि पात्राणि  
 अवाचीनान्यस्मिन् क्रियन्त इत्यवभृथः । अवपूर्वात् भृजः औणादिकः  
 थक् प्रत्ययः । हे ‘अवभृथ !’ ‘निचुम्पुण’ नितरां पुण्यहेतुर्मव ।  
 “पुण कर्मणि शुभे ०”—इत्यस्मात्सोऽति व्यत्ययेन द्विवचन मभ्यासस्य  
 पुगागमश्चकारादेशश्च । यद्वा, “चुप मन्दायां गतौ ५”—इत्यस्मा-  
 त्सोऽति वर्णव्यत्यये रूपं ज्ञेयम् । नीचीनं गच्छेत्यर्थः । यतश्च  
 ‘निचेरुः’ नितरां चरणशीलः ‘असि’, अतो ‘निचुम्पुण’ नीचीनं  
 गच्छ । ‘देवैः’ इन्द्रियैः, तदधिष्ठातृदेवैः ‘देवकृतम् एनः’ देव-  
 विषयं यदेनः कृत मस्ति, अहं तत् ‘अवायासिषम्’ अवाचीनं प्राप-  
 यामि, अस्मि प्रक्षिपामीत्यर्थः । “या प्रापणे ५”—इत्यस्मात्सुडि  
 “यमरमनमाताम्”—इति सगिटौ § । तथा “मर्त्तैः” मनुष्यैः  
 ऋत्विग्भिः ‘मर्त्यकृतं’ मनुष्यविषये यत् कृत मेनः, तदपि  
 ‘अवायासिषम्’ । हे ‘देव’ स्वामिन् ! अवभृथ ! ‘पुरुरावणः’ पुरु-  
 रावणशीलान् बहुविधाक्रोशकारणान् । रौतेरौणादिको ऽसि-  
 प्रत्ययः । । यद्वा, “रा दाने ५”—इत्यस्मात् “आतो मनिन्कनिक्-  
 वनिपञ्च”—इति ० कनिप् । पुरु बहुलं संसारदुःखं राति ददा-  
 तीति पुरुरावा, तस्मात् इन्द्रियहिंसकात् वरुणपाशग्रहणलक्ष-  
 णात् पापात् अस्मान् पाहीति । एव मनेन मन्त्रेण क्षामकर्षमिश्रं  
 हविःशेषं जायापती जुहुतः । तदुक्तं सूत्रकारेण— “जायापती  
 स्नातोऽमज्जन्तावन्योन्यस्य पृष्ठे धावतः”—इति ५५ । पूर्वयोर्वाससो-

\* तु० प० ५३ धा० ।

† स्वा० प० ४०३ धा० ।

‡ अदा० प० ३६ धा० ।

§ पा० सू० ७. २. ७३ ।

॥ उ० ४ पा० २४२ सू० ।

॥ अदा० प० ४७ धा० ।

\*\* पा० सू० ३. ४. ७४ ।

†† का० औ० सू० ५. ५. ३१, ३२ ।



दानं विधत्ते— “काम मिति \* । स्नानानन्तरं मन्थे वाससी परि-  
धाय † । पूर्वपरिधानं निषिद्धम् ; “न दीक्षितवसनं परिदधीत”  
—इति श्रुतेः ‡ । एतद्दानं प्रशंसति— “स यथेति । ‘यथा’  
खलु ‘अहिस्त्वचो निर्मुच्येत’, ‘एवम्’ पूर्वपरिहितवाससं सर्वस्मात्  
पापादेव यजमानो निर्मुच्यते ॥ ४७ ॥

अवस्थानान्तरं केशश्मश्रुवपनं विधत्ते— “अथेति । केशश्म  
श्मश्रूणि च ‘केशश्मश्रू’, प्राण्यङ्गत्वादेकवङ्गावः । ‘उम्ना’ वापयित्वे-  
त्यर्थः । समारोहणपुरस्सरं गृहे प्रत्यागमनं विधत्ते— “समारो-  
ह्येति § । ‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयौ । “एतेन यजत इति ।  
वरुणप्रघासाख्येन यागेनेत्यर्थः । “न हि तदिति । वरुणप्रघास-  
निमित्ताया सुत्तरवेद्यां ‘यत्’ अग्निहोत्रहवनम्, न तद् युज्यत  
इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् कारणात् वरुणप्रघासस्थानादुदव-  
सानं ॥ कर्त्तव्य मिति निगमयति— “तस्मादिति । समारोपणा-  
नन्तरं तस्मात् स्थानात् निष्क्रम्य ‘गृहान्’ ‘इत्वा’ गत्वा, ‘निर्मथ्य’,  
तत्र ‘पौर्णमासेन’ यागेन ‘यजेत’ । एतत्प्रतिष्ठाहेतुना स्त्रीति—  
“उत्सन्नयज्ञ इत्यादिना । दर्शपूर्णमासवच्चातुर्मास्याना मनुष्ठान  
बाहुल्याभावात् उत्सन्नयज्ञत्वम् । अतस्तेषा मप्रतिष्ठाहेतु-  
त्वेन ¶ तदनुष्ठाने यजमानस्यापि अप्रतिष्ठा सम्भाव्येत ; अतः

\* “पूर्वे दद्यादधिकृतभ्यो यस्मा इच्छेत्”—इतीह का० औ० ५. ५. ३४ ।

† ‘परिधापयेत्’—इति च ।

‡ का० औ० सू० ५. ५. ३३ अपि ।

§ का० औ० सू० ५. ५. ३५, ३६ ।

॥ इतोऽनन्तरं [ निष्क्रमणं ]—इति च ।

¶ ‘मप्रतिष्ठत्वेन’—इति च ।



तस्य प्रतिष्ठायै स्वयं प्रतिष्ठितः पौर्णमासयागः सम्पद्यत इत्यर्थः । “तस्मादुदवस्यतीति , वरुणप्रघासदेशान्निष्क्रमणविधेर्निगमनम् \* ॥ ४८ ॥ ३ [ ५. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः । प्रजा वरुणपाशात् प्रा-  
मुञ्चता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्ता-  
यैतैः साकमेधैरेतैर्वै देवा वृत्र मघ्नन्नेतैर्वै वृत्रं व्यजयन्त  
येय मेषां विजितिस्तां तथोऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं  
भाह्व्यं हन्ति तथोऽएव विजयते तस्माद्वाऽएष एतै-  
श्चतुर्थे मासि यजते स वै द्वाह मनूचीनाहं यजते ॥ १ ॥

स पूर्व्वेद्युः । अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरो-  
डाशं निर्वपत्यग्निं ह वै देवा अनीकं कृत्वोपमेयुर्वृत्रं

\* ‘धेनुर्दक्षिणा, अश्वो वा ; षट् , द्वादश वा’—इति का० श्रौ० सू० ३७—  
४० । आप० श्रौ० सू० ८ अध्या० ५—८ का० १२६ सूत्राणि चेह द्रव्यानि ।

† ‘तैर्वै वृ’—इत्यपि डा०-वेबर-दृष्टः ।



हनिष्यन्तः स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तथो ऽएवैष एतत्  
पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्नाग्निं सेवानीकं  
कृत्वोपग्रेति स तेजोऽग्निर्न व्यथते तस्मादग्नये-  
ऽनीकवते ॥ २ ॥

अथ मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः । मध्यन्दिने चरुं  
निवपति मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने वृत्रं  
सुन्तेपुः स सुन्तप्तोऽनन्नेव प्राणान् \* परिदीर्णः शिष्ये  
तथोऽएवैतस्य पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सान्त-  
पनाः सुन्तपन्ति तस्मान्मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः † ॥ ३ ॥

अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः । शाखया वत्मान-  
पाकृत्य पवित्रवति सन्दोह्य तं चरुं अपयति चरु-  
ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानावपन्ति तन्मेधो देवा  
दधिरे प्रातर्वृत्रं हनिष्यन्तस्तथोऽएवैष एतत्पाप्मा-  
नं दिषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्मेधो धत्ते तद्यत्क्षीरौ-  
दनो भवति मेधो वै पयो मेधस्तण्डुलास्तु सुभयं मेध-  
मात्मन्धत्ते तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥ ४ ॥

\* 'प्राणान्'—इति क ।

† 'ने'—इति ग, घ ।



तुल्यावृत् \* । सैव स्त्रीणां वेदिर्भवति या मरुद्भ्यः  
सान्तपुनेभ्यस्तस्यामेव स्त्रीणांयां वेदौ परिधींश्च शुक-  
लांश्चोपनिदधति तथा सन्दोह्य चरुं प्रपयति प्रपयि-  
त्वाभिघार्योद्वासयति ॥ ५ ॥

अथ द्वे पिशीले वा पात्रौ वा निर्णेनिजति ।  
तयोरेनं द्वेधोद्वरन्ति तयोर्मध्ये सर्पिरासिचने कृत्वा  
सर्पिरासिञ्चति । खुवं च खुचं च सम्मार्ष्ट्यैता-  
ऽओदनावादायोदैति खुवं च खुचं चादायोदैति सु-  
इमा मेव स्त्रीणां वेदि मभिमृश्य परिधीन्परिधाय  
यावतः शुकलान् कामयते तावतोऽभ्यादधात्यैता-  
ऽओदनावासादयति खुवं च खुचं चासादयत्युपवि-  
शति होता होतृपदने खुवं च खुचं चाददान  
आह ॥ ६ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभागं सदक्षिण-  
स्यौदनुष्य सर्पिरासिचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रा-  
मत्यतिक्रम्याश्राव्याहाग्निं यजेति व्युषट्कृते जु-  
होति ॥ ७ ॥



अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभागः  
स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदाया-  
तिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह सोमं यजेति व्यष्टकृते  
जुहोति ॥ ८ ॥

अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति । स  
दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तुत आज्यमुपस्तृणीते  
तस्य द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्राम-  
त्यतिक्रम्याश्राव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति व्यष्ट-  
कृते जुहोति ॥ ९ ॥

अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उत्तरस्यौ-  
दनस्य सर्पिरासेचनात्तुत आज्यमुपस्तृणीते तस्य  
द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्यस्याभिघारयत्यतिक्रामत्यति-  
क्रम्याश्राव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति व्यष्टकृते  
जुहोत्यथेडा मेवावद्यति न प्राशित्रमुपहूय मार्जयन्त  
ऽएतन्वेकमयनम् ॥ १० ॥

अथेदं द्वितीयम् \* । सैव स्त्रीणां वेदिर्भवति या  
मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यस्तस्या मेव स्त्रीणां वां वेदौ परि



धौश्च शकलांश्चोपनिदधति तथा सन्दोह्य चरुं अप-  
यति नेदेव \* प्रतिवेश माज्य मधिश्चयति अपयित्वा-  
भिघार्योद्वाहयानक्ति स्थाल्या माज्य मुद्दासयति स्तुवं च  
स्तुचं च सम्मार्ष्ट्यैतत् सोख † मेव चरु मादायोदैति  
स्थाल्या माज्य मदायोदैति स्तुवं च स्तुचं चादायो-  
दैति स इमा मेव स्तौर्णां व्वेदि मभिमृश्य परिधौन्परि-  
धाय यावतः शकलान् कामयते ‡ तावतोभ्या § दधा-  
त्यैतत् सोख ॥ मेव चरु मासादयति स्थाल्या माज्य  
मासादयति स्तुवं च स्तुचं चासादयत्युपविशति होता  
होतृषदने स्तुवं च स्तुचं चाददान आह ॥ ११ ॥

अग्नयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय माज्यभागं सु  
स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्रम्याश्वा-  
व्याहाग्निं यजेति व्यषट्कृते जुहोति ॥ १२ ॥

\* 'तदेव'—इति क, ड ।

† 'सोष'—इत्यपि डा०-वेबर-दृष्टः ।

‡ 'वामयते'—इति च दृष्टो डा०-वेबरेण ।

§ 'न्या'—इति च डा०-वेबर-दृष्टः ।

॥ अत्रापि 'सोष'—इत्येव पाठो दृष्टः कस्मिंश्चित् पुस्तके डा०-वेबरेण ।



अथाह सोमायानुब्रूहीति । सौम्य माज्यभागः  
सु स्यात्पुः ॥ एव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामत्यतिक्र-  
म्याश्चाव्याह सोमं यजेति वृषट्कृते जुहोति ॥ १३ ॥

अथाह मरुद्गो गृहमेधिनोऽनुब्रूहीति । स उप-  
सृणीत ऽत्राज्य मथास्य चरोर्द्विरवद्यत्यथोपरिष्ठादाज्य-  
स्याभिधारयति प्रत्यनक्तावदाने ऽत्रतिक्रामत्यतिक्रम्या-  
श्चाव्याह मरुतो गृहमेधिनो यजेति वृषट्कृते  
जुहोति ॥ १४ ॥

अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति । स उप-  
सृणीत ऽत्राज्य मथास्य चरोः सकृदवद्यत्यथोपरिष्ठाद्  
द्विराज्यस्याभिधारयति न प्रत्यनक्तावदान मतिक्राम-  
त्यतिक्रम्याश्चाव्याहाग्निं स्विष्टकृतं यजेति वृषट्-  
कृते जुहोति ॥ १५ ॥

अथेडा मेवावदति न प्राशिन्नम् । उपह्वय  
प्राश्नन्ति यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः सुस्ता-  
वन्तः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यृत्विजः प्राश्नीयुरथो ऽअप्यन्ये  
ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदनः स्यादथेता मनिर-  
शितां कुम्भी सपिधाय निदधति पूर्णदर्व्याय मातृ-  
भिर्व्वत्सान्त्समवार्ज्जन्ति तदु पशवो मेध मात्मन्दधते



यथाग्वेताऽरात्रि मग्निहोत्रं जुहोति निवान्यां प्रातु-  
र्दहन्ति पितृयज्ञाय \* ॥ १६ ॥

अथ प्रातुर्हुते वाहुते वा । यतरथा कामयेत  
सोऽस्या ऽन्ननिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्योपहन्ति पूर्णां दर्व्वि  
परापत सुपूर्णा पुनरापत । वृक्षेव वृक्षीणावहा  
ऽद्भुष सूर्जऽशतक्रतविति यथा पुरोऽनुवाक्यैव मेपैत-  
यैवैन मेतस्त्रै भागाय ह्वयति ॥ १७ ॥

अथऽर्षम माह्वयितवै ब्रूयात् । स यदि रुयात्सु  
व्यषट्कार इत्यु हैक ऽआहुस्तस्मिन्वषट्कारे जुहु-  
यादित्यथो ऽद्भुद्रु मेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य  
बधायैतद्वा † ऽद्भुद्रस्य रूपं यदृषभस्तस्वेनैवैन मेतद्रू-  
पेण ह्वयति वृत्रस्य बधाय ‡ स यदि रुयादा स  
ऽद्भुद्रो यज्ञ मगन्त्सेन्द्रो मे यज्ञ इति ह व्विगाद्यद्यु  
न रुयाद्वाह्मण एव दक्षिणत आसौनो ब्रूयाज्जुहु-  
धौति सैवैन्द्रौ वाक् § ॥ १८ ॥

स जुहोति । देहि मे ददामि ते नि मे धेहि

\* 'ज्ञाय'—इति ग, घ ।

† 'बधायैतद्वा'—इति क, ङ ।

‡ 'बधाय'—इति क, ङ ।

§ 'वाक्'—इति ग, घ ।



नि ते दधे । निहारं च हुरासि मे निहारं निह-  
राणि ते स्वाहेति \* ॥ १६ ॥

अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः । सप्तकपालं पुरो-  
डाशं निर्व्वपति मरुतो ह वै क्रीडिनो व्यृत्रं हनि-  
ष्यन्त सिन्द्र मागतं तु मभितः परिचिक्रीडुर्महयन्त-  
स्तथो ऽएवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्त  
मभितः परिक्रीडन्ते महयन्तस्तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडि-  
भ्यो ऽयातो महाहविष एव तद्यथा महाहविष-  
स्तथो तस्य ॥ २० ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [पृ. ३.] ॥

अथ साकमेधाख्यस्य विधिक्षितस्य तृतीयस्य पर्वणः † पाप-  
रूपशत्रुजयहेतुत्वं वक्तुं वृत्तान्तं सङ्कीर्तयति— “वरुणप्रघासे-  
रिति । ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः अकिल्बिषाः, तन्निदानभूत-  
पापपरिहीनाः । “अथैतैरिति । वरुणप्रघासानन्तरं मनुष्यैः  
‘एतैः साकमेधैः’ प्रजापतिः ता एव प्रजा विजितपापा अक-  
रोत् । एतेषां विजयहेतुत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयति—  
“एतैर्वा इति । ‘वृत्रम्’ आवरणशीलम्, एतन्नामानं मसुर मित्यर्थः ।

\* ‘स्वाहेति’—इति ग, घ ।

† “कार्त्तिक्यां साकमेधा ब्राह्मम्”—इत्यादिस्मृत्यन्यो द्रष्टव्यः, (५, ६, १) ॥



“येय मेषा मिति । ‘एषां’ देवानां वृत्रहनन-कर्मणा ‘येयं’  
‘विजितिः’ विजयो विद्यते, व्यजयन्तेति सम्बन्धः । अथाप्येषां  
तत्फलसाधनत्वं माह — “तथो एवैष इति । ‘द्विषन्तं’ द्वेषण-  
शीलं मनर्थकारणं पापरूपं ‘भ्रातृव्यं’ शत्रु मिति सामा-  
नाधिकरणत्वेन सम्बन्धः । “तथो एव विजयत इति । तथा  
हतः पापशत्रुः, तत्सजातीयस्यापि निवृत्त्या सर्वत्र साकमेध-  
याजिनो विजय एव, न कुत्रचित् प्रतिवृत्तिरित्यर्थः ।

उक्तं मर्थं हेतुतया इदानीं विधत्ते — “तस्मादिति । यस्मात्  
उक्तफलहेतवः साकमेधाः, ‘तस्मात्’ ‘एषः’ वरुणप्रघासैरिष्टवान् ।  
पुनः ‘चतुर्थे मासि’ ‘एतैः’ साकमेधैर्यजत । अनीकवत्यादीनां साक-  
मेधगतानां मिष्टीनां बहुत्वादेतैरिति बहुवचनम् । अहर्द्वयसाध्यत्वं  
विधत्ते — “स वा इति । द्वयोरङ्गोः समाहारो द्वयः । “तद्वि-  
तार्थः” — इति \* समासः । “सञ्ज्ञादेः समाहारे” — इति †  
अङ्गादेशस्य प्रतिषेधः । “अनूचीनाह मिति । अनु सम्यगञ्च-  
तीयन्त्वक्, अन्वगेवानुचीनम् ; “विभाषाञ्चैरदिकस्त्रियाम्” —  
इति ‡ स्वार्थिकः खच् प्रत्ययः । अनूचीनं नैरन्तर्येण वर्त्त-  
मानं महः अनूचीनाहम् । “राजाहःसखिभ्यः” — इति § टच्-  
समासान्तः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु तिस्र इष्टयोऽनुष्ठेयाः,  
तत्र प्रथमं विधाय स्तौति — “स पूर्वेष्वुरित्यादिना ॥ । “सयः-

\* पा० सू० २. १. ५१ ।

† पा० सू० ५. ४. ८६ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ८ ।

§ पा० सू० ५. ४. ६१ ।

॥ का० औ० सू० ५. ६. २ ।



परुत्”—इत्यादिसूत्रेण \* पूर्वदिनशब्दस्य पूर्वैश्वर्यरिति निपातः । साकमेघेषु प्रधानभूता महाहविराख्या इष्टिर्यस्मिन् दिवसेऽनुष्ठीयते, ततः पूर्वदिवसे चतुर्दश्यां प्रातरनीकवद्गुणविशिष्टायामनयेऽष्टकपालेषु संस्कृतं पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः । “अनौकं कृत्वेति । प्रसुखं कृत्वेत्यर्थः । “स तेज इति । स च तेजोरूपोऽग्निः वृत्रकृतात् उपद्रवात् न ‘अव्ययत’ व्यथां न प्राप्तवान् । दृष्टान्तिकेन योज्यते— “तथो एवैष इति । उक्तहेतोरनीकवद्गुणवैशिष्ट्यं पुरोडाश-देवतायां अनेर्युक्तमित्याह— “तस्मादिति ॥ २ ॥

मध्यन्दिनेऽनुष्ठेया मिष्टिं विधाय प्रशंसति— “अथेति । देवता-विशेषणं सुपपादयति— “मरुतो ह वा इति † । ‘मरुतो’ हि सन्तपनकारिणः ‘सान्तपनाः’ । तथाविधाः मरुतो मध्यन्दिनसमये ‘वृत्रम्’ असुरं ‘सन्तेपुः’ सन्तप्तं कृतवन्तः । स च सन्तप्तः सन् श्वासप्रश्वासी कुर्वन् ‘परिदीर्घः’ विदारितसर्वावयवः ‘शिश्ने’ शयनं कृतवान् । “तथो एवेति, फलकथनम् ॥ ३ ॥

सायाह्ने कर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— “अथेति । गृहमेधित्वगुण-विशिष्टेभ्यो ‘मरुद्भ्यः’ “चरु” अपयन्ति”—इत्युपरितनेन सम्बन्धः । अपणप्रकारं माह— “शाखयेति ‡ । दर्शयागवत् शाखा-हरण-वत्सापाकरणे कृत्वा, शाखापवित्रं निर्माय, तद्वति पात्रे गाः ‘सन्दोह्य’ दुग्ध्वा, ‘तम्’ इति निर्देशः । ‘तं’ दुग्धं पयः ‘चरु’ ‘अपयति’ । “चरुं ह्येवेति § । ‘सः’ वै मरुद्भ्यो

\* पा० सू० ५. ३. २२ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ ख ।

§ ‘चरुं ह्येवेति पायसत्वाशङ्कां निवर्त्तयति’—इति या० दे० ।



गृहमेधिभ्यः कृतः 'चरुः एव हि' ओदनः खलु । अत इदानीं  
मपि तदर्थं चरुरेव अपयितव्य इत्यर्थः ॥

“यत्र क्व चेति । यत्र क्व चावस्थितान् तण्डुलान् आहत्य,  
तस्मिन् पयसि प्रक्षिप्ते तत् तथैव हि देवा पुरुषादिभ्योऽपक्रम्य  
व्रीहिषु सङ्गन्तो 'मेधः' सारं 'दधिरे' आधारयन् । तत्र कारण  
माह— “प्रातरिति । “हविष्मन्त इति । हेतौ शब्दप्रत्ययः ।  
प्रातः करिष्यमाणाद् वृत्रहननाद्देतोरित्यर्थः । “तथा एवेति ।  
इदानीन्तन-यजमानस्यापि तथैव प्रतिपादनम् । “क्षीरीदन  
इति । पयसि तण्डुलान् प्रक्षिप्य अग्ने सति क्षीरेण संस्कृत  
ओदनो निष्पद्यते । “अन्नेन व्यञ्जनम्”—इति \* तृतीयासमासः ।  
द्रव्यद्वयं सम्भूय प्रशंसति— “मेधो वा इति । बलकरः सारांशो  
मेधशब्दार्थः । स्पष्ट मन्यत् ॥

एष च गृहमेधीययागः सान्नाय्यविकृतिरिति सप्तभिः पक्षैः  
पूर्ववत् स्वीकृत्य, ततो वैकचोदनादिति राक्षान्तितं दशमे । कात्या-  
यनोऽप्याह स— “मरुद्गो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि,  
सान्नाय्यवत्, तूष्णीं वैकचोदनात्”—इति † ॥ ४ ॥

अतस्तृतीय मनुक्रामति— “तस्यावदिति । 'तस्य' गृहमेधीय-  
यागस्य 'आवत्' क्रिया, प्रयोगः, क्रमः, अभिधीयत इति शेषः ।  
सान्तपनेष्टौ 'या वेदिः' बर्हिषा 'स्तीर्णा' अभूत्, गृहमेधीय-

\* पा० सू० २. १. ३४ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ६, ७, ८ । एतत् पयस्तूष्णीं मेव संस्कर्त-  
व्यम् ; न सान्नाय्यवत् समन्तकं तद्धर्मकं वा । कुतः ? 'एकचोदनात्', यतः  
कारणात् इय मेका चोदना—इति चाष्टमसूचवृत्तौ या० दे० ।



स्यापि 'सैव' उपकरोति । 'तस्या मेवेत्यादि , निगदसिद्धम् ;  
अतः सन्दिग्धपदविवरणमात्र मेव क्रियते । "शाकलांश्चेति ।  
इधस्य स्थाने शाकलानेव सम्मृज्य परिधिभिः सह तान् सादयेदि-  
त्यर्थः \* । "सन्दोह्य चरु मिति । विहितस्थानुवादः क्रमार्थः ॥ ५ ॥

"अथ द्वे इति । "पिशिले वेति । पिशिलशब्दः † सराव-  
वाची । अत एवोक्तं सूत्रकृता — "अपयित्वाभिघार्योद्वास्य शरा-  
वयोरुद्धरति ‡ । "निर्णेनिजतीति । प्रचालयतीत्यर्थः । "णिजिर्  
शौचपोषणयोः"—इति § धातुः । "द्वेधोद्धरन्तीति । 'एनं' चरुं  
द्वेधा विभज्य तयोः शरावयोः पात्रगोर्वा ॥ निदध्यादित्यर्थः ।  
"सर्पिरासेचने इति । सर्पिः सर्पणशील माज्यम् , आसिच्यते  
आनीयतेऽस्मिन्निति सर्पिरासेचनम् । अधिकरणे ल्युट् । पात्रस्थयो-  
स्तयोरोदनयोर्मध्ये सर्पिः पूरणायावटौ कृत्वेत्यर्थः ॥ "सुवञ्चेति ।  
एकत्वं मविवक्षितम् । प्रयाजानुयाजी \* \* \* अवसृतः प्रयोगा-  
भावात् ता मेव संसृज्यादित्यर्थः । "ओदनावासादयतीति । पात्र-  
द्वये स्थापितौ तावेवौदनी गृहीत्वा वेद्या मासादयितुं गच्छेदिति \*\* ।  
ओदनमध्यस्थितेनैवाज्येन कृत्स्नाज्यकार्यनिष्पत्तेः ध्रुवाया अप्यप्रयोग  
इति जुहुम इत्यर्थः । "इमा मेवेति । सान्तपन्था मिथौ या  
वेदिः बर्हिषा स्तीर्णास्ति, ता मेव वेदिम् गृहमेधीयाङ्गत्वेनास्तरण-  
मन्त्रेण तूष्णीं मेवावसृशेत् । यदाह कात्यायनः— "स्तरणयजुषा

\* का० श्रौ० सू० ५. ६. ६ क ।

† 'पिशिलशब्दः'—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. १० ।

§ जु० उ० १० धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० ५. ६. ११ ।

¶ का० श्रौ० सू० ५. ६. १२ ।

\*\* का० श्रौ० सू० ५. ६. १३ ।



वेदि मभिमृश्य तूष्णीं वा कृतत्वात्”—इति \* । न पुनर्वर्हिषास्तरणं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

इध्वत्तत्कार्यशकलानां सङ्ग्रानियमप्रसक्तावाह—“यावत् इति । यावद्भिः शकलैराहवनीयस्य प्राबल्यं भवति, तानयं कामयेत; ‘तावत्’ शकलांस्तत्राभ्यादध्यादित्यर्थः । तस्यां वेद्यां हविरासादनं विधत्ते—“अथैताविति । “उपविशति होतेति । सामिधेन्यनुवचनादेरभावात् । होत्वषदने तूष्णीं भवोपविशेत् । होतुरुपवेशनान्तरमाज्यभागमित्येव कर्त्तव्यम्, न पुनराधारादिकमित्यभिप्रेत्याह—“सुवच्च सुचच्चेत्यादिना ॥ ६ ॥

“अग्नयेऽनुब्रूहीति । “दक्षिणस्यौदनस्येति । दक्षिणोत्तरभागेन वेद्यामासादितयोरोदनयोः यो दक्षिणस्थितोऽौदनः, तस्य ‘सर्पिरासेचनात्’ सर्पिषा पूर्णात् पात्रात् पूर्वान्ज्यभागार्थं चतुरवदानम्, उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात् द्वितीयस्याज्यभागस्यावदानम् । तथा प्रधानयागस्य गृहमेधीयस्य दक्षिणौदनस्य सर्पिरासेचनात् उपस्तरणाभिधारणे, उत्तरौदनस्य सर्पिरासेचनात् स्विष्टकृद्यागस्योपस्तरणाभिधारणे । अत एव सूत्रितं कात्यायनेन—“आज्यभागाभ्यां चरति, आज्येयं दक्षिणात्, सौम्यमुत्तरात्, गृहमेधीयस्विष्टकृतौ चाज्यभागवत् समवदानौ”—इति † । निगदसिद्धमन्यत् ॥ ७—८ ॥

“अथाह्वाग्नय इति । ‘न प्राशित्रमिति । प्राशिचावदानं न कर्त्तव्यम्; पयसि संस्कृतत्वेन सान्नाय्यविकृतित्वात् ‡ । न हि

\* का० श्रौ० सू० ५. ६. १४ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. १७—२१ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ६. २६ ।



प्रकृतौ सान्नाय्यात् प्राशित्रं भवदीयते । उक्तं सुपयोगक्रमं निगमयति— “एतदिति । एतत् खलु ‘एकं मयनं’ गृहमेधीयस्यानुष्ठानमार्गः ॥ १० ॥

अन्यदप्ययनं दर्शयति— “अथेदं मिति । अस्मिन् पक्षेऽपि पूर्ववदेव \* “सैव स्त्रीणां वेदिर्भवतीत्यादेरर्थः । एतावांस्तु विशेषः । अपि तस्य द्वयोर्द्वयोरुद्धरणम्, तेषां सर्पिरासेचनकरणम्, तदासेचनक्षीत्यर्थे न भवति, किन्तु यदा चरुं अर्पयति ‘तत्’ तदानीं मेव ‘प्रतिवेशं’ समापनार्थं, प्रतिनिधित्वेन निवेशनस्थानं प्रतिवेशः, तत्स्थानीयं माज्यम् ; दक्षिणाग्नावाज्यस्थाल्या मधिश्रयेदित्यर्थः । “उद्वास्यानक्तीति । उद्वासनात् पूर्वं मभिघार्यं तदुत्तरकाले मपि हविरक्षणादित्यर्थः ।

“सोखं मेवेति । यस्यां स्थाल्यां चरुः श्रप्यते, तत्कृष्टं मेव ; न पुनः पात्रान्तरे धारणं कर्तव्यं मित्यर्थः । “स्थाल्या माज्यं मिति । स्थालीकृष्टं मेव चरुं वेद्या मासाद्य, आज्यस्थालीतलगतं माज्यं मप्यासादयेदित्यर्थः । आज्यभागादिषु यदाज्यकार्यं तत् सर्वं स्थालीगताज्यादेव कर्तव्यं मिति । अयं मेव पूर्वस्मादस्य पक्षस्य विशेषः, शिष्टं समानं पूर्वेण ॥ ११ ॥ ॥ १२—१५ ॥

“अथेडा मेवावद्यतीति । इडोपह्वानानन्तरं यत् प्राशनम्, तत्र विशेषः साह— “यावन्तं इति । गृहे भवा ‘गृह्याः’ यजमान-गृहे वक्तृमानाः पुत्रपौत्रभ्रात्रादिरूपाः ‘यावन्तः’ सन्ति, ‘तावन्तः’ ‘हविरुच्छिष्टाशाः’ भवेयुः ; अस्यैव विवरणं ‘प्राश्नीयुः’—इति, हविःशेषं सर्वं प्राप्नुयुरित्यर्थः । ‘अथो’ अपि च ‘ऋत्विजः अपि’



‘प्राश्नीयुः’ । ‘अपि’ च ‘अन्ये’ ‘ये ब्राह्मणाः’ आगताः , तेऽपि ‘प्राश्नीयुः’ । ‘यदि’ ‘ओदनः’ ‘बहुः’ अधिकः ‘स्यात्’, तदा अन्येषां प्राशन मित्यर्थः । कुम्भीनिधानं विधत्ते— “अथैता मिति । निःशेषेण अशिता निरशिता, तद्विपरीता अनिरशिता ताम्, शेषसहिता मित्यर्थः । तादृशीं कुम्भीं पात्रान्तरेण विधाय \* , ‘पूर्णदर्वाय’ । हविषा पूर्णां दर्वां यस्मिन् कर्मणि, तत् पूर्णदर्वम् † , तस्मै पूर्णदर्वाय कर्मणे, तदर्थं स्थापयेत् ॥

अस्यां रात्रौ वत्सानां मातृभिः सह वासं विधत्ते— “मातृ-भिरिति । ‘समवार्जन्ति’ “अर्ज गतिस्थानार्जनेषु” ‡, संसृष्टां कुर्यु-रित्यर्थः § । “तदु पशव इति । ‘तत्’ तेन वत्ससङ्गमेन पशवो-ऽपि ते ‘आत्मन्’ स्वात्मनि अस्यां रात्रौ ‘दधते’ धारयन्ति । अग्नि-होत्रार्थं मपि तस्यां रात्रौ पयो न दोग्धव्य मिति द्रव्यान्तरं विधत्ते— “यवाग्वेतामिति । एवं यजमानगृहवर्तिनां सर्वेषां वत्सानां मातृसमवार्जनप्रसक्तौ प्रातः पितृयज्ञार्थं दोह्याया निवा-न्याया गोवत्सस्य बन्धनं कर्त्तव्य मित्यभिप्रेत्याह— “निवान्या मिति । स्वयं नष्टवत्सा अन्यदीयेन वत्सेन या गौर्दुह्यते सा निवान्या, ताम् ‘प्रातः’ पितृयज्ञार्थं यतो ‘दुहन्ति’, अतस्तस्य वत्सस्य बन्धनं कर्त्तव्य मित्यध्याहृत्य योजनीयम् ॥ १६ ॥

पूर्णदर्वाख्यस्य कर्मणः कालं विधत्ते— “अथेति । ‘प्रातः’ अग्निहोत्रे ‘हुते वा अहुते वा’ अनयोः पचयोः ‘यतरथा’ येन

\* ‘अनिरशितां शेषरहितां कुम्भीं पात्रान्तरेणापिधाय’—इति च ।

† का० श्रौ० ५, ६, ३१ सू० या० दे० द्र० ।

‡ स्वा० प० २२४ धा० ।

§ का० श्रौ० ५, ६, ३४ सू० ।



प्रकारेण 'कामयेत' तथैवानुष्ठेयमित्यर्थः \* । होमाय सम-  
न्त्रकं हविर्ग्रहणं विधत्ते — "सोऽस्या इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।  
सोषायाः गृहमेधीयकुम्भ्याः सकाशात् "पूर्णां दर्वी" — इति मन्त्रेण †  
दर्वा आघातेन 'उपहन्ति' गृह्णीयात् । मन्त्रस्याय मर्थः ।  
हे 'दर्वि !' प्रथमं हविषा 'पूर्णां' सती अस्याः सकाशात्  
'घरापत' परागच्छ, देवान् प्राप्नुहि । पुनः कर्मफलेन 'सुपूर्णा'  
सती अमुतः सकाशात् अस्मान् पुनरागच्छ । हे 'शतक्रतो !'  
इन्द्र ! 'वस्त्रा' वसुना मूत्रेण 'इव' आवाम् 'इषम्' इष्टमाणम् अन्नम्  
'जर्जम्' बलकरं रसं च 'विक्रीणावहै' । त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य  
हविर्दास्यामि त्वयि ; मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मद्यं फलं दास्यसि  
त्वम् ; एवं व्यतिहारेण कर्म क्रीणावहा इत्यर्थः । एतच्चान्वोच्चारणं  
प्रशंसति — "यथेति । 'एनम्' इन्द्रम् 'एतस्मै' पूर्णदर्वाख्याय 'भागाय'  
पुरोनुवाक्यास्थानीयया पुरोवक्तव्यया एतया आह्वय इति ॥ १७ ॥

ऋषभध्वनौ होतव्यमिति विधित्पुराह — "अथेति ‡ ।  
'आह्वयितवै' आह्वातुम् । "तुमर्थे से-सेनसे" — इति § तवै-प्रत्ययः ।  
'स यदीत्यादि । 'सः' आहुतः ऋषभः, 'यदि' 'क्यात्' शब्दं  
कुर्यात् । "रुशब्दे" — इति ॥ धातुः । तद्धनिः वषट्कारात्मक  
इति केचिदाहुः । तथा च तैत्तिरीयकम् — "ऋषभमाह्वयति,  
वषट्कार एवास्य स इति कथयन्ति" — इति । अतः तस्मिन्  
वषट्कारे हविर्जुहुयादित्येकं मतम् ¶ ।

पक्षान्तरमाह — "अथो इति । योऽयं ऋषभध्वनिः, नासौ वषट्-

\* का० औ० सू० ५, ६, ३६ ।

† वा० सं० ३, ४६ ।

‡ का० औ० सू० ५, ६, ३७ ।

§ पा० सू० ३, ४, ६ ।

॥ अदा० प० २४ धा० ।

¶ का० औ० सू० ५, ६, ३८ ।



कारः, किन्तु इन्द्रस्य स्वभूतेन ऋषभाख्येन रूपेण तमेव 'इन्द्रम्' एतेन शब्देन 'ह्वयति' । किमर्थम् ? 'वृत्रस्य वधाय' वृत्र मसुरं हन्तुमित्यर्थः । वृत्रस्येति कर्मणि षष्ठी । "तुवर्थाच्च भाववचनात्"—इति वधशब्दाच्चतुर्थी \* । एतदेव विवृणोति— "एतहा इति 'यदि' 'सः' ऋषभः शब्दं कुर्यात्, तदा "आ म इन्द्रो यज्ञ मगन् ॥" आगमत्, मदीयो यज्ञः इन्द्रसहितोऽभवदिति 'विद्यात्' । यज्ञे ऋषभस्य शब्दाकरणेऽनुष्ठानप्रकार माह— "यद्यु नेति । 'यदि' तु मदीयो 'यज्ञः' 'सेन्द्रः' ऋषभो 'न' शब्दं कुर्यात्, तदाह 'दक्षिणतः' उपविशेत् 'ब्राह्मणः' ब्रह्मैव, 'जुह्वीतीति' अभ्यर्च्युं प्रति 'ब्रूयात्' ग्रंसेद्, 'ऐन्द्री' इन्द्राह्वानार्था वाक् † ॥ १८ ॥

अथ समन्तकं होमं विधत्ते— "स जुहोतीति । दर्व्या गृहीतं हविः "देहि मे"—इति मन्त्रेण ‡ तथैव दर्व्या आहवनीये जुहुयात् ॥ । मन्त्रस्थाय मर्थः । इन्द्रो ब्रवीति— हे यजमान ! त्वं 'मे' मन्त्रं प्रथमं हविः 'देहि', अह मपि 'ते' तुभ्यम् इष्टं फलं 'ददामि' । तथा त्वं 'मे' मन्त्रं हविः 'निधेहि' नितरां धारय, अह मपि तुभ्यं फलं 'निदधे' निदधामि, नियच्छामि । नियमेन हि क्रियत इति निहारो मूल्यद्रव्यम् । 'निहारं' हविषो मूल्यभूतम्, फलस्य मूल्यभूतं हविः ; 'च'—शब्दश्चेदर्थे, त्वं चेत् प्रथमं 'हरासि' हरेः, दद्या इत्यर्थः ; हरतेर्लोप्याडागमः ; अनन्तर मेव 'ते' तुभ्यम् अह मपि 'निहारं' हविषो मूल्यभूतं फलं

\* पा० सू० २. ३. १५ ।

† इहैव ब्राह्मणे ३२१ पृ० १२ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० औ० सू० ५. ६. ३६ ।

§ वा० सं० ३. ५० ।

॥ का० औ० सू० ५. ६. ४० ।



‘निहराणि’ नितरां प्रापयामि । ‘स्वाहा’ इदं हविः स्वाहुत  
मस्तु इति । एतत् सर्वं कात्यायनेन सूत्रितम्— “प्रातर्हुत्वा-हुत्वा  
वा स्थाव्या दर्व्यादत्ते पूर्णां दर्वीति, ऋषभ माह्वयितवै ब्रूयाद्,  
रुते जुहोति, अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह, देहि म इति  
जुहोति”-इति \* ॥ १८ ॥

एतदनन्तरकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— “अथेति । क्रीडन्तीति  
क्रीडिनः, एतद्गुणविशिष्टेभ्यः ‘मरुङ्गाः’ सप्तसु कपालेषु संस्कृतं  
पुरोडाशं निर्वपेदित्यर्थः † । क्रीडिन इति मरुतां यथार्थं विशेषण  
मिति प्रतिपादयति— “मरुतो ह वा इत्यादिना । इत्वं हन्तुं सुद्युक्त  
मिन्द्र मभितो यस्माद् ‘परिचिक्रीडुः’ क्रीडितवन्तः, तस्मादिन्द्रव-  
द्यजमानस्य समीपे क्रीडनशीलेभ्यो मरुङ्गो यागः कर्त्तव्यः ।

साकमेधेषु प्रधानभूताया महाहविराख्याया इष्टेरारम्भं प्रति-  
जानीते— “अथात इति ‡ । यतोऽनुष्ठानकालः प्राप्तः, अतः प्राप्ता-  
वसरत्वात् हविषः प्रयोगो क्रियत इत्यर्थः । वरुणप्रघासतन्त्रं तन्नाति-  
दिशति— “तद्यथेति । तत्र ‘महाहविषः’ महान्ति बह्वनि हवींषि §

\* का० औ० सू० ५. ५. ३६-४० । † का० औ० सू० ५. ७. १ ।

‡ “महाहविरुदवसाय निर्मथ्य”-इति का० औ० सू० ५. ७. ५ ।  
‘निर्मथ्येत्यपदेशात् पूर्व मयी समारोह्योदवसाय’-इत्यादि या० दे० ।  
“पूर्वेद्युर्वा”-इति चान्न का० औ० सू० ५. ७. ५ । ‘अथवा पूर्वेद्युरेव अनीक-  
वत्याः पूर्वं मेव समारोपोदवसानमन्यनानि कृत्वा पर्वारम्भाणीयम्; एतेनेति  
शब्दस्य शाकमेधाख्यसकलपर्ववाचित्वात्’-इत्यादि स्तद्धृत्तिश्चात्र समा-  
लोच्या । ‘एतेन’-इत्यादि त्वत्रैवोपरिष्ठादान्नातम् ( ५ प्र० ३ ब्रा० १६ क० ) ।

§ “नित्येभ्योऽधिकानि, ऐन्द्रागः, माहेन्द्रश्चरः, वैश्वकर्मण एक-  
कपालः”-इति का० औ० सू० ५. ७. ७-१० । ‘नित्येभ्यः आग्नेयादिभ्यः  
पञ्चभ्यः’-इति या० दे० ।



यत्र, महाहविर्वरुणप्रघासाख्यो यागः, तस्य ; वक्ष्यमाणस्य महा-  
हविराख्यस्य यागस्य 'यथा', एव मिति सम्बन्धः । तस्य पूर्वोक्तस्य  
वरुणप्रघासस्य हविषो यथानुष्ठानम्, तथैव महाहविषो वक्ष्य-  
माणस्यापीति ॥ २० ॥ ४ [ ५. ३. ] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थः प्रपाठकः \* ॥

---

\* "कण्डिकासङ्ख्या ११३"—इति क, "कण्डिकाः ११५"—इति ग,  
"कण्डिकासङ्ख्या १०५"—इति घ । तत्र १ ब्रा० २५ क०, २ ब्रा० २२ क०,  
३ ब्रा० ४८ क०, ४ ब्रा० २० क० ; सङ्कलनया ११५ सिद्धम् ॥



अथ

पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपिवा

पञ्चमेऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

महाहविषा ह वै देवा ब्वृचं जघ्नुः । तेनो  
ऽएव व्यजयन्त येय मेषां ब्विजितिस्तां तथो ऽएवैष  
एतेन पाप्मानं दिषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव  
विजयते तस्माद्वा ऽएष एतेन यजते ॥ १ ॥

तुस्यावृत् \* । उप किरन्त्युत्तरवेदिं गृह्णन्ति  
पृषदाज्यं मुन्यन्त्यग्निं नुवप्रयाजं भवति नुवानुयाजं  
त्रीणि समिष्टयजूषि भवन्त्यथैतान्येव पञ्च हवीं  
षि भवन्ति ॥ २ ॥

स यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।



अग्निना ह वा ऽएनं तेजसाघ्नन्त्स तेजो ऽग्नि-  
र्नाव्यथ तस्मादाग्नेयो भवति \* ॥ ३ ॥

अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति । सोमेन ह वा ऽएनं  
राज्ञाघ्नन्त्सोमराजान एव तस्मात्सौम्यश्चरुर्भवति ॥ ४ ॥

अथ यत्सावित्रः † । द्वादशकपालो वाष्टाकपालो  
वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता  
सवितृप्रसूता हैवैन मघ्नंस्तस्मात्सावित्रो भवति ॥ ५ ॥

अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति । व्याग्वै सरस्वती  
व्यागु हैवानुममाद प्रहर जहीति तस्मात्सारस्वत-  
श्चरुर्भवति ॥ ६ ॥

अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति । इयं वै पृथिवी  
पृषेयं हैवैनं बधाय ‡ प्रतिप्रददावनया हैवैनं प्रति-  
प्रत्तं जघ्नुस्तस्मात् पौष्णश्चरुर्भवति ॥ ७ ॥

अथैन्द्राग्नी द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ।  
एतेन हैवैन मघ्नंस्तेजो वा ऽअग्निं रिन्द्रियं वीर्यं  
मिन्द्र एताभ्या मेन मुभाभ्यां वीर्याभ्या मघ्नन् ब्रह्मा

\* 'भवति'—इति घ, ङ ।

† 'सः'—इति ग, घ ।

‡ 'बधाय'—इति ङ ।



वा ऽअग्निः क्षत्र मिन्द्रस्ते ऽउभे स०रुथ ब्रह्म च  
 च० च सयुजौ कृत्वा ताभ्या मेन सुभाभ्यां व्यौर्याभ्या  
 मघ्नं सुस्मादैन्द्राग्नौ द्वादशकपालः पुरोडाशो  
 भवति ॥ ८ ॥

अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो वा ऽएष पुरा  
 वृत्रस्य बधादय\* वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजि-  
 ग्यान् एवं माहेन्द्रो ऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति  
 महान्तं मु चैवैन मेतत् खलु करोति वृत्रस्य बधाय†  
 तस्मादेव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥ ९ ॥

अथ विश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ।  
 विश्वं वा ऽएतत् कर्म कृतं सर्वं जितं देवाना मा-  
 सीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां विश्वस्ये  
 वैतस्यैतत् कर्म कृतं सर्वं जितं भवति साकमेधै-  
 रीजानस्य विजिग्यानस्य तस्माद्विश्वकर्मण एककपालः  
 पुरोडाशो भवति ॥ १० ॥

एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टा येयं देवानां प्रजा-

\* 'बधादय'—इति ड ।

† 'बधाय'—इति ड ।



तिर्या श्रीरेतु बभूवुरेताः ह वै प्रजातिं प्रजायत  
ऽएताः श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन युञ्जेन  
युजते तुस्माद्वा ऽएतेन यजेत ॥ ११ ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. ४. ] ॥

अथ तस्य महाहविषः प्रयोगक्रमं विधितुः प्राग् “एतैर्वै  
देवा वृत्र मघ्नन्”—इत्यादिना \* यत् साकमेधानां फलं प्रति  
पादितम्, तत्फलं महाहविष एव साक्षात् साधनत्व मिति प्रति  
पादयति— “महाहविषा ह वा इत्यादिना । उक्तगुणविशिष्ट इन्द्रो  
यस्मिन् यागे तत्साधनं हविः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥ १ ॥

तस्य प्रयोग मनुक्रामति— “तस्यावदित्यादिना । आवच्छब्दः  
क्रियावाची । उत्तरवेदीनिवपनपृषदाज्यग्रहणानिमन्यनादीनि  
वरुणप्रघासवदेवात्रापि कार्याणीत्याह— “उपकिरन्तीत्यादिना ।  
अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “उत्तरवेदिष्वग्निप्रणयनमन्यनपृषदाज्यञ्च  
वरुणप्रघासवत्”—इति † । “अथैतान्येवेति । यानि वैश्वदेवे  
उक्तानि आग्नेयादीनि पञ्च सञ्चराणि हवींषि ‡, ‘एतानि  
एव’ अत्रापि कर्तव्यानि भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

\* एतत्पूर्वतनब्राह्मणे प्रथमकण्डिकायां द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० ५. ७. ११ ।

‡ पुरस्तात् २५२ पृ० ५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यानि । का० श्रौ० सू०  
५. १. ५—६ ( आग्नेयः, सौम्यः, सावित्रः, सारस्वतः, पौष्णः ) ।



तत्रानेय मनूय स्तौति— “स यदिति । “एनं तेजसा-  
न्निति । पुरा खलु देवाः ‘अग्निना’ अग्निलक्षणेन ‘तेजसा’  
‘एनं’ वृत्रम् ‘अन्नन्’ अहिंसन् । ‘सः’ तेजोरूपः ‘अग्निः’  
‘न अव्ययत’ व्यथितः पीडितो नाभवत् । तस्मादाग्नेययागस्य  
प्राथम्यं मुक्तम् ॥ ३ ॥

सौम्यं हविरनूय स्तौति— “अथ यदिति । “सोमराजान  
एवेति । सोमी राजा येषां ते तथोक्ताः । “राजाहःसखि-  
भ्यष्टच्”—इति \* टच्-समासान्तो न भवति ; तत्पुरुषाधिकारात् ।  
सोमराजेनाधिष्ठिता देवाः , तेनैव ‘राज्ञा सोमेन’ ‘एनं’ वृत्रम्  
‘अन्नन्’ अहिंसयन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

तृतीयं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सावित्र इति । “द्वादश-  
कपालोऽष्टाकपालो वेति । कपालसङ्ख्या यागः कर्त्तव्यः † ॥ ५ ॥

चतुर्थं हविरनूय स्तौति— “अथ यत् सारस्वती इति ।  
“वाशु हैवेति । वागात्मिका हि सरस्वती ‡ । सा खलु वाक्  
वृत्रं हनिष्यन्त मिन्द्रम् ‘अनु ममाद’ हृष्टा बभूव § । अनुमदन-  
प्रकार माह— हे इन्द्र ! ‘प्रहर’ वज्रेण वृत्रं ताडय , ततस्तं  
‘जहि’ मारयेति । जहीति हन्तेर्लोटि मध्यमैकवचने “हन्तेर्जः”

\* पा० सू० ५. ४. ६१ ।

† “सावित्रो द्वादशकपालोऽष्टाकपालो वा”—इति का० औ० सू०  
५. १. ७ । “उपांशु कान्यदेवता”—इति ( का० औ० ४. ५. १ सू० ) चेह  
दृश्यम् ।

‡ गन्धिव भृगिह सरस्वदेवताका गृह्यते ; “योषा वै सरस्वती”—  
इत्याद्यर्थवादश्रुतेः ( ५. १. ११. ) ।

§ वृत्रवधव्यापारेऽनुमोदनं चकारेत्यर्थः ।



—इति \* जादेशः, तस्य “असिञ्चवदत्ताभात्”—इति असिञ्चत्वात् †  
हेर्लक् न भवति ॥ ६ ॥

पञ्चमं हविरनूद्य स्तौति— “अथ यत् पौष्णश्चर्मवतीति ।  
“इयं वै पृथिवीत्यादि । इय मेव हि पृथिवी पोषयति भूतजाता-  
नीति पूषा । इय मेव खलु ‘एनं वृत्रं ‘बधाय’ हननाय ‘प्रतिप्रददौ’  
प्रत्यर्पयामास, अतः ‘अनयैव’ पृथिव्या साधनेन ‘एनं’ वृत्रं देवाः  
‘प्रतिजघ्नुः’ प्रतिहतवन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथेन्द्राग्नि इति ‡ । “एतेन हेत्यादि ।  
‘एतेन’ इन्द्राग्निदेवताकेन यागेन । इन्द्राग्नी वृत्रजननहेतुत्व  
सुपपादयति—“तेजो वा अग्निरित्यादिना । योऽयम् ‘अग्निः’ स  
दहनसमर्थः ‘तेजः’ ; यदिदं पुरुषे प्रविष्टम् ‘इन्द्रियम्’ इन्द्रलिङ्गम्,  
इन्द्रेण दत्तं ‘वीर्यम्’, तदात्मक इन्द्रः ; तथा च ‘एताभ्याम्  
उमाभ्याम्’ ‘एनं’ वृत्रं देवाः ‘अघ्नन्’ । तस्मादेन्द्राग्नौ यागो  
युक्त इत्यर्थः ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति— “ब्रह्म वा अग्निरिति । ‘अग्निः’, ‘ब्रह्म’  
ब्राह्मणजातिः ; ब्राह्मणेन सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वात् । ‘इन्द्रः’,  
‘क्षत्रम्’ क्षत्रियजातिः ; प्रजापतेरुत्सो बाहुभ्यां च सकाशात् क्षत्रि-  
येण सहोत्पत्तेः । ‘ते उमे’ ब्रह्मक्षत्रे ‘संरभ्य’ अवलम्ब्य ‘सयुजौ’  
परस्परं सहायभूते ‘कृत्वा’ ‘ताभ्यां सुभाभ्यां’ ब्रह्मक्षत्रसम्बन्धिभ्यां  
वीर्याभ्याम् ‘एनं’ वृत्रम् ‘अघ्नन्’ ॥ ८ ॥

सप्तमं हविर्विधत्ते— “अथ माहेन्द्रश्चर्मवतीति § । महं-

\* पा० सू० ६. ४. ३६ ।

† पा० सू० ६. ४. २२ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ७. ८ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. ७. ९ ।



आसाविन्द्रो महेन्द्रः । “आत्महतः”—इत्यात्वम् \* । महेन्द्रो देवता अस्य माहेन्द्रः । “महेन्द्राद् घाणौ च”—इत्याद्यण् † । अस्येन्द्रस्य महत्त्वं सुपपादयति — “इन्द्रो वा एष इति । वृत्रं वधात् पूर्वं केवल इन्द्र एवासीत् , स च तं हत्वा ‘महेन्द्रोऽभवत्’ । ‘यथा’ शत्रुं ‘विजिग्यानः’ विजितवान् राजा ‘महाराजः’ इत्याख्यायते, तद्वत् । ‘विजिग्यानः’ वि-पूर्वाज्जयते । “विपरिभ्यां जेः” इत्यात्मनेपदम् ‡, लिटः कानच्, “सन्लिटोर्जेः §” इत्याभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् ।

“महान्तं सु चैवैनं मिति । प्रकारान्तरेण सुतिः । महत्वेनेन्द्रस्य विशेषणात् महान्तं मेवैनं कृतवान् भवतीत्यर्थः । “तस्माद् एवेति । ‘उ’-शब्दोऽप्यर्थे । तस्मादपि महत्त्वकर्म-करणाद्देतोरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते—“अथ वैश्वकर्मण इति ॥ । विश्वं सर्वं जगत् कर्म कार्यं यास्य, स विश्वकर्मा देवता अस्यासौ, तस्यं ‘वैश्व-कर्मणः’ । ‘सास्य देवता’—त्यणि ण, “अन्”—इति \*\* प्रकृतिवद्भावः । एतस्य हविषो विश्वकर्मादेवताकत्वं प्रशंसति—“विश्वं वा एत-दित्यादिना । ‘साकमेधैः’, यागैः ‘ईजानानाम्’ इष्टवता ‘विजि-ग्यानानां’ वृत्रं विजितवतां ‘देवानाम्’ ‘एतत्’ ‘विश्वं’ सकलं ‘कर्म’ निरवशेषं ‘कृतम्’ अनुष्ठितम्, ‘जितम्’ प्राप्तफलं च

\* पा० सू० ६, ३, ४६ ।

† पा० सू० ४, २, २६ ।

‡ पा० सू० १, ३, १६ ।

§ पा० सू० ७, ३, ५७ ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, ७, १० ।

¶ पा० सू० ४, २, २४ ।

\*\* पा० सू० ६, ४, १६७ ।



‘आसीत्’ । दार्ष्टान्तिके योजयति—“विश्वस्वेवेति । ‘उ’-शब्दो-  
ऽप्यर्थः , शिष्ठं मुक्तार्थम् \* ॥ १० ॥

उपक्रममावसरायोदीरति—“एतेन वा इति । येषां देवानां  
‘प्रजातिः’ ‘अग्नी’ च दृश्यते, ‘एतेन’ अनेनैव हि महाहविषा ‘यज्ञेन’  
‘इष्ट्वा’ तथा प्रजात्या श्रिया च ‘बभूवुः’ प्रवृत्ता अभवन् । यद्वा, “भू  
प्राप्तावात्मनेपदी” † अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदी । एतदुभयं प्रापुरित्य-  
र्थः । “एतां ह वा इत्यादि, निगदसिद्धम् ॥ ११ ॥ १ [५. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।  
युमर्थाञ्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्थां रुक्मवाजिदिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यश्राणीद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।

\* “ऋषभो दक्षिणा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ७. १२ ।

† चुरादिगणसूत्रे मिदम् ३३९ ।



आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रः शार्करं चार्कतेजाः,  
रत्नाब्धो रत्नरूपं गिरि मल्लत सुदा पात्रसास्त्रिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥



( अथ षष्ठाध्याये प्रथमं ब्राह्मचम् . )

महाहविषा ह वै देवा व्यृचं जघ्नः । तेनो  
ऽएव व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मय याने-  
वैषां तस्मिन् सङ्ग्रामे ऽघ्नस्तान् पितृयज्ञेन समै-  
रयन्त पितरो वै त ऽआसंस्तस्मात् पितृयज्ञो  
नाम ॥ १ ॥

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः । एते ते ये व्यज-  
यन्त शरद्धेमन्तः शिशिरस्त ऽउ ते यान्पुनः समै-  
रयन्त ॥ २ ॥

अथ यदेष एतेन यजते । तन्नाह न्वेवै-  
तस्य तथा कं चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन्निति  
न्वेवैष एतत् करोति य मु चैवैभ्यो देवा भाग सकल्प-  
यंस्त मु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति यानु चैव देवाः  
समैरयन्त तानु चैवैतदवति खानु चैवैतत्पितृव्ये-  
याँसं लोकं मुपोन्नयति यदु चैवाद्यान्नात्मनो



ऽचरणेन हन्यते वा मोयते वा तदु चैवा-  
 स्येतेन पुनराप्यायते तस्माद्वा ऽएष एतेन  
 यजते ॥ ३ ॥

सु पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरो-  
 डाशं निर्व्वपति सोमाय वा पितृमते षड् वा ऽऋतव  
 ऋतवः पितरस्तस्मात् षट्कपालो भवति ॥ ४ ॥

अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः । अन्वाहार्यपुचने  
 धानाः कुर्व्वन्ति ततो ऽर्धाः पिष्पन्त्यर्धा इत्येव  
 धाना अपिष्टा भवन्ति वा धानाः पितृभ्यो बर्हि  
 षद्भ्यः ॥ ५ ॥

अथ पितृभ्यो ऽग्निष्वात्तेभ्यः । निवान्यायै  
 दुग्धे सकृदुप मथित एकशलाकया मन्यो भवति  
 सकृदु ह्यत्र पुराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृदुप मथितो  
 भवत्येतानि हवींषि भवन्ति ॥ ६ ॥

तद्ये सोमनेजानाः । ते पितरः सोमवन्तो  
 ऽथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो  
 बर्हिषदो ऽथ ये ततो नान्यतरञ्चन यानग्निरेव  
 दहन्त्स्वदयति ते पितरो ऽग्निष्वात्ता एत  
 उ ते ये पितरः ॥ ७ ॥



सु जघनेन गार्हपत्यम् । प्राचीनावीती भूत्वा  
दक्षिणासीन एतच्छुष्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति  
स तत एवोपोरथायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा  
तिष्ठन्न वहन्ति सकृत् फलीकरोति सकृदुच्चैव  
पराचः पितरस्तुस्मात् सकृत् फलीकरोति ॥ ८ ॥

सु दक्षिणैव दृषदपले ऽउपदधाति । दक्षि-  
णार्धे गार्हपत्यस्य शुष्कपालान्युपदधाति तद्यदेतां  
दक्षिणां दिशश्च सुचन्त ऽएषा हि दिक् पितृणां  
तस्मादेतां दक्षिणां दिशश्च सुचन्ते ॥ ९ ॥

अथ दक्षिणैरान्वाहार्यपचनं । चतुः सक्तिं  
व्वेदिं करोत्यवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति चतस्रो  
वा ऽअवान्तरदिशो ऽवान्तरदिशो वै पितरस्तुस्मा-  
दवान्तरदिशो ऽनु सक्तीः करोति ॥ १० ॥

तन्मध्ये ऽग्निं समादधाति । पुरस्ताद्दे  
देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्तास्तस्मात्तेभ्यः  
प्राङ् तिष्ठन् जहोति सर्व्वतः पितरो ऽवान्तर-  
दिशो वै पितरः सर्व्वत-इव हीमा अवान्तरदिश  
स्तस्मान्मध्ये ऽग्निं समादधाति ॥ ११ ॥

स तत एव प्राक् सम्बयजुर्हरति । सम्ब-



यजुर्हुत्वाथेत्येवाग्ने परिगृह्णात्यथेत्येति पूर्व्वेण परि-  
ग्रहेण परिगृह्य लिखति हरति यद्दार्थं भवति  
स तथेवोत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्णात्युत्तरेण  
परिग्रहेण परिगृह्य प्रति मृज्याह प्रोक्षणीरासा-  
दयेत्यासादयन्ति प्रोक्षणीरिध्मं बर्हिरुपसादयन्ति  
क्षुचः सम्पाष्टाज्येनोदैति स यज्ञपवीती भूत्वा-  
ज्यानि गृह्णाति ॥ १२ ॥

तदाहुः । द्विरुपभृति गृह्णीयाद्वौ ह्यनानु-  
याजौ भवत इति तदष्टावेव कृत्व उपभृति  
गृह्णीयान्नेद्यज्ञस्य विधाया अयानीति तस्मादष्टा-  
वेव कृत्व ऽउपभृति गृह्णीयादाज्यानि गृहीत्वा स  
पुनः प्राचीनावीती भूत्वा \* ॥ १३ ॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते । स इध्ममेवाग्ने प्रोक्ष-  
त्यथ वेदि मथास्त्रै बर्हिः प्रयच्छन्ति तत् पुरस्ताद्  
ग्रन्थ्यासादयति तत् प्रोक्ष्योपनिनीय विसृज्य  
यन्ति न प्रस्तरं गृह्णाति सकृदु ह्येव पराश्वः  
पितरस्तस्मा न प्रस्तरं गृह्णाति ॥ १४ ॥



अथ सन्तुहन् मनुविस्त्रुख । अपसलवि  
त्रिः परिसृणन् पर्येति सो ऽपसलवि त्रिः परि-  
स्तौर्यं यावत् प्रस्तर भाजनं तावत् परिशिनष्टाय  
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति यत् पुनः प्रसलवि  
त्रिः पर्येति तद्यानेवामुंस्रयान् पितृ नन्ववागात्तेभ्य  
एवैतत् पुनरपोदेतौ मण् स्वं लोक मभि तस्मात्  
पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥ १५ ॥

स दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति । दक्षिणा  
प्रस्तरुं सृणाति नान्तर्दधाति ब्विधति सकृदु  
ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मान्नान्तर्दधाति ब्विधती ॥ १६ ॥

स तत्र जुह्वा मासादयति । अथ पूर्वा  
मुपभृत मथ भ्रुवा मथ पुरोडाश मथ धाना अथ  
मन्य मासाद्य हवींषि संमृशति ॥ १७ ॥

ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा\* । इत्या-  
द्यज † मानस ब्रह्मा च पश्चात् परीतः पुरस्ता-  
दग्नौ ‡ ॥ १८ ॥

\* भूत्वा—इति ग ।

† इषाद्यज—इति च दृष्टं डा० नेवरेण ।

‡ पुरस्तादग्नीन्—इति ग ।



तेनोपांशु चरन्ति । तिर-द्वव वै पितर-  
स्तिर-द्ववै तद्यदुपांशु तस्मादुपांशु चरन्ति ॥ १९ ॥  
परिवृते चरन्ति । तिर-द्वव वै पितर-  
स्तिर-द्ववैतद्यत् परिवृतं तस्मात् परिवृते  
चरन्ति \* ॥ २० ॥

अथेधु मध्यादुधदाह । अग्नये समिधु माना-  
यानु ब्रूहीति स एका मेव होता सामिधेनीं  
त्रिरुन्वाह सकृदु ह्येव पुराञ्चः पितरस्तस्मादेकां  
होतां सामिधेनीं त्रिरुन्वाह ॥ २१ ॥

सो ऽन्वाह । उशन्तस्त्वा निधी मक्षुशन्तः  
सुमिधी महि । उशन्नुशत आवह पितृन्हविषे  
ऽअत्तव ऽद्वत्यथाग्नि मावह सोम मावह पितृन्  
त्वोमवत आवह पितृन् बर्हिषद आवह पितृन्  
नग्निष्वात्तानावह देवांश्च ऽआज्यपांश्च ऽआवहा-  
ग्निं होत्रायावह स्वं महि मान मावहेत्यावाह्यो-  
पविशति ॥ २२ ॥

अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते । पितृयज्ञो



चा ऽअयं नेहोतारं पितृषु दधानीति तस्मान्न  
 होतारं प्रवृणीते सोद होतरित्येवाहोपविशति होता  
 होतृषुदन ऽउपविश्य प्रसौति प्रमूतो ऽध्वर्युः  
 स्तुचावादाय प्रत्यङ्मुतिक्रामत्यतिक्रम्याश्राव्याह  
 समिधो यजेति सो ऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्य-  
 जति प्रजा वै बर्हिर्नेत् प्रजाः पितृषु दधानीति  
 तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान्यजत्यथाज्यभागाभ्यां  
 चरन्त्याज्यभागाभ्यां चरित्वा \* ॥ २३ ॥

ते सर्व एव प्राचीनावीतिनो भूत्वा † । एतैर्वै  
 हविर्भिः ‡ प्रचरिष्यन्त इत्याद्यज मानश्च ब्रह्मा च  
 पुरस्तात् परीतः पश्चादग्नोत्तदुताश्रावयन्त्योऽ७ स्वधे  
 त्यस्तु स्वधेति प्रत्याश्रावणं स्वधा नम इति  
 व्षट्कारः § ॥ २४ ॥

तदुहोवाचासुरिः । आश्रावयेयुरेव प्रत्याश्राव-  
 येयुर्व्षट् कुर्युर्नेद्यज्ञस्य विधाया अयामेति ॥ ॥ २५ ॥  
 अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । सो-

\* चरित्वा—इति ग ।

† भूत्वा—इति ग ।

‡ एतैर्हविर्भिः—इति क, ङ ।

§ व्षट्कारः—इति ग ।

॥ अयामेति—इति ग ।



माय वा पितृमते स द्वे पुरो ऽनुवाक्ये ऽअन्वा-  
हैकया वै देवान् प्रच्यावयन्ति द्वाभ्यां पितॄन्  
त्सुकुदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्माद्दे पुरो ऽनुवाक्ये  
ऽअन्वाह ॥ २६ ॥

स उपस्तृणीत ऽआज्यम् । अथास्य पुरो-  
डाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन  
सह मन्यस्य तत् सक्तद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्य-  
स्याभिघारयति प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत  
एवोपोत्यायाश्राव्याह पितॄन् त्सोमवतो यजेति व्यष-  
ट्कते जुहोति ॥ २७ ॥

अथाह पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यो ऽनुब्रूहीति । स  
उपस्तृणीत ऽआज्यं मथासां धानानां मवद्यति स  
तेनैव सह मन्यस्य तेन सह पुरोडाशस्य \* तत्  
सक्तद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
नक्तावदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्यायाश्रा-  
व्याह पितॄन् बर्हिषदो यजेति व्यषट्कते  
जुहोति ॥ २८ ॥



अथाह पितृभ्यो ऽग्निष्वात्तेभ्यो ऽनुब्रूहीति ।  
 स उपस्तृणीत ऽत्राज्यमुथास्य मन्यस्यावद्यति स  
 तेनैव सह पुरोडाशस्य तेन सह धानानां तत्  
 सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभिघारयति प्रत्य-  
 नक्तावदानानि नातिक्रामतीत एवोपोत्यायाश्चा-  
 व्याह पितृनग्निं स्वात्तान्यजेति व्यषट्कृते  
 जुहोति ॥ २६ ॥

अथाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति । तत्  
 स्विष्टकृते हव्यवाहनो वै देवानां कव्यवाहनः पितृणां  
 तस्मादाहाग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहीति ॥ ३० ॥

स उपस्तृणीत ऽत्राज्यम् । अथास्य पुरो-  
 डाशस्यावद्यति स तेनैव सह धानानां तेन सह  
 मन्यस्य तत् सकृद्वदधात्यथोपरिष्ठाद्विराज्यस्याभि-  
 घारयति न प्रत्यनक्तावदानानि नातिक्रामतीत  
 एवोपोत्यायाश्चाव्याहग्निं कव्यवाहनं यजेति व्यष-  
 ट्कृते जुहोति ॥ ३१ ॥

स यन्नातिक्रामति । इत एवोपोत्यायं जुहोति  
 सकृदु द्वेव पराञ्चः पितरो ऽथ यत् सकृत् सकृत्  
 सव्वेषां हविषां समवद्यति सकृदु द्वेव



पुत्राञ्चः पितरो ऽथ यद्व्यतिषुङ्ग मवदानान्यवद्यु-  
त्थृतवो वै पितर ऋतूनेवैतद्व्यतिषजत्थृतून् सुन्द-  
धाति तस्माद्व्यतिषुङ्ग मवदानान्यवद्यति ॥ ३२ ॥

तद्वैके । एतु मेव होचे मन्य मादधति तत्  
होतो पङ्कयावैव जिघ्रति तं ब्रह्मणे प्रयच्छति तं  
ब्रह्मावैव जिघ्रति तमग्नीधे प्रयच्छति तमग्नीदु-  
वैव \* जिघ्रत्येतनन्वेवैतत् कुर्वन्ति यथा त्वेवे-  
तरस्य यज्ञस्येडाप्राशिन्नत् समवद्यन्त्येव मेवैतस्यापि  
समवद्येयुस्ता मुपहूयावैव जिघ्रन्ति न प्राश्नन्ति  
प्राशितव्यं त्वेव व्ययं मन्यामह ऽहति ह स्माहामुरि-  
र्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति † ॥ ३३ ॥

अथ यतरो दास्यन् भवति । यदध्वर्युर्वा  
युजमानो वा स उदपात्र मादायापसलवि त्रिः  
परिषिञ्चन्पर्येति स युजमानस्य पितर मवने-  
जयत्यसाववनेनिक्षेत्यसाववनेनिक्षेति पितामह-  
मुसाववनेनिक्षेति प्रपितामह ‡ तद्यथाशिष्यते ऽभि-  
षिञ्चेदेवं तत् § ॥ ३४ ॥

\* तमग्नीद्वेव—इति च दृष्टं डा० वेवरेण । † जुह्वतीति—इति ग ।

‡ प्रपितामह—इति क, छ ।

§ तत्—इति ग ।



अथास्य पुरोडाशस्यावदाय । सस्ये पाणौ कुरुते धानाना मवदाय सस्ये पाणौ कुरुते मन्युस्यावदाय सस्ये पाणौ कुरुते ॥ ३५ ॥

सु ये मामवान्तरदिश मुनु स्रक्तिः \* । तस्यां यजमानस्य पित्रे ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मुनु स्रक्ति स्तस्यां यजमानस्य पितामहाय ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मुनु स्रक्ति स्तस्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददात्यसावेतत्त ऽद्वत्यथ ये मामवान्तरदिश मुनु स्रक्ति स्तस्यां निमृष्टे ऽत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति यथा भागु मश्नीतेत्येवैतदाह तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति तेनो स्वाग्निपतृनेतस्माद्यज्ञान्नान्तरेति ॥ ३६ ॥

ते सर्वं ऽएव यच्चीपवीतिनो भूत्वा † । उदञ्च उपनिष्क्रम्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते देवान्वा ऽएष उपावर्त्तते य आहिताग्निर्भवति यो दर्शपूर्ण-

\* 'स्रक्तिः'—इति ग, घ ।

† 'भूत्वा'—इति ग, घ ।



मासाभ्यां यजते ऽथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तु  
देवेभ्यो निष्कृवते \* ॥ ३७ ॥

ऐन्द्रीभ्या माहवनीय मुपतिष्ठन्ते । इन्द्रो ह्याह-  
वनीयो ऽन्नमी मदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।  
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा  
न्विन्द्र ते हरी ॥ सुसन्दृशं त्वा व्वयं मघवन्व-  
न्दिषी महि । प्र नूनं पूर्णवन्धुर स्तुतो यासि  
व्वशा २ ॥ ऽअनु † योजान्विन्द्र ते हरीऽ  
इति ‡ ॥ ३८ ॥

अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्य मुपतिष्ठन्ते । मनो  
न्वाहा महे नाराश०सेन स्तोमेन । पितृणां  
च मन्मभिः ॥ आ न एतु मनः पुनः क्रुत्वे  
दुद्याय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृष्टे \* ॥ पुनर्नः  
पितरो मनो ददातु देव्यो जनः । जीवं व्रातः

\* निष्कृते—इति सा०-सम्मत इति डा० वेवरः ।

† 'वशांश्च्यु'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

‡ 'हरीऽइति'—इति ग ।

§ 'दृष्टे'—इति ग, घ ।



सचे महीति पितृयज्ञेनेव वा ऽएतदचारिषु-  
स्तदु खलु पुनर्जीवानुपिपद्यन्ते तस्मादाह जीवं  
व्वातः सचेमहीति \* ॥ ३९ ॥

अथ यतरो ददाति । स पुनः प्राचीना-  
वीती भुत्वाभिप्रपद्य जपत्यमी मदन्त पितरो  
यथाभाग मावृषायिषतेति यथाभाग माशिषुरित्ये-  
वैतदाह ॥ ४० ॥

अथोदपात्र मादाय । पुनः प्रसलवि त्रिः  
परिषिञ्चन् पर्येति स यजमानश्च पितर मुवने-  
जयत्यसाववनेनिक्षेत्यसाववनेक्षेति पितामह मुसा-  
ववनेनिक्षेति प्रपितामहं तद्यथा जक्षुषे ऽभिषिञ्चे-  
देवं तत्तद्यत् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्  
पर्येति प्रसलवि न इदं कर्मानु सन्तिष्ठाता  
ऽइति तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन्  
पर्येति ॥ ४१ ॥

अथ नीवि मुदृच्छ नमस्करोति । पितृदेवत्या  
वै नीवित्तस्मान्नीवि मुदृच्छ नमस्करोति यज्ञो



वै नुमो यज्ञियानुवैनानेतत् करोति षट् कृत्वो  
 नमस्करोति षड् वा ऽऋतुव ऋतुवः पितरस्तुष्टु-  
 ष्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति तस्मात् षट् कृत्वो नम-  
 स्करोति गृहान्नः पितरो दत्तेति गृहाणां ह पितर  
 ईशत ऽएषो ऽएतस्याशीः कर्मणः ॥ ४२ ॥

ते सर्व्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा । अनु-  
 याजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च  
 पश्चात् परीतः पुरस्तादग्नीदुपविशति होता  
 होतृषदने ॥ ४३ ॥

अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि । समिधु माधा-  
 याग्निं मग्नीत् सम्मृड्ढीति स्तुचावादाय प्रत्यङ्ङ-  
 तिक्रामत्यतिक्रम्याश्चाव्याह देवान् यजेति सो ऽप  
 बर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति प्रजा वै बर्हिर्नेत्  
 प्रजाः पितृषु दुधानीति तस्मादप बर्हिषौ द्वावनु-  
 याजौ यजति ॥ ४४ ॥

अथ सादयित्वा स्तुचौ व्यूहति । स्तुचौ  
 व्युह्य परिधीन्त्समज्य परिधि मभिपृद्याश्चाव्या-  
 हेषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः  
 सूक्तवाकायेति सूक्तवाक् होता प्रतिपद्यते नाध्वर्युः



प्रस्तरुं समुल्लुम्पतीत्येवोपास्ते यदा होता मूक्त-  
वाक माह \* ॥ ४५ ॥

अग्नाग्नीदाहानु प्रहरति । स न किञ्चनानु-  
प्रहरति तूष्णीं मेवात्मानं मुपस्पृशति ॥ ४६ ॥

अथाह संवदस्वेति † । अगानग्नीदगञ्ज्वावय  
श्रौषट् स्वगा देव्या होतव्यः स्वस्ति मानुषेभ्यः शं  
योर्ब्रह्मीत्युपस्पृशत्येव परिधीन्नानुप्रहरत्यथैतद्बर्हि-  
रनुसमस्यति परिधींश्च ॥ ४७ ॥

तद्वैके । हविरुच्छिष्टं मनु समस्यन्ति तदु तथा  
न कुर्याद्भुतोच्छिष्टं वा ऽएतन्नेद्भुतोच्छिष्टं मग्नौ जुहवा-  
मेति तस्मादपो वैवाग्यवहुरेयुः प्राश्नीयुर्वा ॥ ४८ ॥ २ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [६. १.] ॥

\* 'सूक्तवाक माह'—इति ग, घ ।

† 'संवदस्वेति'—इति ग, घ ।



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ पिण्डपितृयज्ञं \* विधितुः पितृणा सुत्पत्ति माह—  
“महाहविषा ह वा इत्यादि † । “येय मेषां विजितिरिति । व्यज-  
यन्तेति सम्बन्धः । “अथ यानित्यादि । ‘यस्मिन्’ वृत्तासुर-  
युद्धे येषां देवानां मध्ये ‘यान् एव’ असुराः ‘अग्नन्’ अमारयन् ,  
‘तान्’ हतान् देवान् पितृयज्ञाख्येन वक्ष्यमाणेन कर्मणा ‘समै-  
रयन्त’ समागच्छन्त । ते मृताः पितृदेवता एव अभवन् ।  
पितृनुद्दिश्य कियमाणत्वात् ‘पितृयज्ञः’ इति अन्वर्थेयं सञ्ज्ञे-  
त्याह— “तस्मादिति ॥ १ ॥

“तद्वसन्त इत्यादि । ‘तत्’ तत्र ‘ये’ देवाः ‘व्यजयन्त’  
विजय मेव प्राप्ताः , न पुनरसुरेण हताः , ‘ते’ वसन्ताद्यृत-  
त्रयात्मकाः ; ‘यान्’ हतवन्तः , ‘ते’ पितृयज्ञेन ‘समैरयन्त’  
समागच्छन् , ‘ते’ एव शरदाद्यास्तत्र ऋतवः । एतेषा मनु-  
रूपत्वप्रतिपादनम् उपरिष्ठात् ‡ “ऋतवः पितरः”—इति करिष्य-  
माणसुत्योपोद्घातत्वेन ॥ २ ॥

\* ‘अथ पिण्डयज्ञ’—इति च ।

† आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशः , सौम्यश्चरुः , सावित्रो द्वादश-  
कपालो ऽष्टाकपालो वा उपांशुदेवतः , सरस्वत्ये चरुः , पूष्यो चरुः ,  
ऐन्द्राग्नौ द्वादशकपालः , माहेन्द्रश्चरुः , वैश्वकर्मण एककपाल उपांशु-  
देवतः । एषा मद्यानां हविषां नाम महाहविरिति ।

‡ इहैव ब्राह्मणे चतुर्थकण्डिकायां ( ३४४ पृ० ६ पं० ) द्रष्टव्यम् ।



इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि उक्तफलसाधनत्वं माह— “अथ यदिति । ‘अथ’ इदानीं मपि ‘एषः’ यजमानः ‘एतेन’ पितृयज्ञेन ‘यजते’ इति ‘यत्’, ‘तत्’ तस्मात् । ‘अह’, ‘तु’, ‘एव’ इति त्रयो निपाताः । ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनं ‘कच्चन’ ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे, क मपि पुरुषं ‘न’ एव ‘मन्ति’ असुरादयो न मारयन्ति । तत्र कृतानुकरत्वे हेतु माह— “इति देवा इति । इत्थं ‘देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ पितृयज्ञास्य कर्म । देवैर्येन प्रकारेणानुष्ठितम्, तेनैव प्रकारेणानुतिष्ठति, न स्वातन्त्र्येण किञ्चित् करोतीत्यर्थः । तदेव द्रव्यदेवतासङ्गं प्रतिपादयति— “यं सु चैवैभ्य इत्यादिना । ‘एभ्यः’ पितृभ्यो ‘यम्’ एव पुरोडाशधानादिरूपम् ‘भागं’ ‘देवाः’ ‘अकल्पयन्’, ‘एतत्’ एतर्हि ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘तम्’ एव भागम् ‘एभ्यः’ ‘करोति’ । तथा देवाः पुरा असुरहतान् पितृभावं प्राप्तान् ‘यान्’ एव ‘समीरयन्त’ समगच्छन्, ‘तान्’ एव पितृत्वं प्राप्तान् देवान् ‘एतद्’ यजमानः ‘अवति’ हविषा तर्पयति । अवतिरत्र तृतीयः \* । तेन च पितृदेवतातर्पणेन ‘स्नान्’ स्वकीयानेव ‘पितृन्’ पितृ-पितामहाद्यान् ‘श्रेयांसम्’ प्रशस्यतमं ‘लोकम्’ ‘उपोन्नयति’ उपप्रापयति । अपि च ‘अत्र’ अस्मिन् कर्मणि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘आत्मनः’ स्वस्य ‘अनुचरणेन’ अनुगमनेन च यदेव प्राणिजातं ‘हन्त्यते’, ‘मीयते’ ताड्यते । यद्वा ‘मीयते’ “मीड्, † हिंसायाम्”

\* “अव-रक्षण-गति-क्रान्ति-प्रीति-तृप्तावगम-प्रवेश-अवण-स्नान्यर्थे-याचन-क्रियेच्छा-दौमत्याप्राप्तिङ्गन-हिंसा-दान-भाग-वृद्धिषु”—इति भा० प० ६०० धा० ।

† ‘मिद’—इति ( भा० प० ८६८ धा० ) च ।



—इति धातुः \* । ‘एतेन’ पितृयज्ञेन अस्य तदेव पुनराध्यायते,  
पुनः प्रवृद्धं भवतीति । “तस्मादिति । पितृयज्ञस्य विधिः ।  
यस्मात् उदीरितफलहेतुः पितृयज्ञः, तस्मादनेन यष्टव्यं मित्यर्थः ।  
‘यजते’—इति पञ्चमलकारेण वर्त्तमानोपदेशः † ॥ ३ ॥

तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते— “स पितृभ्य इति । सोम एषा  
मस्तीति सोमवन्तः कृतसोमयागः । एतद्विशेषयागविशिष्टेभ्यः  
‘पितृभ्यः’ षट्सु कपालेषु संस्कृतं ‘पुरोडाशं’ ‘सः’ यजमानः  
निर्वपेत् । देवताविकल्प माह— “सोमाय वेति । × × ×  
सोमाय वा निर्वापः कर्त्तव्यः । तदुक्तं कात्यायनेनापि—  
“पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षड्कपालः सोमाय वा पितृभ्यो”—  
इति ‡ । इदं देवताविकल्प माण्डूक्यायनोऽप्याह स्म— “पितरः  
सोमवन्तः सोमो वा पितृभ्यो”—इति § । कपालसङ्ख्यां प्रशं-  
सति— “षड् वा इति । “ऋतवः पितर इति । शरद्धेमन्त-  
शिशिराः, त एते यत् पुनः समैरयन्तेत्याज्जातवान्, तत्  
पितृणां मृत्युतादात्म्यम् । यद्वा “यस्मिन् वा ऋतौ पुरुषः  
प्रमीयते, सोऽस्यामुष्मिंस्तोके भवति”—इति शुत्यन्तरे प्रसिद्धे ॥  
वसन्ताद्यृत्वात्मकाः पितरः ॥ ४ ॥

द्वितीयं हविर्विधत्ते— “अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्य इति ।  
बर्हिषि सीदन्तीति बर्हिषदोऽकृतसोमयागाः, केवलहविर्यज्ञ-

\* दि० आ० ११३७ धा० ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, १ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ८, ६, १० ।

§ आश्व० श्रौ० सू० २, १६, २१ ।

॥ तै० ब्रा० १, ६, ८, ३ ।



याजिनः पिनरः । पृषोदरादित्वात् वर्णलोपः \* । एतदुगुण-  
विशिष्टेभ्यः पितृभ्यो धानारूपं हविः कर्त्तव्यमिति शेषः † ।  
तत्करणप्रकारमाह — “अन्वाहार्यपचन इति । सृष्टयवतण्डुला  
धानाः ; तदर्थं दक्षिणाग्नी भर्जनकपालमधिष्ठित्य, तत्र  
तत्तण्डुलानोप्य भर्जनं कुर्यादित्यर्थः । ततो भर्जनानन्तरं ता  
धाना द्वेधा विभज्य, अर्द्धाः प्रकृतिवत् समन्त्रकं ‘पिषन्ति’  
समन्त्रकं चूर्णयन्ति । “पिषू सचूर्णने”—इति धातुः ‡ । ‘अर्द्धा  
इत्येव’ । एवमेवापरा अर्द्धा ‘धानाः’ ‘अपिष्टाः’ पेषणरहिता  
अधिकृता भवन्ति । ता अपिष्टा धानाः ‘पितृभ्यो बर्हि-  
षज्ञाः’ देयाः § ॥ ५ ॥

अथ तृतीयं यागं विधत्ते — “अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्य  
इति ॥ । आधानसंस्काराभावेन त्रेताग्न्यभावात् केवलमौपा-  
सनाग्निनैवाद्यमाना (?) गौः ‘निवान्या’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तस्याः  
पयसि प्रक्षिप्तो मथितो धानाचूर्णः ¶, ‘एकशलाकया’ एका  
चासौ शलाका च, “पूर्वकालैकसर्वम्”—इत्यादिना \*\* समासः ।  
एकथैव शलाकया ‘सकृत्’ एकवारम् ‘उपमथितः’ आलोडितो  
हविः ‘मन्यः भवति’ इत्यर्थः । उपमथनस्य सकृत्त्वं प्रशंसति—  
“सकृदु ह्येवेति । एकवारमेव हि अध्वर्युस्त्वस्माद् गार्हपत्यापरदेशात्  
उत्थाय अन्वाहार्यपचनस्यादूरेणोत्तरप्रदेशे × × × रागता अपुन-

\* “पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्”—इति पा० सू० ६, ३, १०६ ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, ११ ।

‡ सू० प० १५ धा० ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८, १८, १९ द्रष्टव्ये ।

॥ का० श्रौ० सू० ५, ८, १२ ।

¶ एष एव मन्य उच्यते ।

\*\* पा० सू० २, १, ३६ ।



रावृत्ताः सन्तः पितरो भवन्ति (?), अतस्तेषां सक्तत्वं मसाधारण-  
धर्म इति हविःसंस्कारस्यापि सक्तत्वं मुचितं मिति भावः \* ।  
विहितानि त्रीणि हवींषि सन्भूय निगमयति— “एतानिति ॥६॥

एतेषां हविषां या देवताः “पितृभ्यः सोमवद्भ्यः”—इत्यादिना  
निर्दिष्टाः, तासां स्वरूपं परस्मैसासङ्गीर्णं मिति ब्रूते— “तद्य  
इति । ‘तत्’ तत्र ‘सोमेनेजानाः’ सोमेनेष्टवन्तः पञ्चत्वं प्राप्ताः  
‘ते पितरः’ ‘सोमवन्तः’ इत्युच्यन्ते । ‘अथ’—शब्दः त्वर्थः । ‘ये’  
तु ‘पक्केन’ पाकसंस्कृतेन, चरुपुरोडाशादिहविषा देवेभ्यो दत्तेन  
केवलं हविर्यज्ञयाजिन एव † सन्तो ‘लोकं जयन्ति’, ‘ते पितरः’  
‘बर्हिषदः’ इत्याख्यायन्ते । ‘ये’ पुनः ‘ततः’ तयोर्मध्ये ‘अन्ध-  
तरत्’ अपि ‘न’ प्राप्नुवन्ति, केवलं मौपासनान्निरेव ‘दहनं’  
शरीरान्ते ‘स्वदयति’ आस्वादयति, भक्षयतीत्यर्थः । तैत्तिरीयके-  
ऽप्यान्नातम्— “ये वै यज्वानः, ते पितरो बर्हिषदः—० ; ये वा  
अयज्वानो गृहमेधिनः ते पितरोऽग्निष्वात्ताः”—इति ‡ ॥ ७ ॥

पितृयज्ञप्रयुक्तं विशेषं वक्तुं चोदकप्राप्तं मङ्गकलापं मनुक्ता-  
मिति— “स जघनेनेत्यादिना । दक्षिणामुखत्वं प्राचीनावीतित्वं  
च हविर्ग्रहणे विशेष इत्यर्थः । “स तत एवेत्यादि । ‘सः’  
अध्वर्युः तस्माद् गार्हपत्यापरदेशादुत्थाय अन्वाहार्यपचनस्य अदूरे-  
णोत्तरदेशे दक्षिणामुखस्तिष्ठन् अवहन्त्यात् § । चोदकप्राप्तं फली-

\* “यदसक्तदेवानां तत्, सक्तत्वं पित्रा मिति पित्रात्वादत्र सक्त-  
ग्रहणे प्राप्ते आह— ‘चतुर्वा यद्वयम् ( का० औ० सू० ५, ८, १३ )’— इति  
वा निर्द्धारणे”—इति या० दे० ।

† ‘हविर्यज्ञयाजिन एव’—इति च ।

‡ ते० ब्रा० १, ६, ६, ६ ।

§ का० औ० सू० ५, ८, १४ क ।



करणस्य त्रिष्करण मपास्य सकृत्त्वं विधत्ते— “सकृत् फली-  
करोतीति ॥ ८ ॥

“स दक्षिणैवेति । ‘सः’ अध्वर्युः दहिणामुख एव सन्  
अवहननदेशे पेषणार्थं ‘दृषदुपले’ उपदध्यात् । षट्कपालस्य  
पुरोडाशस्य गार्हपत्यदक्षिणायां अपणं विधाय स्तौति— “दक्षि-  
णाहं गार्हपत्यस्येत्यादिना \* । “तद् यदेता मिति । ‘तत्’  
तत्र पितृयज्ञसम्बन्धित्वेनानुष्ठेयपदार्थेषु ‘यद्’ यस्मात् कारणात्  
‘एतां दक्षिणां दिशं सचन्ते’ ऋत्विग्यजमानाः समवयन्ति ।  
“षच समवाये”—इति † धातुः । “एषा हीति । ‘हि’-शब्दो  
दक्षिणस्या दिश इह श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं पितृसम्बन्धं द्योतयति ।  
नथा च तैत्तिरीयकम्— “देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त, प्राचीं  
देवा दक्षिणां पितरः”—इति ‡ ॥ ९ ॥

पित्राया वेदेर्निर्माणं विधत्ते— “अथ दक्षिणेनेति § । “चतुः-  
स्रक्ति मिति । चतस्रः स्रक्तयः कोणा यस्याः सा तथोक्ता । तासां  
चतुःस्रक्तीना मामेयाद्यवान्तरदिक्सम्बन्धं विधत्ते— “अवा-  
न्तरदिशोऽन्विति । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् ।, “कर्म-  
प्रवचनीययुक्ते”—इति द्वितीया ¶ । अवान्तरदिक्स्थाः स्रक्तीः कुर्या-  
दित्यर्थः । स्रक्तीनां चतुष्टयमुपपादयति— “चतस्रो वा इति ।  
पितृणां भवान्तरदिग्रूपता श्रुत्यन्तरप्रसिद्धाभवगन्तव्या ॥ १० ॥

\* का० श्रौ० सू० ५, ८, १४ ख ।

† आ० उ० ६६७ घा० ।

‡ तै० सं० ६, १, १, १ ।

§ “दक्षिणेन दक्षिणामिं परिहृत सुदग्द्वारं तन्मध्ये वेदिं करो-  
त्यवान्तरदिक् सक्तिं माप्रगन्ते”—इति का० श्रौ० सू० ५, ८, २१ ।

॥ पा० सू० “अशुलक्षणे”—इति १, ४, ८४ । ¶ पा० सू० २, ३, ८ ।



अथाग्निस्थापनं विधत्ते— “तन्मध्य इति । दक्षिणाग्नि माहृत्य तस्या वेदेर्मध्ये स्थापयेदित्यर्थः । तथा च कात्यायनः— “अवान्तरदिक् स्रक्ति माप्तग्रान्ते दक्षिणाग्निं मध्येऽस्याः करोति”— इति \* । एतन्मध्ये स्थापनमुपपादयति— “पुरस्ताद्वा इत्यादिना । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्यां दिशि आहवनीयसमीपे ‘प्रत्यङ्चः’ प्रत्यङ्मुखः सन्तो देवा ‘मनुष्यान्’ ऋत्विग्यजमानान् ‘अग्निं’-लब्ध ‘उपावृत्ताः’ उपगता भवन्ति । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘तेभ्यः’ देवेभ्यः ‘प्राङ्’-मुखः ‘तिष्ठन्’ अध्वर्युः जुहोति । व्याप्यावस्थितानां तेषां सर्वतोमुखत्वं उपपादयति— “सर्वतः पितर इति । अवान्तरदिशां व्यापित्वेन तद्रूपाणां पितॄणां मपि व्यापित्वात् प्राच्याद्यन्यतमदिङ्मुखत्वं दुर्ज्ञानमिति सर्वतः परीत्य हवनार्थं मध्येऽग्नेः स्थापनमिति निगमनवाक्यस्यार्थः ॥ ११ ॥

“स तत एवेत्यादि । अस्मिन् हि पितृयज्ञे दक्षिणा दिक् प्राची जाता, ततः प्राक्प्रतीचे तु दक्षिणोत्तरदिशौ सम्पन्नौ ; तत्र सव्यभागेऽवस्थिता प्राची दिक् उत्तरा, दक्षिणभागावस्थिता प्रतीची दिक् दक्षिणा ; तथाच प्रकृतौ उदीच्यां दिशि क्रियमाणं स्तम्बयजुर्हरणं सत्र प्राच्यां सम्पद्यते । अयं मर्थः,— तस्या वेदेः सकाशादेव सोऽध्वर्युः प्राक् प्राच्यां दिशि स्तम्बयजुर्हरेत् † । तस्या वेदेः परिग्रहं मभिनयेन दर्शयति— “अथेत्येवाग्रे इति । ‘अग्रे’ प्रथमम् ‘इत्येव’ एवमेव पश्चाद् भागे दक्षिणापवर्गं रेखया परिगृह्णीयात् । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘इति’ एवम् उत्तरतः प्रागपवर्गं परिगृह्णीयात् । एवं पुरस्ताद् दक्षिणापवर्गं परि-

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. २१ख०, २२ ।

† १ भा० १५७ पृ० “१”—टीप्यनी द्रष्टव्या ।



गृह्णीयात् । अत्र प्रतीच्युदीचीप्राचीत्यनेन क्रमेण पूर्वोक्तरीत्या दक्षिणाप्रतीच्युदग्दिशो भवन्ति । तासु दिक्षु परिग्रहणं प्रकृतौ व्याख्यातम् \* । सूचितञ्च कात्यायनेन— “पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति दक्षिणतः पश्चात् उत्तरतश्च”—इति † ।

लेखनादीनि यानि वेदिसम्बन्धीनि कर्माणि , एतानि सर्वाणि अत्रापि तथैव कर्तव्यानि इति अभिप्रेत्य सिद्धवत् अनु-  
क्रामति— “लिखति हरति यद्गार्यं मित्यादिना ‡ । ‘यत्’ ‘हार्यं’  
हरणौयं भवति , तत् हरेत् इति सम्बन्धः । “स तथैवेति ।  
येन प्रकारेण पूर्वपरिग्रहः कृतः , तेनैव प्रकारेणोत्तरं  
परिग्रहं कुर्यात् ।

ननु “परौ यज्ञे”—इति § परिपूर्वादु ग्रहेर्यज्ञविषये घञा  
भवितव्यम् , कथं मच्,— पूर्व-पूर्वपरिग्रहेणेति , उत्तर परिग्रहे-  
णैतिरूपसिद्धिः ? नैषः दोषः ; “व्यत्ययो बहुलम्”—इति ॥ ‘ग्रह-  
ह-ट-नि-ञ्चि-गमश्च”—इत्यप् \*\* भवति ।

“प्रतिसृज्येति । “पुरा क्रूरास्य”—इति प्रकृतौ यदनुमार्जनम् †† ,  
तत् कृत्वेत्यर्थः । प्रकृतिवदेव ‡‡ “प्रोक्षणीरासादय”—इति  
प्रेष मग्नीध्रप्रेषितार्थानुष्ठानञ्चाह — “प्रोक्षणीरित्यादिना । “स  
यज्ञोपवीतीति । एतावत् कर्म प्राचीनावीतिनैवाध्वर्युणा कर्त-

\* १का० २अ० ४ब्रा० ८—२१ कण्डिका द्रष्टव्याः ।

† का० श्रौ० सू० २. ६. २५ ।

‡ तदुक्तं कात्यायनेन — “पिष्टयज्ञाभिचिब्ययोः”—इति २. ६. २८ ।

§ पा० सू० ३. ३. ४७ ।

॥ पा० सू० ३. १. ८५ ।

\*\* पा० सू० ३. ३. ५८ ।

†† १भा० १६६ पृ० ५ पं० ।

‡‡ १भा० १५५ पृ० १२ पं० , १६८ पृ० ८ पं० द्रष्टव्ये ।



व्यम् ; 'सः' अर्ध्वर्युः इदानीं 'यज्ञोपवीती' 'भूत्वा' प्राकृतवदेव  
'आज्यानि' गृह्णीयात् \* ॥ १२ ॥

तत्रोपभृति ग्रहणे केषाञ्चित् मतं सुपन्यस्यति— "तदाहु-  
रिति । 'द्वौ ह्यत्र'—इति तत्र कारणाभिधानम् । 'अत्र' खलु  
पितृयज्ञे 'हि' यस्माद् 'द्वौ' एव 'अनुयाजौ' प्रयाजानुयाजाना-  
मेव बर्हिष्यस्य विधास्यमानत्वात् प्रथमस्यानुयाजस्य बर्हिषो-  
ऽनुष्ठाने सति दावेवानुयाजौ 'भवतः', अतस्तदर्थं 'द्विरुप-  
भृति गृह्णीयात्' † । ननु प्रयाजेषु समानयनार्थं मपि ग्रहीतु-  
माज्येन भवितव्यमिति चेत्, न ; प्रयाजेषु बर्हिर्युक्तस्य चतुर्थ-  
यागस्य प्रतिषेधेन तत्प्रयुक्तस्य समानयमानस्याप्यभावात् । अत-  
एवोक्तं सूत्रकृता — "असमानयनं वा बर्हिःसंयोगात्"—इति ‡ ।

इदानीं पक्षान्तरं माह— "तदष्टावेवेति । प्रकृतिवद् अष्ट-  
कत्वं एव 'उपभृति गृह्णीयात्' । गृह्णतोऽभिप्रायं माह— "ने-  
दिति । यज्ञसम्बन्धिन्याः विधायाः, विधा प्रकारः संस्था ;  
तस्मात् 'न' एव 'अयानि' गच्छानि 'इति' अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ।

आज्यग्रहणानन्तरं मिधप्रोक्षणादिकर्मस्वध्वर्योः पुनः प्राचीना-  
वीतित्वञ्च विधत्ते — "आज्यानि गृह्णीत्वेति ॥ १३ ॥

इधप्रोक्षणादिकं प्रकृतिवदेव कर्त्तव्यमित्यनुक्रामति—  
"प्रोक्षणीरिति । "अथास्मा इति । 'अथ' वेदिप्रोक्षणानन्तरम्  
'अस्मै' अर्ध्वर्यवे 'बर्हिः' प्रयच्छन्ति । आदाय अर्ध्वर्युहस्ते परि-  
कर्मिणो दद्युरित्यर्थः । "तत्पुरस्ताद्ग्रन्थीति । 'तद्' बर्हिः

\* "यज्ञोपवीत्याज्यग्रहणे"—इति का० औ० सू० ५, ८, २६ ।

† "द्विर्गोपभृति"—इति च का० औ० सू० ५, ८, २७ ।

‡ का० औ० सू० ५, ८, ३६ ।



‘पुरस्तादग्रयि’ पूर्वस्यां दिशि यथा भवति तथा वेद्या मध्य-  
रासादयेदित्यर्थः \* । तत् प्रकृतिवदेव प्रोक्षणीशेषम् ‘उपनीय’,  
बर्हिषः सन्नहनस्य ग्रयिं विद्धंस्व, ततः सकाशात् प्रस्तर-  
मुष्टिं पृथक् न गृह्णीयात् † । तत्र कारणं माह— “सक्तदु-  
ह्येवेति । बर्हिषः सकाशात् प्रस्तरस्य पृथक्करणे बर्हिषः सक्तत्वं  
व्याह्रयेत्, न चैतत् पित्र्यज्ञे युक्तं मिति भावः ॥ १४ ॥

बर्हिषः स्तरणप्रकारं माह— “अथ सन्नहनं मिति । सन्न-  
ह्यतेऽनेनेति सन्नहनं रज्जुः । ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणम्, अग्निं  
परितो वेद्यां ‘त्रिः परिस्तृणन्’ पर्येतीत्यर्थः । एवं परितः  
स्तरणानन्तरं ‘यावद्’ बर्हिः ‘प्रस्तरभाजनं’ प्रस्तरस्य योग्यं  
पर्याप्तं भवति, ‘तावत्’ ‘परिशिनष्टि’ अवशिषयेत् । “अथ  
पुनरिति । ‘अथ’ अप्रदक्षिणपरिगमनानन्तरम् ‘पुनः’ ‘प्रसलवि’  
प्रदक्षिणं ‘त्रिः पर्येति’ । अत एव सूत्रकृतोक्तम्— “बर्हिर्वि-  
द्धंस्व यून्वाग्ने गृहीत्वा त्रिस्तृणन्नग्निं पर्येति प्रस्तरमात्रं शिष्टा  
तावत् प्रतिपर्येति”—इति ‡ ।

एतत् प्रतिपरिगमनं मनूय स्मृति— “तद्यानिवेति । ‘तत्’  
तत्र स्तरणसमये त्रिरप्रदक्षिणगमनेन ‘यान्’ एव ‘असून्’  
विप्रकर्षेण पित्र्यलोकेऽवस्थितान् त्रिविधान् “पित्र्यभ्यः सोमवद्भ्यः”  
—इत्यादिना हविर्देवतात्वेन प्राग्दर्शितान् ‘अन्ववागात्’ अनुप्राप्नोत्,  
‘एतत्’ एतेन पुनस्त्रिः प्रदक्षिणकरणेन ‘तेभ्यः एव’ पित्र्यभ्यः

\* का० औ० सू० ५. ८. २८ ।

† का० औ० सू० ५. ८. ३० । ‘कुशप्रसूप्रस्तरोपसन्नहं’ त्रेधा बर्हिः  
—इति तत्पद्धतौ (५. ७) ।

‡ का० औ० सू० ५. ८. २६, ३० । ‘यून् = सन्नहनम्’—इति या० दे० ।



सकाशात् 'पुनः' 'अपोदेति' अपगच्छति, 'स्व' स्वकीयम् 'इमं लोकम्' 'अभि' प्राप्तुम् । "तस्मादिति, प्रतिपादितार्थ-निगमनम् ॥ १५ ॥

“स दक्षिणैव परिधीनिति । 'सः' स्वयं 'दक्षिणा' दक्षिणाग्रान् 'एव' 'परिधीन्' परिदध्यात् । ततः पश्चात् पुरस्ताच्च तत्र दक्षिणाग्नौ परिधीन्, उत्तरप्रागग्रं प्रस्तरं, सर्वमवशेषितं बर्हिश्च दक्षिणाग्रं स्मृणीयात् । प्रकृतितः प्राप्तं च विष्टयन्तर्द्धानं निषेधति—“नान्तर्दधातीति । अन्तर्द्धानेऽधस्तन-बर्हिषी विभज्येयाताम् ॥ १६ ॥

तस्मिन् प्रस्तरजुह्वादीनामासादनस्थप्रकारविशेषं विधत्ते—  
“स तत्रेति । प्रस्तरस्योपरि पश्चाद्भागे प्रथमं 'जुह्वम्' आसाद्य, ततः पूर्वभागे 'उपभृतम्', ततः पुरस्तात् 'ध्रुवाम्' ‡, अन्ततो 'हवींषि', इत्यनेन क्रमेणासादयन्नासादितहविषा मभिमर्शनं कुर्यादित्यर्थः § ॥ १७ ॥

“ते सर्व एवेति । न केवलमध्वर्युरेव, ऋत्विग्यजमानाः 'सर्व एव ते' अस्मिन् समये 'यज्ञोपवीतिनः' भवेयुः । । 'इत्यात्'—इत्यभिनयदर्शने; अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानौ आहवनीयस्य पुरतो गत्वा, अप्रदक्षिणं पर्यावृत्य, पितृयज्ञवेदेः पश्चाद्देशं

\* का० श्रौ० सू० ५, ८, २४, २५ ।

† १ का० २ प्र० ६, १३, ३ प्र० १, १ द्रष्टव्ये ।

‡ 'सुवो जुह्वः, उपभृतं पृषदाज्योपभृच्च ध्रुवा'—इति पद्वतौ या० दे० ।

§ का० श्रौ० सू० ५, ८, ३१, ३२ ।

॥ “सामिधेनिषेधाद्याज्यभागाभ्यां यज्ञोपवीतिनः सर्वे”—इति का० श्रौ० सू० ५, ८, ३३ ।



‘परीतः’ परिक्रामत इत्यर्थः । आग्नीध्रस्तु तस्या वेदेः ‘पुर-  
स्तात्’ पूर्वदेशं गच्छेत् \* ; तत्र हि स्तम्बयजुर्हरणं कृतम् ॥ १८ ॥

पितृयज्ञेनोपांशुप्रचरणं विधत्ते— “तेनोपांशु चरन्तीति † ।  
“तिर इव वा इति । तिरोहिता एव पितरो ऽभवन्, तेभ्यः  
‘यद्’ ‘उपांशु’ करणम्, ‘तत्’ अपि ‘तिरः’ तिरोहित मेव  
भवति । तथाचान्तर्हितानामुपांशुप्रचरणं युक्तमिति भावः ॥ १९ ॥

पितृयज्ञस्थानस्य परिश्रयणं विधाय स्तौति— “परिवृत  
इति । ‘परिवृते’ परिवेष्टिते स्थाने ; सिद्धं मन्यत् ॥ २० ॥

“स एका मेवेति । ‘सः’ होता “अग्नये समिधमानाय”  
—इति अध्वर्युणा प्रेषितः सन् ‘एका मेव’ ‘सामिधेनी’ ‘त्रिः’  
ब्रूयात् । “प्र वो वाजाः”—इत्याद्याः सामिधेन्यः पञ्चदश ‡ ।  
तत्र सामिधेन्येकत्वे कारणं माह— “सक्तदु ह्येवेति ॥ २१ ॥

अनुवक्तव्यां ता मेकां सामिधेनीं दर्शयति— “सोऽन्वा-  
हेति । ‘सः’ होता “उग्रन्तस्त्वा”—‘इति’ § एतां सामिधेनीं  
त्रिः अनुब्रूयात् । अस्याय मर्थः— हे अग्ने ! ‘उग्रन्तः’ काम-  
यमानाः वयं त्वां ‘निधीमहि’ वेद्यां स्थापयामः । तथा  
‘उग्रन्तः’ त्वत्साध्यं यागं कामयमाना एव सन्तः ‘समिधी-  
महि’ त्वां समिधं करवामहे । अग्ने ! त्वं मपि अस्मदुक्त

\* का० श्रौ० सू० ५. ८. ३४, ३५ ।

† “पितृयज्ञ उपांशुप्रचरणम्, पुरस्तादुपचारः, ब्रह्मयजमानयोश्च,  
पूर्ववदा, अपत्नीकः, दक्षिणाक्षिराहवनीयवत्, पूर्वैणाहवनीयं प्रणीताः  
परिहरति, अर्थवच्च”—इत्यष्टौ ( का० श्रौ० सू० ५. ८. १—८ ) सूत्राणीह  
समन्तादालोच्यानि ।

‡ ऋ० सं० ३. २७. १—१५ ।

§ ऋ० सं० १०. १६. १२ ; य० वा० सं० २०. ७० ।



मर्थे 'उशन्' कामयमानः सन् 'उशतः' अस्मदीयं यज्ञं कामय-  
मानान् 'पितृन्' 'आवह' आगमय । किमर्थम् ? 'हविषे  
अत्तवे' अस्माभिर्दत्तं हविर्भोक्तुम् । "क्रियाग्रहणं मपि कर्त्त-  
व्यम्"—इति \* कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । "अद भक्षणे"  
—इति †, अस्मात् "तुमर्थे सेसेन्"—इति तवेन् प्रत्ययः ‡ ।

"अथाग्निं मावहेत्यादि । सामिधेय्यनुवचनानन्तरम् "अग्निं  
मावह"—इत्याद्यावाहननिगदं ब्रूयात् । तत्राग्नीषोमावाज्यभाग-  
देवते, पितरः सोमवन्त इत्याद्याः प्रधानदेवताः, 'देवा आज्यपाः'  
प्रयाजानुयाजदेवताः । तेषां सर्वेषां मावाहनं कर्त्तुं मग्निः  
प्रेष्यते— "अग्निं होत्राय"—इत्यादिना । शेषेण खिष्टकृदेवताया  
आवाहनप्रतिपादनम् । 'होत्राय' होमाय होतृकर्मणे वा 'अग्निम्  
आवह' । अग्निष्वात्तनाम्नस्तव स्वभूतो महिमा, तम्, तद्रूप-  
स्त्रीकारिणं मग्निं मावहेत्यर्थः । "इत्यावाह्येति । अनेन निग-  
देनावाह्यं तत्रोपविशेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

प्रकृतिवत् प्राप्तं होतृवरणं निषेधति— "अथाश्राव्यं न  
होतारमिति § । आवाहनानन्तरं माश्रावणप्रत्याश्रावणे कृत्वा,  
'सौद होतः !' इत्येवाध्वर्युर्ब्रूयात् ; न तु "अग्निर्देवो देव्या  
होता"—इति निगदेन होतारं प्रवृणीतेत्यर्थः । एतदुपपादयति—  
"पितृयज्ञो वा अयमिति । यतोऽयं पितृयज्ञः, अतोऽत्र  
पितरः सन्निहिताः ; तत्र यदि होतुर्वरणं कुर्यात्, तदा 'न'  
'होतारं' तेषु पितृषु 'दधाति' स्थापयति, न चैतद् युक्तम्,  
'इति' अनेनाभिप्रायेण 'होतारं' 'न' प्रवृणीयात् ; किन्तुर्हि



आश्रावणानन्तरं ब्रूयात् इति, तदाह— “सीदेति । हे ‘होतः’ त्वं ‘सीद’ उपविश ‘इति’ एतत् वाक्यम् अध्वर्युर्ब्रूयात् ; न होतुर्वरणम् । ‘होता’ चैवं कृत्वा ‘होतृपदने’ ‘उपविशति’ उपविशेत् ।

सुगादाननिगदेनाध्वर्युः ‘प्रसूति’ अनुजानाति । “षु प्रसवैश्वर्ययोः”—इति \* धातुः । स च ‘प्रसूतः’ होत्रा प्रेरितः ‘अध्वर्युः’ ‘सूचौ’ जुहपभृतौ ‘आदाय’ ‘प्रत्यङ्’-मुखः अतिक्रामति । ‘अतिक्रम्य’ वेदेः पश्चिमभागे स्थित्वा, आश्रावण-प्रभृति ‘अपबर्हिषः’ बर्हिषश्चतुर्थः प्रयाजः, तद्वर्जं ‘चतुरः प्रयाजान्’ यजेत । बर्हिर्वर्जनस्याभिप्राय माह— “प्रजा वा इति । शिष्टं निगदसिद्धम् † ॥ २३ ॥

हविर्भिः प्रचरणार्थं प्राचीनावीतित्वं पुनर्विधत्ते— “ते सर्व एवेति । ‘ते’ ऋत्विग्यजमानाः ‘सर्व एव’ ‘प्राचीनावीतिनः’ भवेयुः ‡ । ब्रह्मयजमानाग्नीध्राणां पूर्वं परिक्रान्तानां प्रधान-यागार्थं मन्यथा परिक्रमणं विधत्ते— “इत्यादिति । ‘इत्यात्’ अनेन प्रकारेण ब्रह्मयजमानौ चतुःस्रक्तेर्वेदेः ‘पुरस्तात्’ प्रति-गच्छतः, आग्नीध्रः ‘पश्चात्’ प्रतिगच्छेत् । प्रधानहविषो याज्याना माश्रावणवषट्कारानाचष्टे— “तदिति । ‘तत्’ तत्र पित्रेऽपि प्रधानहविष्पु ‘ॐ स्वधा’-इति अध्वर्युराश्रावयेत्, ‘अस्तु स्वधा’-इति आग्निध्रः प्रत्याश्रावणं कुर्यात्, होता ‘स्वधा नमः’-इति

\* अदा० प० ३० धा० ।

† का० श्रौ० सू० ५, ८, ३७ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५, ६, १ । पित्रात्वादपस्यं सर्वत्र प्राप्त मेव, सद्यस्यापि वाचनिकस्याज्यभागान्तस्यावधि ( ८, ३३ ) पूर्ण इति प्राचीना-वीतित्वं प्राप्त मेवेति कात्यायनेन नेह पुनः सूचित मिति ध्येयम् ।



वषट्कुर्यात् । अस्याय मर्थः— “ॐ आवय” — “अस्तु औषट्” — “वौषट्” — शब्दानां स्थाने एते प्रयोक्तव्या इत्यर्थः ॥

तत्रार्धयुप्रैषस्याय मर्थः— ॐ कारोऽङ्गीकारार्थः , स्वधेति पितॄं हविर्नाम । हे अग्नीत् ! पितॄर्थोपादीयमान मिदं हविः तवाभिमतं किं मिति । तत्तथास्त्विति अग्नीत् । नमः शब्दस्यागार्थः , पितॄनुद्दिश्य दीयमानैतत् ‘स्वधा’ तदीयं हविः ‘नमः’ त्यक्तं मत्तु , इति वषट्कारप्रतिनिधिभूतस्य वाक्यस्यार्थः \* ॥ २४ ॥

प्रकृतिवदेवाश्रावणादिकं कर्त्तव्य मिति पक्षान्तरं माह— “तदु होवाचेति । ‘आश्रावयेयुः’—इत्यादिना आश्रावणादि-कर्त्तृणा मध्वर्यादीना मेकत्वेऽपि पूजार्थं बहुवचनम् । ‘यज्ञस्य’ प्रकृतिभूतस्य दर्शपूर्णमासयागस्य ‘विधायाः’ विधा प्रकारः संस्थानम् , तस्मात् ‘न’ एव ‘अयाम्’ प्रचयामहे ‘इति’ प्रागु-दीरितस्यापेक्षा ; अन्यथा हि आश्रावणादीनां प्रकृतिवदप्रयोगात् यज्ञविधायाः प्रच्युतिः स्यादित्यभिप्रायः । अत एव सूत्रकृत् स्वधाकरणयज्ञस्य विकल्पं माह स्म— “ॐ स्वधेत्यस्तु स्वधेति वा-ऽऽश्रुतप्रत्याश्रुते”—इति † ॥ २५ ॥

अनुवाक्यार्थं प्रैषवचनं प्रथमयागस्य विधत्ते — “अथाहेति ।

\* “स्वधा नम इति वषट्कारः”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. १२ ।

† का० श्रौ० सू० ५. ६. ११ । ॐ स्वधेत्यादिषु स्थानापत्त्यां भुतो भवत्येवेति पदमञ्जरीकारः, तथा चाहाश्रलायनः— “निव्याः भुतयः”—इति । तेन ॐ स्वधेत्यत्र ओकारः स्वशब्दगतोऽकारश्च भुतौ,— ‘ओ३५ स्वा३धा’—इति , तथा ‘अस्तु स्वा३धा’—इति , ‘स्वा३धा नमः’—इति । एवं ‘ये यजामहे’—इत्यस्य स्थाने ‘ये३ स्वधामहे’—इत्यपि बोध्यम् ।



पितृप्रधान-सोमप्रधानशेखरभयोरपि युक्तत्वात् तदपेक्षया पितरः  
सोमवन्तः पितृवन्तो वेति विकल्पः प्रागुपन्यस्तः ; तदभि-  
प्रायेणात्रापि सम्प्रैषस्य हेविध्यम् । होतानुवाक्यावचने प्रकृ-  
तितो विशेष माह— “स हो इति । अनुवाक्यादित्वं सुप-  
पादयति — “एकया वा इत्यादि । ‘एकया’ एव अनुवाक्यया  
‘देवान्’ स्वस्थानात् ‘प्रच्यावयन्ति’ देवयजनदेशं भागन्तुम् ।  
पितरस्तु परागमनात् अपुनरावृत्तिङ्गताः , अतो न ते एकया  
पुरोनुवाक्यया प्रच्यावयितुं शक्वाः ; ततः प्रयत्नविशेषे कर्त्तव्ये  
‘होभ्यां’ पुरोनुवाक्याभ्यां होता तान् ‘पितॄन्’ आगमयतीत्यर्थः ॥२६॥

त्रौणि हवींषि समवदाय एकैका देवता यष्टव्या , तत्र  
पितॄणां सोमवतां यजनप्रकारं माह — “स उपस्तृणीत आज्यं  
मिति । “हिराज्यस्येति । आज्येनोपस्तरणं मेकं भवदानम् ,  
पुरोडाशादिहविस्त्रयात् सकृत्सकृदवदानम् , तत् सकृदिति  
यदवदानं सम्पद्यते , एतेन सकृदवदधातीति वाक्यं मुक्तार्थं  
भवति \* । यदि अभिघारणं सुपस्तरणं च सकृदेव स्यात् ,  
तदा चतुरवत्तसम्पत्तिर्न स्यात् ; चतुरवत्तं हि यागयोग्यं  
द्रव्यम् , तस्माद् हिरभिघारणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः † । “प्रत्य-  
नक्त्यवदानानीति । अवद्यत्यस्मादित्यवदानम् , अवत्तशिष्टं हविः ।  
“कृत्यल्युटो बहुलम्”—इति ‡ अपादाने ल्युट् । अवत्तशिष्टानि  
हवींषि प्रत्यज्यादित्यर्थः । प्रकृतिवत् प्राप्तं मतिक्रमणं निषे-  
धति — “नातिक्रामतीति § । कथन्तर्हि कर्त्तव्यं मिति तत्राह—

\* का० औ० सू० ५. ६. २, ३ ।

† का० औ० सू० ५. ६. ४ । ‡ पा० सू० ३. ३. ११२ ।

§ का० औ० सू० ५. ६. ५ ।



“इत एवेति । यत्रोपविश्यावद्यति , ‘इत एव’ स्थानात् ‘उपो-  
त्याय’ तत्रैव तिष्ठता आश्रावणादिकं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥

द्वितीयद्वितीययागयोरेवमेवानुप्राणनप्रकारं दर्शयति—“अथा-  
हेति । अत्रापि पूर्ववदेव पुरोनुवाक्यादित्वं भवगन्तव्यम् ।  
“उपस्तृणीत इत्यादि , पूर्ववत् ; एतावांस्तु विशेषः,— द्वितीय-  
यागस्य हविरादाने धानानां प्राथम्यम् , तृतीयस्य हविरादाने  
मन्थस्य प्राथम्यम् । अस्मादेव प्राथम्यात् सोमवदादियागत्रयस्य  
हविषां त्रयस्य धारणेऽपि निर्वापकाले सपितृभ्यः सोमवद्गाः  
षट्कपालं पुरोडाश मिति विशेषाभिधानम् \* ॥ २८ , २९ ॥

इत्थं प्रधानयागं कृत्वा खिष्टकृत्स्थानेऽग्निः कव्यवाहनो यष्टव्य  
इत्यभिप्रेत्य तदनुवाक्याप्रैषस्य वचनं विधत्ते— “अथाह्मनय  
इति । “तत् खिष्टकृत इति । यदेतत् “अग्नये कव्यवाहना-  
यानुब्रूहि”—इति सम्प्रैषवचनम् , ‘तत्’ ‘खिष्टकृते’ खिष्टकृत्या-  
गार्थम् । पितृणां कव्यवाहनसम्बन्धप्रतिपादनेनैवैतदुपपादयति—  
“कव्यवाहनो वा इति । देवेभ्यो दीयमानं हविः ‘हव्यम्’,  
पितृभ्यस्तु दीयमानं तत् ‘कव्यम्’ । तदुभयं वहतीति हव्य-  
वाहनकव्यवाहननामानौ हविर्वाग्नी क्रमेण देव-पितृ-सम्बन्धिनौ ।  
“कव्यपुरीषपुरीषेषु ज्युट्”—“हव्येऽनन्तःपादम्”—इति सूत्राभ्यां †  
वहतेर्ज्युट् । एष चाग्नेरवान्तरमेदः प्रागप्यान्नातः , तैत्तिरी-  
यकोऽप्यान्नायते— “त्रयो वा अग्नयः ; हव्यवाहनो देवानाम् ,

\* “सोमाय वा पितृभ्यो , एवं वहिषद्भ्य उत्तरतो धानामन्थ-  
पुरोडाशानाम्”—अग्निव्याक्तेभ्यो दक्षिणतो मन्थपुरोडाशधानानाम्”—  
इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ६, ७, ८ ।

† पा० सू० ३. २. ६६, ६७ ।



कव्यवाहनः पितृणाम्, सहरक्षाः असुराणाम्”—इति \* ।  
यस्मादेवं कव्यवाहनः पितृणां सम्बन्धी, तस्मात् “अग्नये कव्यवाह-  
नाय”—इत्येव वक्तव्य मितिः निगमयति—“तस्मादाहेति † ॥ ३० ॥

तस्य स्विष्टकृत्स्थानीयस्य कव्यवाहनयागस्य पूर्ववदुपस्तरणादि-  
होमान्तानुष्ठानप्रकार माह— “स उपस्तृणीत इत्यादिना । स्विष्ट-  
कृत्थागस्य शेषद्रव्यसाध्यत्वात् हविरुत्पत्तिक्रमेणैवात्रावदान मित्य-  
भिप्रेत्याह— “अथास्य पुरोडाशस्येति । “न प्रत्यनक्तौति ।  
हविःप्रत्यभिघारणस्य स्विष्टकृदर्थत्वात् तस्य च हविषो ग्रहणात्  
पुनः प्रत्यभिघारणं न कर्त्तव्य मित्यर्थः । अन्यदुक्तार्थम् ‡ ॥ ३१ ॥

स्विष्टकृच्चतुर्थेषूक्तेषु यागेषु नातिक्रामतीति योऽतिक्रमनिषेध  
उक्तः, त मनूय स्तौति— “स यन्नातिक्रामतीति । सकृदवदानं  
प्रशंसति— “अथ यदिति । सोमवदादियागत्रयेऽपि यद्विषो  
व्यतिषजन मुक्तम्, “अथास्य पुरोडाशस्यावद्यतीत्यादिना, तद-  
नूय स्तौति— “अथ यद् व्यतिषज्ज मिति । क्रियाविशेषणम् ;  
परस्परं संसृष्टं यथा भवति तथेत्यर्थः । “ऋतवो वै पितर  
इति । पितृणां ऋतुरूपत्वं प्रागेव दर्शितम्— “त उ ते यान्  
पुनः समैरयतेति । तथा च ‘एतत्’ एतेन, पित्रदेवत्यहविषा  
व्यतिषज्जनेन ‘ऋतूनेव व्यतिषजति’ परस्परं संसर्जयति, तेन  
व्यतिषजनेन तान् ‘ऋतून्’ ‘सन्दधाति’ परस्परं भविनाभूतान्  
करोति ॥ ३२ ॥

अथेडां प्रत्यान्नायत्वेन मन्यस्याधान मेकीयमतेनोपन्यस्यति—  
“तद्वैक इति । ‘तत्’ तत्र खलु ‘एके’ शाखिनः यागशिष्टम्

\* ते० सं० २. ५. ८. ११ ।

† का० औ० सू० ५. ६. १० ।

‡ “पुरस्तादग्नये कव्यवाहनाय यथापूर्वम्”—इति का० औ० ५. ६. ६ ।



‘एत मेव मन्यं होत्रे आदधति’ होतुर्हस्ते प्रक्षिपन्तीत्यर्थः ।  
 एतस्मिन् पक्षे होतुः कर्त्तव्यं सुपदिशति— “तं होते-  
 ति । “उपह्वयेति । वेदिसमीपे इडानिगदेनोपह्वं कृत्वा ,  
 तदनन्तरं सवघ्नाय अग्नीध्रे दद्यात् । सोमवज्जिघ्रत्वेव , न तु  
 कस्य चिदप्यत्र भक्षणं मस्तीत्येवकारार्थः । प्राशित्वेडावदान-  
 पक्षं मय्याह— “एतन्नेवेति । ‘नु’-इति प्रसिद्धौ , ‘एव’-कारो-  
 ऽवधारणार्थः , ‘उत’-गन्धोऽप्यर्थः \* । अपि खल्वेतद् वक्ष्यमाणं  
 मेकं पक्षं केचिदनुतिष्ठन्ति । तदेव दर्शयति— “यथा त्वेवेति ।  
 ‘तु’-शब्द एकीयमतव्यावृत्त्यर्थः । ‘इतरस्य’ दर्शपौर्णमासादेः  
 ‘यज्ञस्य’ ‘यथा’ इडां प्राशित्वं च ‘समवद्यन्ति’ सर्वेभ्यो हविर्भ्यः  
 सम्भूयावद्यन्ति , ‘एव मेव’ ‘एतस्यापि’ पितृयज्ञस्य समवद्येयुः ।  
 “अवैव जिघ्रन्तीति । अस्मिन्नपि पक्षे इडाप्राशित्रयोरवघ्नाय  
 मेव कर्त्तव्यम् , न तु प्राशनमित्यर्थः । प्राशनपक्षं मय्याह—  
 “प्राशितव्यं त्वेवेति । इडावदानं च यज्ञान्तरवत् अत्रापि  
 ‘प्राशितव्यं मेव’ ‘वयं मन्यामहे’ ‘इति’ ‘आसुरिः’ महर्षिः  
 प्रतिपादयतीत्यर्थः । एवं प्रतिपादयत आसुरेरभिप्राय माह—  
 “यस्य कस्येति । इडां प्राशन्तः ऋत्विजः ‘यस्य कस्यचित्’  
 आत्मनः सम्बन्धिनि ‘अग्नी’ वैश्वानरे तद्धविः ‘जुह्वति’ , अतः प्राशने  
 न शेष इत्यनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः † ॥ ३३ ॥

यजमानपितृनुद्दिश्य पिण्डप्रदानं मध्वर्युयजमानयोरन्यतरस्य  
 कर्त्तव्यत्वं सिद्धवदनुवदनम् , तत्प्रागङ्गं सवनेजनं विधत्ते—

\* काचोतेति चानुसन्धेयम् ।

† “मन्यं सुपह्वयं होताध्वर्युर्ब्रह्माग्नीध्रवप्राहं निदधति , प्राशित्वं  
 सवदायेडां वा , सर्वे प्राशन्ति वा”—इति का० श्रौ० सू० ५, ६, १३—१५ ।



“अथ यतर इति । अध्वर्युयजमानयोर्मध्ये यतर इत्यर्थः ।  
 “किं यत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य उतरच्”—इति \* उतरजन्तः ।  
 ‘यदि अध्वर्युर्वा यजमानो वा’ ‘दास्यन्’ पिण्डदाता ‘भवति’,  
 ‘सः’ स्वयं यजमानः अध्वर्युर्वा ‘उदपात्रम्’ उदकपूर्णं पात्रम्  
 ‘आदाय’, ‘अपसलवि’ अप्रदक्षिणं ‘त्रिः परिषिञ्चन्’ पितॄणां  
 वेदिम् ‘पर्येति’ † । “स यजमानस्येति । ‘सः’ अध्वर्युः ‘यज-  
 मानस्य पितरम्’ “असाववनेनिच्छ”—इति मन्त्रेण ‡ ‘अव-  
 नेनिच्छेति’ अवनेजति । यजमानस्तु यदि स्वयं पिण्डदाता  
 भवति, तदा स्वकीय मेव पितर मवनेजयेत् । “असावव-  
 नेनिच्छ”—इत्यादिकं पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् § ॥ ३४ ॥

“अथास्य पुरोडाशस्येत्यादि । पुरोडाशादिहविःशेषान् ‘सव्ये  
 पाणौ’ ‘अवदाय’ आलोढ्य, त्रीन् पिण्डान् कृत्वा, तस्मिन्नेव  
 हस्ते धारयेत् ॥ ॥ ३५ ॥

“स येमा मवान्तरदिश मिति । ‘इदं’-शब्देनोत्तरापरां  
 दिश मभिनयेन निर्दिशति ¶ । “अनुलक्षणे”—इति \*\* लक्षणे  
 अनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वम् । उत्तरापरस्यां दिशि येयं वेदेः  
 स्मृतिः, ‘तस्यां’ ‘यजमानस्य पित्रे’ “असावेतत् ते”—‘इति’

\* पा० सू० ५. ३. ६२ ।

† ‘वेदिं’ त्रिः परिषिञ्चति उदपात्रेणाध्वर्युयजमानो वा”—इति  
 का० औ० सू० ५. ६. १६ ।

‡ पुरस्तादिहैव ४ अ० २. २३ कण्ड्या श्रुतोऽयम् ।

§ पुरस्तादिहैव काण्डे ४ अ० २. २३ भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

॥ का० औ० सू० ५. ६. १६ ।

¶ ‘दर्शयति’—इति च ।

\*\* पा० सू० १. ४. ८४ ।



मन्त्रेण \* । पितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते— “अथ येमा मिति ।  
 ‘इदं’-शब्देन दक्षिणापरा अवान्तरा दिग् गम्यते । अन्यत्  
 समानं पूर्वेण । प्रपितामहस्य पिण्डदानं विधत्ते— “अथ  
 येमा मिति । अत्रेदमा दक्षिणपूर्वा दिगभिनयेन निर्दिश्यते ।  
 अत्र या वेदेः स्तुतिः, तस्यां प्रपितामहार्थं पिण्डं दद्यात् † ।  
 इत्थंः तिसृषु स्तुतिषु पिण्डदानं विधाय, अवशिष्टायां स्तुतौ  
 समन्वये लेपमार्जने विधत्ते— “अथ येमा मवान्तरदिश मिति ।  
 इमा सुत्तरपूर्वा मवान्तर दिश मनु या वेदेः स्तुतिः, तस्याम्  
 “अत्र पितरः”—‘इति’ मन्त्रेण ‡ हस्तगलेपं ‘निमृष्टे’ निमृजीत ।  
 तथा चोक्तं सूत्रकृता— “उत्तरापरस्यां प्रथमम्, सव्ये समवदाय  
 सर्वेभ्यो यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसावेतत्त इति, उत्तरपूर्वस्यां  
 पाणी निमृष्टेऽत्र पितर इति”—इति § । “असावेतत्ते”—इत्यादि  
 मन्त्रार्थः पिण्डपितृयज्ञे एव वर्णितः ॥ । प्रपितामहादिभ्यः  
 उत्तरीत्या पिण्डान् ददातीत्यर्थः । तथाचैवं सति ‘स्नान्’  
 स्वकीयान् ‘पितृन्’ ‘एतस्मात्’ पितृयज्ञात् ‘नान्तरेति’ अन्तरितान्  
 न करोति, अपि तु भागिनः कृतवान् भवति ॥ ३६ ॥

आहवनीयोपस्थानं विधत्ते — “ते सर्व एवेति ¶ । “उदच्च

\* पुरस्तादिहैव ४ अ० २, १६ कण्ड्यां श्रुतोऽयम् ।

† “स्तुतिषु पित्रावनेजनं परिधिच्य—परिधिच्य पूर्ववत्”—इति का०  
 औ० सू० ५, ६, १७ ।

‡ वा० सं० २, ३१ ।

§ का० औ० सू० ५, ६, १८, १९, २० ।

॥ पुरस्तात् २०८ पृ० ७ पङ्क्तितो द्रष्टव्यः ।

¶ “यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदक्षोऽचन्नमीमदन्तीत्याहवनीय  
 सुपतिङन्ति दाध्याम्”—इति का० औ० सू० ५, ६, २१ ।



उपनिष्क्रम्येति । उदङ्मुखाः सन्तः परिवृतात् पिण्डपितृ-  
यज्ञस्थानात् निर्गल्येत्यर्थः । “देवान् वा इत्यादि । ‘यः’  
खलु ‘आहिताग्निर्भवति’, ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां’ च ‘यो यजते’,  
‘एषः’ ‘देवान्’ ‘उपावर्त्तते’ उपगतो भवति, देवसम्बन्धगतस्य  
यजमानस्य देवान् परित्यज्य यत् पितृयज्ञाचरणम्, तेन देवानां  
मनसि क्रोधोऽभूत् ; पुनरावृत्त्याहवनीयोपस्थानेनातीवोदासीनता-  
जनित मपराधं ‘देवेभ्यः’ ‘निङ्गुवते’ शमयन्ति ॥ ३७ ॥

“ऐन्द्रीभ्या मिति, मन्त्रविधिः । ऐन्द्रा ऋचः कथं मन्त्र्यु-  
पस्थाने सङ्गतिः, लिङ्गविरोधात् ? इत्यत आह — “इन्द्रो  
ह्येति । परमैश्वर्ययोगादाहवनीय एवेन्द्रः, अतस्तदीयोपस्थाने  
ऐन्द्रा करणत्वं न विरुद्धत इत्यर्थः । त एवेन्द्रगौ पठति—

“अक्षन्मीमदन्तेति \* । ‘अक्षन्’ अस्माभिर्दत्तं हविः  
पितरः अक्षन् । अर्देर्लुङि “लुङ्सनोर्घञ्”-इति † घञ्ज्ञादेशे,  
“मन्त्रे घसङ्करणश्च”-इति ‡ च्लोर्लुकि, “गमहन०”-इति §  
उपधालोपे, अक्षन्निति रूपम् । ‘हि’ यस्मात् एवम्, अतस्ते  
पितरो हविःस्वीकारेण ‘अमीमदन्त’ तस्मा अभवन् । “मद  
त्वमित्योगे”-इति ||, अस्मात्स्वप्नतात् लुङि चङि रूपम् । त्वमि-  
रपि कुतोऽवगम्यते इति तच्चाह— “अवप्रिया इति । ‘प्रियाः’  
आत्मीयाः तनूः ते पितरः ‘अव अधूषत’ भुक्तस्य हविषो  
रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थम् अवाकम्पयन् । “धूञ् कम्पने”-इति ¶  
धातुः । तदनन्तरं ‘स्वभानवः’ स्वायत्तदीप्तयः, ‘विप्राः’ मेघा-

\* वा० सं० ३. ५१ ।

† पा० सू० २. ४. ३७ ।

‡ पा० सू० २. ४. ८० ।

§ पा० सू० ६. ४. ४८ ।

|| पु० आ० २२६ घा० ।

¶ पु० उ० ३०१ घा० ।



विनः ते पितरः हविषः प्रदातारं यजमानं नविष्ठया नव-  
तरया 'मती' मत्वा सुत्वा 'अस्तोषत' उपभुक्तं हविः प्राशंसन्,  
सम्यगेतत् सञ्जात मिति । आहवनीयावस्थित ! हे 'इन्द्र !'  
त्व मपि 'ते' त्वदीयौ 'हरी' अश्वौ गमनार्थं 'नु' क्षिप्रं 'योजान्'  
योजयेति प्रथमाया ऋचोऽर्थः ।

“सुसन्दृशं त्वेति \* । हे 'मघवन् !' धनवन् ! आहवनीय-  
रूपेन्द्र ! सुष्ठु-सन्दर्शनीयं 'त्वा' त्वां 'वन्दिषीमहि' नुमः,  
अभिवादयामो वा । “वदि अभिवादनसुत्योः”—इति † धातुः ।  
अस्माभिः वन्दितस्त्वं 'पूर्णबन्धुरः' दत्तेन हविषा पूर्णेन रथ-  
नीडेन युक्तः, 'सुतः' च सन् अस्माभिः कृतं स्तोत्रं हविष्य  
स्वीकृत्य 'वशान् अनु' कामान् अनु यथाकामं यथेष्टं 'प्रयासि' ।  
“योजानित्यादि, पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— “अथ प्रतिपरेत्येति ‡ । 'प्रति-  
परेत्य' आहवनीयसमीपात् प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । तस्मिन् गार्ह-  
पत्योपस्थाने “मनो न्वाह्वामहे”—इत्याद्यास्त्रयो मन्त्रा पठिताः,  
तेषा मय मर्थः—

तत्र प्रथमा “मनो न्विति § । अस्मदीयं 'मनः' 'नु'  
क्षिप्रम् 'आह्वामहे' । केन साधनेन ? 'नाराशंखेन स्तोमेन' नरैः  
शंसनीयेन स्तोत्रेण, 'पितॄणां' सम्बन्धिभिः 'मन्त्रभिः' मननैश्च ॥

“आ न एत्विति ॥ द्वितीया । पितृयज्ञकरणादप्रकान्त

\* वा० सं० ३. ५२ ।

† आ० आ० ११ घा० ।

‡ “मनो न्वाह्वामहे इति गार्हपत्यं तिसृभिः”—इति का० औ०  
सू० ५. ८. २२ ।

§ वा० सं० ३. ५३ ।

॥ वा० सं० ३. ५४ ।



मस्मदीयं 'मनः' 'पुनः' अस्मान् 'एतु' आगच्छतु । किमर्थम् ? 'कृत्वे' कृतकर्म्मणे , 'दत्ताय' बलाय, 'जीवसे' जीवनाय, 'ज्योक्' चिरकालं 'सूर्यं च' 'दृशे' द्रष्टुम् । "दृशे विख्ये च"—इति \* तुमर्थे निपात्यते ॥

पुनर्न इति † तृतीया । हे 'पितरः !' 'दैव्यः' देवसम्बन्धी 'जनः' 'नः' अस्मभ्यं 'मनः पुनः ददातु' । 'जीवं' जीवनवन्तं, 'व्रातं' गणम् पुत्रपौत्रादिसमूहम् 'सचेमहि' प्राप्नुयामेति । अन्तिमपादे जीवशब्दप्रयोगस्याभिप्राय माह— "पितृयज्ञेनेवेति । 'पितृयज्ञेन' खलु 'एतत्' इदानीम् 'अचारिषुः', अतः पितृयज्ञस्य कर्त्तार ऋत्विग्यजमानाः पितृसम्भक्ताः सन्तः प्रजायुक्ता भवेयुः । 'तत्' तथा सति "जीवं व्रातम्"—इति अनेन मन्त्रभागेन 'जीवान्' एव पुत्रपौत्रादीन् 'अपिपद्यन्ते' अपिगच्छन्ति । "तस्मादिति, उक्तार्थनिगमनम् ॥ ३६ ॥

पिण्डदातृजपं विधत्ते— "अथ यतर इति ‡ । 'अथ' उपस्थानानन्तरम् , अध्वर्युयजमानयोर्मध्ये 'यतरः' पिण्डं 'ददाति', 'स पुनः' 'प्राचीनावीती' 'भूत्वा', पितॄं देशम् 'अभिपद्य' प्रविश्य "अमीमदन्त"—इति § मन्त्रं जपेत् । स च मन्त्रः , तद् ब्राह्मणं च पिण्डपितृयज्ञे व्याख्यातम् ॥ ४० ॥

पिण्डदानस्योदीच्याङ्गं सुदकावनेजनं पूर्ववद् विधत्ते— "अथोदपात्र मिति । "तद्यथा जक्षुषे इति , अवनेजनस्य

\* पा० सू० ३. ४. ११ ।

† वा० सं० ३. ५५ ।

‡ का० औ० सू० ५. ६. २३ ।

§ वा० सं० २. ३१. २ ।

॥ पुरस्तात् २१० पृ० ७ पङ्क्तिर्नो द्रष्टव्यम् ।



प्रयोजनकथनम् । एतत् सर्वं पिण्डपितृयज्ञे एव व्याख्यातम् \* ।

विहितं परिषेचनं पुनः श्रुतम् , तस्य यत् प्रादक्षिण्यम् , तत् स्तौति— “यत् पुनरित्यादिना । “प्रसलविन इति । अपसल मप्रादक्षिण्यम् , तद्विपरीतं प्रसलं प्रादक्षिण्यम् ; मत्वर्थीयो विनिः । प्रादक्षिण्यवतो मम ‘इदं’ पितर मपि ‘कर्म’ ‘अनुसन्तिष्ठतै’ संस्थितं भवेत् । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण अवसाने ‘प्रसलवि’ सव्येन परिषेचनं क्रियत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

“अथ नीवि मित्यादि † । पिण्डपितृयज्ञप्रकरणे व्याख्यातम् ‡ ॥ ४२ ॥

चोदकप्राप्त मनुयाजाद्युदीच्याङ्गकलापं सविशेष मतः परमनुक्रामति— “ते सर्व एवेति । “इत्याद्यजमानश्चेति । प्रयाजाद्युदीच्याङ्गानुष्ठानसमये एव ब्रह्मयजमानाद्याः तत्र तत्र स्थाने परीत्योपविशेयुः § ॥ ४३ ॥

“अथाहेति । “प्रत्यङ्ङतिक्रामतीति । प्राचो दक्षिण-दिक्तस्य प्रागुपपादितत्वात् दक्षिणातिक्रमणस्थाने पत्यङ्मुखोऽध्वर्युरतिक्रामेदित्यर्थः । ‘अपबर्हिषौ’ बर्हिः प्रथमानुयाजः , तदर्जितौ ‘द्वावनुयाजौ’ यज-यजेति । बर्हिर्वर्जने कारण माह— “प्रजा वा इति ॥ ४४ ॥

सुगव्यूहनादिकं प्रकृतिवत् कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति—

\* पुरस्तात् २१० पृ० १८ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† “अवनेव्य पूर्ववत् प्रदक्षिणं नीविं विसंख्य नमो व इत्यञ्जलिं करोति षड् वा नमस्कारान् गृह्णान नः पितरो दत्त”—इति का० श्रौ० सू० ८. ६. २४, २५, २६ ।

‡ पुरस्तात् २११ पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् । § का० श्रौ० सू० ५, ६, २७ ।



“अथ सादयित्वेत्यादिना । सूक्तवाकानुवचनं प्रकृतिवत् प्राप्तम् । प्रस्तरप्रहरणं निषेधति— “नाध्वर्युरिति \* । ‘न समुल्लुम्पति’ न गृह्णाति, न प्रहरेत्, तूष्णीं मेवोपासीत प्रस्तर मा प्रहरणम् † ॥ ४५, ४६ ॥

अग्नीत्प्रेषस्यानिवृत्ति माह— “अथाहेति । “स्वगा दैव्या होतृभ्यः”—इति सत्प्रेषेऽध्वर्युणोक्ते होता शंयुवाकं ब्रूयात् ; न च तदानीं मध्वर्युः परिधीननुप्रहरेत्, केवलं सुपसृशेदेव ‡ । बर्हिषः परिधीनाच्च तूष्णीं मग्नीं प्रहरणं विधत्ते— “अथैतदिति । ‘एतत्’ चतुःस्रक्त्यां वेद्यां स्त्रीणं ‘बर्हिः’ ‘परिधींश्च’ आदाय युगपदग्नीं ‘अनुसमस्यति’ प्रक्षिपति § ॥ ४७ ॥

अथाग्नीं प्रक्षेप मेकीयमतेनोपन्यस्यति— “तद्वैक इति । तदेतन्निषिध्योपपादयति— “तदु तथेति । हुतशेषस्य पुनर्होमयोग्यत्वाभावात् नैष पक्षो युक्त इत्यर्थः । का तर्हि हविः-शेषस्य प्रतिपत्तिरिति, ता माह— “तस्मादिति । ‘हुतोच्छिष्टम् अपोऽभ्यवहरेयुः’ । अग्नीं प्रासनपक्षस्य व्युदासार्थं ‘एव’-कारः । ऋत्विजो ‘वा प्राश्नीयुः’ इति पक्षान्तरम् ॥ सूक्तकारोऽप्येतत् सर्वं

\* “न प्रस्तर मादत्ते”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २८ ।

† “अनुप्रहरेत्युक्ते किञ्चनापि नानुप्रहरति, तूष्णीं मात्मानं संसृजति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. २६, २७ ।

‡ उपसृश्य परिधीन् नानुप्रहरति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३१ ।

§ “बर्हिःपरिध्यग्नौ प्रास्यति”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३३ ।

॥ “हविरुच्छिष्टश्च, अश्व, प्राश्यां वा”—इति का० श्रौ० सू० ५. ६. ३४, ३५, ३६ ।



साहस्र—“न प्रस्तर मादत्त इत्यादिना \* ॥ ४८ ॥ २१ [६.१.] ॥

इति श्रीसायणार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० ५. ६. २८-३६ सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

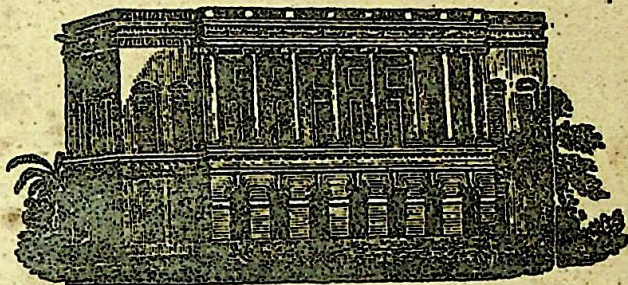
† “अथात्र चिन्त्यते । के पुनस्ते पितरो येभ्य इदं दीयते ? उच्यते—  
यजमानस्य पित्र्यो ददातीत्यादिवचनात्, एत एव पितरः ; तेभ्यो जीवङ्ग  
एव दाने प्राप्ते,—“प्रेतेभ्यो ददाति”—इति वचनात्, “सङ्गुड ह्येव  
पराञ्चः पितरः”—इत्यादिदर्शनेभ्यश्च प्रेतेभ्यो देयम् । अथ “वसवः पितरो  
ज्ञेया रुद्रा ज्ञेया पितामहाः । प्रपितामहास्तथादित्या इत्येषा वैदिकी  
श्रुतिः”—इति, तथा “यानेवैषां तस्मिन्सङ्गामेऽङ्गंस्तान् पित्र्यज्ञेन समै-  
रयन्त, पितरो वै त आसन्”—इति ( २ का० ६. १. १. ), तथा “शरङ्ग-  
मन्तश्शिश्निरास्ते पितरः”—इति, तथा अग्निध्वत्तादयः पित्र्यगणा स्तेषां  
कोपयोगः ? एत एव तु आधिदैविकाः पितरः, ततश्च यथा ब्राह्मणे  
लप्यति पितरस्तप्यन्ति, तथा तेष्वपि लप्यन्तु आधिदैविकावस्थास्ते  
लप्यन्ति; महापित्र्यज्ञे तु त एव सोमपादय उच्यन्ते । पित्र्यञ्च  
सक्तिष्ठे प्रेतेभ्यो एव दीयन्ते । अथ यस्य पितरो मुक्ताः स्युः, स कथं  
दद्यात् ? सोऽपि तेभ्य एव ब्रह्मत्व मापन्नेभ्यो ददन् बहुतरणैर्वैनसा विसृ-  
च्यते । या तु तेषां हस्तिस्तदानुसङ्गिकं फलम्, न तदभावे क्रियानादर्त्तया ।  
वखादयस्त्वाधिदैविकाः, तेऽपि लप्यन्त्वेव; शास्त्रेण विशेषोपादान विधा-  
नादिति गम्यते”—इत्याह्वानं हरिस्वामी । तैत्तिरीयकास्त्वेवं समामनन्ति  
—“देवान् वै पित्र्यं प्रीतान् मनुष्याः पितरोऽनुप्रपिपते”—इति तै० ब्रा०  
१. ३. १०. ४ । ‘दिविधा हि पितरः, देवात्मका मनुष्यात्मकाश्च’—इत्यादि  
सायणीयं भाषाञ्चात्र द्रष्टव्यमिति दिक् ॥



BIBLIOTHECA INDICA :  
A  
Collection of Oriental Works

PUBLISHED BY THE  
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, No. 1159.



॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशख्यभाष्यसहितम् ॥

THE ÇĀTĀPATHA BRĀHMAṂA  
OF THE WHITE YAJURVEDA,  
WITH THE  
COMMENTARY OF SĀYANA ĀCĀRYA.

EDITED BY  
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMĪ.

VOL. II, FASCICULUS V.

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTERJI, SATYA PRESS.

AND PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET,
1906.

LIST OF BOOKS FOR SALE

AT THE LIBRARY OF THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL,

No, 57, PARK STREET, CALCUTTA,

AND OBTAINABLE FROM

THE SOCIETY'S AGENTS MR. BERNARD QUARITCH,

15, L'ICCADILLY, LONDON, W., AND MR. OTTO

HARRASSOWITZ, BOOKSELLER, LEIPZIG, GERMANY.

*Complete copies of those works marked with an asterisk * cannot be supplied—some of the Fasciculi being out of stock.*

BIBLIOTHECA INDICA.

Sanskrit Series.

*Advaita Brahma Siddhi, (Text) Fasc. 2,4 @ /5/ each	...	Rs.	0	12
Advaitachinta Kaustubhe, Fasc. 1-2	0	12
*Agni Purāṇa, (Text) Fasc. 4-14 @ /5/ each	4	2
Altareya Brāhmaṇa, Vol. I, Fasc. 1-5 and Vol. II, Fasc. 1-5; Vol. III, Fasc. 1-5, Vol. IV, Fasc. 1-8 @ /5/	8	10
Aphorisms of Sāṃdilya, (English) Fasc. 1	0	12
Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā, (Text) Fasc. 1-6 @ /5/ each	2	4
Acvavāidyaka, (Text) Fasc. 1-5 @ /5/ each	1	14
Avadāna Kalpalatā, (Sans. and Tibetan) Vol. I, Fasc. 1-5; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	10	0
A Lower Ladakhi version of Kesarasaga, Fasc. 1...	1	0
Bāla Bhaṭṭi, Vol. I, Fasc. 1-2	0	12
Bāudhayana Śrauta Sūtra, Fasc. 1-3 @ /5/ each	1	2
Bhāṭṭa Dīpikā Vol. I, Fasc. 1-5	1	14
Brhaddēvatā, (Text) Fasc. 1-4 @ /5/ each	1	8
Brhaddharma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-6 @ /5/ each	2	4
Bodhicaryavatara of Cāntidevi, Fasc. 1-3	1	2
Qatadusani, Fasc. 1-2	0	12
Catalogue of Sanskrit Books and MSS., Fasc. 1-4 @ 2/ each	8	0
Qatapatha Brāhmaṇa, Vol I Fasc 1-7, Vol II Fasc 1-5, Vol III Fasc 1-7...	7	2
Qatasahasrika-prajñāpāramitā, (Text) Part I, Fasc. 1-12 @ /6/ each	4	8
*Caturvarga Chintāmani, (Text) Vo's. II, 1-25; III, Part I, Fasc. 1-IS, Part II, Fasc. 1-10 @ / / each; Vol. IV, Fasc. 1-5	21	12
Qlokavā.tika, (English) Fasc. 1-5	3	12
*Qrauta Sūtra of Āpastamba, (Text) Fasc. 6-17 @ /5/ each	4	8
Ditto Qāṅkhāyana, (Text) Vol. I, Fasc. 1-7; Vol. II, Fasc. 1-4; Vol. III, Fasc. 1-4 @ /5/ each; Vol 4, Fasc. 1	6	0
Qri Bhāshyam, (Text) Fasc. 1-3 @ /5/ each	1	2
Dan Kriya Kaumundi, Fasc. 1-2	0	12
Gadadhara Paddhati Kālasāra, Vol I, Fasc. 1-7...	2	10
Ditto Ācārasāra, Vol II, Fasc. 1...	0	6
Kāla Viveka, Fasc. 1-6	2	4
Kātantra, (Text) Fasc. 1-6 @ /12/ each	4	8
Kāthā Sarit Sāgara, (English) Fasc. 1-14 @ /12/ each	10	8
Kūrma Purāṇa, (Text) Fasc. 1-9 @ /5/ each	3	6
Lalita-Vistara, (English) Fasc. 1-3 @ /12/ each	2	4
Madana Pārijāta, (Text) Fasc. 1-11 @ /5/ each...	4	2
Mahā-bhāṣya-pradīpodyōta, (Text) Fasc. 1-9 & Vol. II, Fasc. 1-12, Vol. III, Fasc. 1-4, @ /5/ each	9	6
Manuṭikā Sangraha, (Text) Fasc. 1-3 @ /5/ each	1	2
Mārkaṇḍeya Purāṇa, (English) Fasc. 1-9 @ /12/ each	6	12
*Mīmāṃsā Darcaṇa, (Text) Fasc. 7-19 @ /5/ each	4	14
Nyāyavārtika, (Text) Fasc. 1-6 @ / /	2	4
*Nirukta, (Text) Vol. IV, Fasc. 1-8 @ /5/ each	3	0
Nityacarapaddhati Fasc. 1-7 (Text) @ /5/	2	10
Nityacarapradīph, Fasc. 1-6	2	4
Nyāyabinduṭikā, (Text)	0	10
Nyāya Kusumāñjलि Prakarāṇa (Text) Vol. I, Fasc. 1-6, Vol. II, Fasc. 1-3 @ /5/ each	3	6

BIBLIOTHECA INDICA :

A

Collection Of Oriental Works

PUBLISHED BY

THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, Nos. 1131, 1132, 1133, 1158 & 1159.

THE ÇATAPATHA BRĀHMANA

OF THE WHITE YAJURVEDA,

WITH THE

COMMENTARY OF SĀYAṆA ĀCHĀRYA

EDITED BY

ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMĀSRAMĪ,

Associate Member of the Asiatic Society of Bengal ; Editor ;

Author, Commentator, Annotator, Compiler, Translator,

& Publisher of different Vedic Works &c. &c.

VOL. II. KANDA II.

CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTOPADHYAYA, SATYA-PRESS.

1906.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

(संस्कृतभाषायां लिखितं)

संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

। प्रथमः

संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

। प्रथमः ॥ संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

(संस्कृतभाषायां लिखितं)

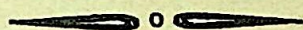
संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

॥ प्रथमः ॥ संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा-संस्कृतभाषा

॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

(शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखीयम्)

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण
सहितम् ।



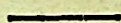
वङ्गदेशीयास्यायितिकसमितेरनुमत्त्वा व्ययेन च,

सामयमीलुपनामाचार्यसत्यव्रतशर्मेणा

यथामति संशोध्य सण्ठीक्य च सम्पादितम् ।

॥ २ भा० । २ का० ॥

(द्वितीयकाण्डात्मको द्वितीयो भागः)



कलिकाता-राजन्वत्याम्,

१८६३-संवत्समायां सत्ययन्त्रेण यत्नतो मुद्रितम् ॥

॥ सम्पादकोक्तिः ॥

अथ यद्यपि शतपथ-द्वितीयकाण्डौय-सायणाचार्यकृत-भाष्यस्य विशुद्धैकपुस्तकस्यापि लाभाय बहु यतितम्, क्रमव्यत्यासदोष-
भुररीकृत्यैवैतत्सम्पादनतः पूर्वं मेव द्वितीयकाण्डं सम्पादितञ्च, इन्त-
तथापि न कथमपि फलितं मे मनोरथद्रुमेण ; न ह्यद्याप्यभिलषित-
रूप मेक मपि तत्पुस्तक मवापीति ; तदनन्वगत्या बह्वशुद्धाना-
दर्शानेवावलम्ब्यातिश्रमतः कष्टतश्च समपाद्येतदस्य ससंशोधनम् ।

तदेतद्वितीयकाण्डस्य पाठान्तरादिस्थानबोधनाय सङ्गृहीतानां
तेषां मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = ३५३-पत्रात्मकम्, १६८६-संवत्तिखितम्, पूर्णम् ।

ख = १०८-पत्रात्मकम्, १६५८-संवत्तिखितम्, पूर्णम् ।

ग = डा०-वेबर-सम्पादितम्, खृ०-१८४८-बार्लिन्मुद्रितम्, पूर्णम् ।

घ = अजमेर-वैदिकयन्त्रालये १८५८-संवत्मुद्रितम्, पूर्णम् ।

ङ = ८३-प०, स्याद् द्विशताब्दधिककालीनम्, पूर्णम् ।

च = डा०-वेबरेणाविलुप्ताक्षराणि विचित्य समाहृतं ग-मुद्रितम् ।

छ = २१-पत्रात्मकम्, १८२६-खृ०-लिखितम्, पूर्णम् ।

ज = श्रीरामपुरकलेजीयन्तु 'च'तोऽविभिन्न मिति परित्यक्त मिव ।

एतेषु अष्टस्वादर्थपुस्तकेषु कादीनि चत्वारि मूलस्य, अपराणि
भाष्यस्येति वेद्यम् । किञ्च ग-पुस्तक मवलम्ब्यैव मुद्रितं घ-पुस्तकं
गम्यत इति तयोरेकत्वं मेव तत्त्वतः ।

एतस्मिन् हि काण्डे अन्याधानम्, पुनाराधानम्, पवमाने-
ध्यादि, अग्निहोत्रम्, पिण्डपितृयज्ञः, आश्रयणेष्टिः, दाक्षा-

यणेष्टिर्वसिष्ठेष्टिर्वा, चातुर्मास्यानि च समाज्जातानि । वैश्वदेव-
यागः, वरुणप्रधासयागः साकमेधयागः, पितृयागः, त्र्यम्बक-
यागः, शुनसीर्यश्च चातुर्मास्यावयवभूता एवेति तेऽपीहैव विहिताः ।
सर्व एवैते यागा आधानानन्तरभाविन इति अग्न्याधान-पुनराधा-
नयोः सर्वपूर्ववर्त्तित्वेनेह विधान माज्जातम् । अग्निहोत्रं हविर्यज्ञानां
प्रकृतिरिति पिण्डपितृयज्ञादीना मिहप्राधान्यम् । चातुर्मास्य-
यागो भवति त्रिपर्वा ; तत्र तस्य वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्व, वरुण-
प्रधासाख्यं द्वितीयम्, साकमेधाख्यं तृतीयम्, पितृयज्ञत्र्यम्बक-
हविःशुनासीर्याणां तु तदङ्गत्वम् । अपि वा चतुर्थेर्वैष
चातुर्मास्ययागः, तत्र शुनासीर्यं चतुर्थं पर्व, परं न तस्या-
नुष्ठानस्य वैश्वदेवादेरिव कालनियम इत्येव विशेषः । तदत्र
“अचय्यं ह वै सुकृतम् (५ प्र० ४ ब्रा०)”—इत्यस्य सायणीयं भाष्यं
द्रष्टव्यम् । तदेव माधानपुनराधानयोः सर्वकर्मसु व्यवहार्यत्वात्
सर्वकर्मतः पार्थक्य मिति सर्वतो भिन्नत्व मङ्गीकृतम्, ततोऽन्या-
वग्निहोत्रचातुर्मास्यावेवेह प्रधानतो विहितावित्येव मन्तव्यम् । अत
एवोक्तं श्रीमता सायणाचार्येण तृतीयकाण्डीयभाष्योपक्रमे—

“आधानपुनराधाने अग्निहोत्रं ततः परम् ।

चातुर्मास्यानि सपशु द्वितीयकाण्ड ईरितम्”—इति ॥

अथैतस्य द्वितीयकाण्डस्य सायणीयं भाष्यं नु सर्वथैवाकिञ्चित्कर
मेव ; तत्रापि द्वितीयाध्यायादीनां तु टोप्यन्तेवाकारि, न
भाष्यम् । तदाह च तत्र स स्वय मेव, ५८ पृष्ठस्य १६ पङ्क्ति-
तो द्रष्टव्य मिति शम् ॥

कालीकोठा-नाम-राजन्वती । } श्रीसत्यव्रतशर्मा ।
संवत् १८६३ । ख० १८०६ । } (आवसथः, सामअमी, आचार्यश्च)

॥ अथ मूलशुद्धिपत्रम् ॥

अशुद्धम्	शुद्धम्	प्र०	त्रा०	क०	पृष्ठे
निर्भक्ष्याम	... निर्भक्ष्याम	...	१	१	८ ... ३
वृद्धा	... वृद्धा	...	१	२	४ ... १४
गुह्य	... गुह्यं	...	१	२	११ ... १५
०रिष्यते	... ०निष्यते	...	१	४	१५ ... ३६
कुमाराय	... कुमाराय वा	...	१	५	१ ... ५३
०ज्ज्वल०	... ०ज्ज्वल०	...	१	५	८ (द्विः) ... ५४
दत्त	... ०दत्तं	...	१	५	११ ... ५५
बर्हिषि	... बर्हिषी	...	१	५	१६ ... ५७
ऋतून्	... ऋतून्	...	२	१	११ ... ७८
प्रविश०	... प्राविश०	...	२	१	१४ ... ७९
अचक्रुस्ते	... अचक्रुस्ते	...	२	२	१६ ... ८६
मेवैत्	... मेवैतत्	...	२	३	४ ... १०५
हि	... हि	...	२	३	१३ ... १०८
०त्तर	... ०त्तरां	...	२	३	१७ ... १०९
दून्वए	... दून्वए	...	२	३	२३ ... १११
चाशाद्	... चाशा	...	२	३	२४ ... १११
०प्यदुनक्षो	... ०प्यदुनक्षो	...	२	३	२५ ... १११
०माथे	... मभि	...	२	३	२८ ... ११२

खोडुति	...	खाहेति	...	२	३	३२	...	११२
अथः	...	अथ	...	२	३	३३	...	११३
सिति	...	मिति	...	२	४	११	...	१३१
मनुष्याणां	...	मनुष्याणां	...	३	४	६	...	१८१
मजयत्	...	मजपत्	...	४	३	२७	...	२७८
वारुण्ये	...	वारुण्ये	...	४	३	३७	...	२८२
मदायो	...	मादायो	...	४	४	११	...	३१८
गृहप्रेषिभ्यो	...	गृहमेघिभ्यो	...	४	४	१४	...	३२०
तिष्ठन्न वहन्ति	...	तिष्ठन्नवहन्ति	...	५	२	८	...	३४५
जहोति	...	जुहोति	...	५	२	११	...	३४५
यज्ञपवीती	...	यज्ञोपवीती	...	५	२	१२	...	३४६
सन्तहन	...	सन्तहन	...	५	२	१५	...	३४७
प्रस्तर भाजनं	...	प्रस्तरभाजनं	...	५	२	१५	...	३४७
देती मथ्	...	देतीमथ्	...	५	२	१५	...	३४७
चर०	...	चर०	...	५	२	२३	...	३४८
राज्यस्या	...	राज्यस्या	...	५	२	२८	...	३५०
प्रयच्छति	...	प्रयच्छति	...	५	२	३३ (द्विः)	...	३५२
ऽहति	...	ऽहति	...	५	२	३३	...	३५२
ज्योक्	...	ज्योक् च	...	५	२	३८	...	३५४
रुदियेण	...	रुदियेण	...	५	३	१८	...	३८०
चुरः	...	चुरः	...	५	५	५	...	४२१

॥ अथ ॥

शतपथब्राह्मण-द्वितीयकाण्डस्य सूचीपत्राणि ।

॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

अथ प्रथमः प्रपाठकः (स यद्वा इतश्चेतश्च १ अ० १ ब्रा०)	...	१४०
अथ द्वितीयः प्रपाठकः (वरुणो ह्येनद्राव्यकाम २ अ० ३ ब्रा०)	...	७५
अथ तृतीयः प्रपाठकः (यत्र वै प्रजापतिः ३ अ० ३ ब्रा०)	...	१३३
अथ चतुर्थः प्रपाठकः (प्रजापतिर्है वा एते ४ अ० ४ ब्रा०)	...	२२८
अथ पञ्चमः प्रपाठकः (महाहविषा ह वै ४ अ० ४ ब्रा०)	...	३३४

॥ अथाध्यायसूची ॥

अथ प्रथमाध्यायः (स यद्वा इतश्चेतश्च १ प्र० १ ब्रा०)	...	१४०
अथ द्वितीयाध्यायः (उद्धृत्याहवनीयं १ प्र० ५ ब्रा०)	...	५३
अथ तृतीयाध्यायः (सूर्यो ह वा २ प्र० १ ब्रा०)	...	१०५
अथ चतुर्थाध्यायः (अथ हुतेऽग्निहोत्र ३ प्र० ३ ब्रा०)	...	१८०
अथ पञ्चमाध्यायः (प्रजापतिर्है वा इद ४ प्र० ३ ब्रा०)	...	२५०
अथ षष्ठाध्यायः (महाहविषा ह वै ५ प्र० २ ब्रा०)	...	३४३

॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥

सङ्ख्या	ब्राह्मणनाम	प्रपाठकस्य	अध्यायस्य	पृष्ठे
१ ...	सम्भारब्राह्मणम्	१प्र० १ब्रा०	१अ० १ब्रा०	१
२ ...	नक्षत्रब्राह्मणम्	१प्र० २ब्रा०	१अ० २ब्रा०	१३
३ ...	ऋतुब्राह्मणम्	१प्र० ३ब्रा०	१अ० ३ब्रा०	२७
४ ...	अग्निधानब्राह्मणम्	१प्र० ४ब्रा०	१अ० ४ब्रा०	३१
५ ...	पवसानेष्टिब्राह्मणम्	१प्र० ५ब्रा०	२अ० १ब्रा०	५३
६ ...	दक्षिणब्राह्मणम्	१प्र० ६ब्रा०	२अ० २ब्रा०	६३
७ ...	पुनराधेयब्राह्मणम्	२प्र० १ब्रा०	२अ० ३ब्रा०	७५
८ ...	हृष्टिब्राह्मणम्	२प्र० २ब्रा०	२अ० ४ब्रा०	८२
९ ...	अग्निहोतधर्मब्राह्मणम्	२प्र० ३ब्रा०	३अ० १ब्रा०	१०५
१० ...	अग्निहोत्रब्राह्मणम्	२प्र० ४ब्रा०	३अ० २ब्रा०	१२८
११ ...	उपस्थानब्राह्मणम्	३प्र० १ब्रा०	३अ० ३ब्रा०	१३६
१२ ...	तदेव	३प्र० २ब्रा०	३अ० ४ब्रा०	१५१
१३ ...	क्षुद्रकोपस्थानब्राह्मणम्	३प्र० ३ब्रा०	४अ० १ब्रा०	१८०
१४ ...	पिण्डपितृयज्ञ-ब्राह्मणम्	३प्र० ४ब्रा०	४अ० २ब्रा०	१६०
१५ ...	आग्नयणब्राह्मणम्	३प्र० ५ब्रा०	४अ० ३ब्रा०	२१४
१६ ...	दाक्षायणब्राह्मणम्	४प्र० १ब्रा०	४अ० ४ब्रा०	२२८
१७ ...	वैश्वदेवब्राह्मणम्	४प्र० २ब्रा०	५अ० १ब्रा०	२५०
१८ ...	वरुणप्रघासब्राह्मणम्	४प्र० ३ब्रा०	५अ० २ब्रा०	२७२
१९ ...	शाकमेधब्राह्मणम्	४प्र० ४ब्रा०	५अ० ३ब्रा०	३१५
२० ...	महाहविर्ब्राह्मणम्	५प्र० १ब्रा०	५अ० ४ब्रा०	३३४
२१ ...	पितृयज्ञब्राह्मणम्	५प्र० २ब्रा०	६अ० १ब्रा०	३४३
२२ ...	चाम्बकहविर्ब्राह्मणम्	५प्र० ३ब्रा०	६अ० २ब्रा०	३८५
२३ ...	शुनासीर्यब्राह्मणम्	५प्र० ४ब्रा०	६अ० ३ब्रा०	४०४
२४ ...	चातुर्मास्यफलब्राह्मणम्	५प्र० ५ब्रा०	६अ० ४ब्रा०	४२०

॥ अथ कण्डिकासूची ॥

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे	कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
अक्षय्यं ह वै सुकृतं ...	४०४	अथ व्यावाष्टयिष्य एककपालः	२५४
अभयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय		अथ द्विपदाः । अग्ने त्वं ...	१६०
०—० स दक्षिण ...	३१७	अथ द्विपदाः । पुरुष ...	१६०
अभयेऽनुब्रूहीति । आग्नेय		अथ द्वे पिशीले वा पालगौ वा	३१७
०—० स स्थाल्ये ...	३१६	अथ नौवि सुदृष्ट्य नमस्करोति	१६६
अग्निर्मूर्धा दिवः । ककुत ...	१५४	अथ नौवि सुदृष्ट्य नमस्करोति	३५५
अग्नौ ह वै देवाः । सर्वाणि	७५	अथ पराङ् पर्यावर्त्तते ...	१६५
अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् ...	१५१	अथ पितृभ्योऽवनिष्वात्तेभ्यः	३४४
अथ काय एककपातः ...	२७५	अथ पितृभ्यो वह्निषदभ्यः ...	३४४
अथ केशश्शश्रूमा समारोह्य	२८६	अथ पुत्रस्य नाम यज्ञाति ...	१६३
अथ केशश्शश्रूमा समारोह्य	३६०	अथ पुनःप्रयुञ्जानस्य ...	४०७
अथ गा मभिन्दशति ...	१५६	अथ पुनः प्रसलवि त्रिः ...	३८८
अथ गा मभ्यंति । अन्वस्थान्यो	१५८	अथ पुनरेत्य जपन्ति ...	३८७
अथ गा मभ्यंति । इड एह्यदित	१६१	अथ पुरस्तात्परीत्य । पूर्वार्द्धं	३६
अथ गार्हपत्य मभ्यंति ...	१५६	अथ पुरस्ताडल्सुकं निदधाति	१६३
अथ गार्हपत्य सुपतिष्ठते ...	१८१	अथ पूर्वदुः । अन्वाहार्यपचने	२७५
अथ चतुरस्रयति । चतुर्द्धा	१०६	अथ प्र वा व्रजति प्र वा ...	१८१
अथ चातुष्प्राश्न मोदनं ...	३२	अथ प्र वा व्रजति प्र वा	१८२
अथ जाग्रति जाग्रति देवाः	३३	अथ प्रति परेत्य गार्हपत्य ...	३५४
अथ दक्षिणान्वाहूगन्वावर्त्तन्ते	३६०	अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति	२७७
अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं	३४५	अथ प्रवत्स्यान् । गार्हपत्य ...	१८०
अथ दिशो व्याचारयति ...	२४५	अथ प्रातः । अग्नित्वा सुहूर्त्ते	१२६
अथ दौक्षेत । तं नानीजानं	४०७	अथ प्रातः । आग्नेयः ०—० पुरो-	

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
डाशोऽथ या मेवाम् ...	२३३
अथ प्रातः । आग्नेयः ०—० पुरो-	
डाशोऽथैतावेवाहमासौ	२३३
अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो	
भवति मैत्रावरुणी ...	२३१
अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो	
भवत्येन्द्रं सान्नाय्यं ते हे	२३०
अथ प्रातः । आग्नेयः पुरोडाशो	
भवत्येन्द्रं सान्नाय्यं प्रातः	२३१
अथ प्रातः । ज्योतिः सूर्यः ...	११३
अथ प्रातः । सजुर्देवेन ...	११४
अथ प्रातः । सूर्यो ज्योतिरु	११३
अथ प्रातर्हृते वाहुते वा ...	३२१
अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः ...	३२२
अथ मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः ...	३१६
अथ मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः	३१६
अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो	३३६
अथ यः कामयेत । चतस्रं ...	२८
अथ यः कामयेत । बहु ...	२८
अथ यः पुरादिब्रह्मस्तमयात्	१०६
अथ य एष एकोऽतिरिक्तो ...	३८७
अथ य एष सभाया मभिः ...	१२६
अथ यतरो ददाति । स पुनः	३५५
अथ यतरो दास्यन् भवति ...	३५२
अथ यत् पूर्वद्युः । अग्नीषोमीयेण	
०—० ते हे देवते ...	२३०

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
अथ यत् पूर्वद्युः । अग्नीषोमीयेण	
०—० य मेवासु ...	२३१
अथ यत् पूर्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन	
०—० तृतीय सवने ...	२३१
अथ यत् पूर्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन	
०—० ते हे देवते ...	२३१
अथ यत् पूर्वद्युः । ऐन्द्राग्नेन	
०—० दर्शपूर्णमासयो ...	२३३
अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति ...	३३५
अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त	१३१
अथ यत्रैतत्परितरा मिव ...	१३१
अथ यत्रैतत्पदीमतरो	
भवति । उच्चैर्धुमः ...	१३१
अथ यत्रैतत्पदीमतरो	
भवति । तर्हि ह्येष ...	१३०
अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।	
अस्य रसस्य जीवनस्य	१०७
अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति ।	
प्रजनयत्येवैनं ...	१०५
अथ यत्साकमेधेर्यजते ...	४९१
अथ यत्सावित्रः । दादश ...	३३५
अथ यत्सारस्वतश्चरुर्भवति	३३५
अथ यत्सौम्यश्चरुर्भवति ...	३३५
अथ यदमय इन्द्रुमते ...	८१
अथ यदमये पवमानाय ...	८१
अथ यदमये पावकायय निर्बपति	५५

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे	कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
अथ यदग्रे शुचये निर्वपति	५५	अथ सन्नहन मनुविस्मृत्य ...	३४७
अथ यदस्तमेति । तदग्रावेव ...	१०५	अथ सर्पराज्ञा ऋग्भि- ...	४०
अथ यदेव एतेन यजते ...	२१७	अथ सादयित्वा सूचौ ...	३५६
अथ यदेव एतेन यजते । तन्नाह	३४३	अथ सारस्वतश्चरुर्भवति ...	२५२
अथ यदेव एतेर्बजते । तन्नाह	३८५	अथ सावित्रः । द्वादशकपालो	२५२
अथ यदेव एतैश्चतुर्थे मासि	२७३	अथ सावित्री । सविता ...	१६२
अथ यद्वरणप्रवासै- ...	४२१	अथ सौम्यश्चरुर्भवति । रेतो वै	२५२
अथ यत्साकमेघैर्यजते ...	४२१	अथ सौर्य एककपालः ...	४०६
अथ यस्माच्छुनासीर्येण ...	४०४	अथ स्वाहाग्नि मित्राह	८०
अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत् ।		अथ हिरण्यं सम्भरति ...	२
उत वै ...	१५३	अथ हुतेऽग्निहोत्र उपतिष्ठते	१८०
अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत् ।		अथ हेनं शश्वदप्यमुरा ...	१६१
यज्ञो वै ...	१५२	अथ होवाच । अन्वाऽअहं ...	१६
अथ यस्मान्न क्षत्तिका- ...	१३	अथाशुकीरीषं सम्भरति ...	३
अथ यस्मान्न ऋगग्नीषै ...	१५	अथाग्नये पावकाय निर्वपति	५४
अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् ।		अथाग्नये शुचये निर्वपति ...	५४
यज्ञो वै ...	१५२	अथाग्नीदाहाजुप्रहरति ...	२८४
अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत् । यो वै	१५२	अथाग्नीदाहाजु प्रहरति ...	३५७
अथ या मेतां समिध ...	१४३	अथाग्नीषी । तदग्नय ...	१६२
अथर्षभ माह्वयितवै ब्रूयात् ...	३२१	अथातः पयस्याया एवायतनम्	२५३
अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति	२३४	अथातः पयस्यैव । पयसी वै ...	२५४
अथ वायव्यं पयो भवति ...	४०६	अथातः । परिवर्तनस्यैव ...	४०८
अथ वैश्वकर्म्मण एककपालः	३३६	अथात आहृदेव । नोपकिरन् ...	२५५
अथ शर्कराः सम्भरति ...	३	अथातो गृहाणा मेवोपचारः ...	१८३
अथ श्रुनासीर्यो द्वादशकपालः	४०५	अथादिलै चरुं निर्वपति ...	५७
अथ सन्नदाच्छिन्ना ...	१६४	अथाङ्गिरभ्युक्षति ...	२

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठ
अथाध्वर्युरेव कायेन २८३	
अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य ... २८५	
अथाध्वर्युरेव प्राशित्र ... २८३	
अथाध्वर्युरेव ह ब्रह्मन् ... २८३	
अथाध्वर्युरेवाह वरुण ... २८२	
अथाध्वर्युरेवाह सोमाया- ... २८१	
अथाध्वर्युरेवाहाग्नये ... २८०	
अथान्तरिणाहवनीयं च ... १६१	
अथापसलवि त्रिः परियन्ति ३८८	
अथायमन्यतोमुखः पुरुषः ... ४०८	
अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणोति ३४८	
अथान्व माक्रमयति ... ३८	
अथास्त्रीनः । स त्व मग्निं ... १५८	
अथास्य पुरोडाशस्यावदाय ... ३५३	
अथाह पितृभ्यः सोमवद्भ्यो ३४६	
अथाह पितृभ्यो ऽधिष्वात्तेभ्यो ३५१	
अथाह पितृभ्यो वर्हिषद्भ्यो ... ३५०	
अथाह ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि ... ३५६	
अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य	
०—० स उपस्तृणीत ... ३२०	
अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्य	
०—० स दक्षिण ... ३१८	
अथाहवनीयं सुपतिष्ठते	
ग्रस्य पशुन् मे ... १८०	
अथाह संवदस्तेति	
०—० ब्रह्मीत्यध्वर्युरेव ... २८५	

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठ
अथाह संवदस्तेति०—०	
ब्रह्मीत्युपस्तृण्य व ... ३५७	
अथाह सोमायानुब्रह्मीति	
०—० स उत्तरस्यौदनस्य ३१८	
अथाह सोमयानुब्रह्मीति	
०—० स स्थाल्याऽयव ... ३२०	
अथाहाग्नये कथवाहनाय ... ३५१	
अथाहाग्नयेऽनुब्रह्मीति ।	
अग्निं यजाग्नये ... ८१	
अथाहाग्नयेऽनुब्रह्मीति ।	
आग्नेय मान्यभागं ... ८०	
अथाहाग्नये खिष्ठकृतेऽनुब्रह्मीति ।	
०—० स उपस्तृणीत ... ३२०	
अथाहाग्नये खिष्ठकृतेऽनुब्रह्मीति ।	
०—० स उत्तरस्यौदनस्य ३१८	
अथेडा मेवावदति न प्राशित्रम् ३२०	
अथेदं द्वितीयम् । आग्नेय ... ५८	
अथेदं द्वितीयम् । तुष्णी ... ३६	
अथेदं द्वितीयम् । सैव स्त्रीर्णा ३१८	
अथेष्म मभ्यादधदाह । ... ३४८	
अथैतदेव परोऽक्ष ७७	
अथैतान्यजमानोऽङ्गलौ ... ३८६	
अथैतान्येव पञ्च हवीऽवि ... २७४	
अथैतान्येव पञ्च हवीऽवि ... ४०५	
अथैताभ्यां प्रयस्याभ्यां ... २८२	
अथैनं देवाः । अन्तरात्मनादधत ६७	

काण्ड-नाप्रतीकम् .	पृष्ठे	कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
अथैनं ममिर्वात्तेनोपयथाववर्त्त ६२		अर्कपलाशाभ्याम् । त्रीहिमय ७८	
अथैनं पशव उपालीदन् ... १६१		अवभृथ निचुम्बुयं ... २८५	
अथैनं पितरः । प्राचीनावीतिनः १६०		अष्टाकपालाः सर्वे पुरोडाशा ५७	
अथैनं मनुष्याः । प्राहता ... १६१		अस्य प्रत्नम् । अशुद्युतः ... १५५	
अथैनां वाचयति ... २८०		अहर्वैः देवाः । अनपहत- ... ३४	
अथैन्नामी । उभा वा ... १५४		अहोरात्रे ह वा ऽवसुभि- ... १४२	
अथैन्नामी । द्वादशकपालः ... २७४		आप्येय मेव पञ्चकपालं ... ७८	
अथैन्नामी द्वादशकपालः ... ३३५		आप्तेयोऽयं यज्ञः । ज्योति- ... ७७	
अथैन्नी । इन्द्रो वै यज्ञस्य ... १६२		आत्मैव जातम् । अह्ना हि ... १११	
अथैन्नी मरुत्वतीं जपति ... २७६		आत्मैव भूतम् । अह्ना हि ... १११	
अथोदपात्र मादाय०—०		आत्मैवागतम् । अह्ना हि ... १११	
तदथाऽऽग्निष्यते ... १६४		आत्मैवाद्य । अह्ना हि ... १११	
अथोदपात्रमादाय । पुनः ... ३५५		आदित्यस्त्वेव सर्वऽऽकृतवः ... ७८	
अथोदपात्र मादाय०—०		आसाद्य हवींश्च्यमिं मन्यति २७७	
तदथा जलुवेऽऽभिषिञ्च्य देवं १६५		आसाद्य हवींश्च्यमिं मन्यन्ति २२५	
अथोपपत्यथ जपति ... १६५		इन्द्रो ह वा ऽईचाक्षक्रे ... ११	
अथोल्लिखति ... १		इन्वानास्ता । शतः हिमा ... १५७	
अथोघान्सम्भरति ... २		उच्चैरुत्तम मनुयाजं ... ८०	
अधिमित्र्यैव जुहुयात् ... १०८		उत्तरतो वा ऽवभिद्योत्रस्य ... १४२	
अनेनैव जुहुयात् । सनुर्देवेन ११४		उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं ... ५३	
अन्तरेणागाद् अहतदिति ... ६७		उपवसथ ऽएवेन माहरेयुः ... १३०	
अभयो ह वा ऽएता अन्नाद्यस्य १३२		उभयत्र पयस्यै भवतः ... २७४	
अयं वै यज्ञो योऽयं पवते ... ३७		एकं हे त्रीणि । चत्वारितीति १३	
अयं ते योनि ऋत्विजः ... १५५			
अयं मिह प्रथमः । धायि ... १५५			
अर्कपलाशाभ्याम् । यवमय ... ७६			

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे	कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
एता ह वै देवता योऽस्ति ... १२८		तं यत्र प्राच्यं हरन्ति ... ३७	
एता ह वै प्राच्ये दिशो ... १३		तं वै तथैव हरिषुः ... ३७	
एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टा ... ३३६		तं वै दमै रद्धरति ... ७८	
एतेन वै देवाः । यज्ञेनेष्टोभयी २१७		तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः २१६	
एतेन वै प्रजापतिः । यज्ञेनेष्टा २५६		तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात् २५३	
एतेन ह स्त वा ऽऋषयः ... १५७		तं अपयति । तस्मिन्नधिष्ठित १६२	
एतेषा मेकं संवत्सरं सुपेत्यैव १३२		तं ऽहं ह विश्वे देवा ऊचुः ... २१६	
एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव		तं ऽहं हेत उचुः । वयं वै ... ६५	
०—० स्यात् । ... ३७		तत एतत् त्वष्टा पुनराधियं ... ७६	
एष उ वै प्राणः । तं वै तथैव ०—०		ततो देवाः । तनीयांस इव ६६	
स्यात्तस्मादु तथैव हरिषुः ... ३८		ततो देवा एते वज्रं ददधुः । ३६	
येन्नीभ्या माहवनीयं सुपतिष्ठन्ते ३५४		तत्र जपति । अत्र पितरो ... १६५	
कृताशुकर एव प्रतिप्रस्थाता २८१		तत्रापि मेघं च मेघीं च ... २७६	
कृत्तिकास्वामी आदधीत ... १३		तथो एवैष एतत् ... ४	
केवलवर्हिः प्रथमं हविर्भवति ५६		तदवच्योतयति । श्रुतं ... १०८	
जत्रं वा ऽइन्द्राग्नी । विशो ... २१६		तदाहुः । अग्नावेवेतत् ... ११३	
जन्ति वा ऽएतद्यज्ञं । यदेनं तन्वते ६३		तदाहुः । एता मेवाहुतिः ... ५४	
चतुर्विंशतिं दद्यात् ... ६४		तदाहुः । द्विरपश्यति गच्छीयाद् ३४७	
चित्राया मग्नी आदधीत ... १६		तदाहुः । न सर्पराज्ञा ऋग्भिः ४०	
चित्रावसो वसति ते ... १५७		तदाहुः । नैवेकश्चन ... ४	
हाययेव वा अयं पुरुषः । ... ७८		तदाहुः । पर्याभूद्वा ऽअयं ... २१७	
		तदाहुः । यमर्चा न साम्ना ... ३५	
		तदाहुः । षष्ठेऽर्चवः ... ४	
		तदाहुः । स मेवान्ये ... १०८	
		तद् बहु तनूपा अग्नेऽसि ... १५६	
		तद् हापि कुमार्यः परीयुः ... ३८८	

कण्डिकाप्रतीकम्.	पृष्ठे	कण्डिकाप्रतीकम्.	पृष्ठे
तदु हाप्यख्य मौपवेभिं ...	६८	तद्वे सोमेनेजानाः । ते पितरः ...	३४४
तदु हैतदेवाख्यये ...	११२	तदसन्नो यीशो वर्धाः ...	३४३
तदु होवाच कहोडः ...	२१४	तदख्येव प्रजननख्येव ...	११२
तदु होवाच जीवलख्येनकिः ...	११३	तदा एतत् । एव विचि- ...	६४
तदु होवाच भाक्षवेयः ...	३३	तदा एतत् । मासि-माख्येव ...	१६२
तदु होवाच याज्ञवल्काः ...	११०	तदा एतदेवैतासां नाम ...	६६
तदु होवाच याज्ञवल्काः ...	२१४	तदा एतां रात्रिम् ...	२३४
तदु होवाचासुरिः । आश्रा- ...	३४६	तदा एन मेतदग्रे देवाना ...	६२
तदु होवाचासुरिः । किं नु ...	४०८	तदा एष एव ऋतुः ...	१४०
तदेतत् समाहार्यं ...	१५६	तदा एष एवेन्द्रः । यदा ...	१२८
तदुग्धाधिश्रयति । श्रुत ...	१०८	तदेतदेव सदिपर्थस्तु मिव ...	५५
तदु हय मेवैते व्याहृते ...	१११	तदेव दधीत । अग्निर्वा- ...	१४
तद्वै के । एत मेव होत्रे मन्थ ...	३५२	तदेव दधीत । न वा ...	१५
तद्वै के । ज सुपवधन्ति ...	३२	तदे देवाः शुश्रुवुः ...	२१५
तद्वै के । सुदिते मथित्वा ...	३४	तदे हे वेदी दावमी ...	२७३
तद्वै के । रात्रौरापिपयिषन्ति ...	४०७	तदे पक्षेव भक्षयन्ति । होता ...	१३५
तद्वै के । हविरुच्छिष्ट मनु ...	३५७	तदे पय एवान्नम् । एतद् ...	२५१
तद्वै के । हन्ते मां प्रतिष्ठां ...	३	तन्न सान्त्वासायेत् । सामि ...	१०४
तद्वै के । किञ्च वाचा ...	२८१	तन्न्वेवानवस्तृप्तं यो मनुष्ये ...	१२
तद्वै के । तत्प्रथमं समिद्धो ...	१३०	तन्मध्ये अग्निं समादधाति ...	३४५
तद्वै के । मदी मन्थति ...	६७	त मन्त्रस्य पद व्याधत्ते ...	३८
तद्वै के । योनौ रेतो दध्यात् ...	६५	त माजगाम । सुम्ना सार्ज्जयो ...	२२६
तद्वै के । शुद्धिभिर्म ...	४	त सुदीप्य समिन्ने । इह ...	६७
तद्वै के । साकमेधैर्वै ...	४२०	तयोरुभयोरैव करीराण्या- ...	२६५
तद्वै के । भवति । अयं ...	४०६	तयोरुभयोरैव प्रमीप गा- ...	२७५
तद्वै के । मेघी च भवतः ...	२७६	तस्मादाहुः । एता मेवाहुतिः ...	५४

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठं	कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठं
तस्मादेतद्विष्णुभ्यनूक्तम् ...	१४०	तान्त्सार्धं पात्राश्च समुदास्य ...	३८६
तस्मादेतद्विष्णुभ्यनूक्तम् ...	२५१	ता सु हामिरभिदध्यौ ...	६६
तस्मै कं पुनराधेय मादधीत ...	७६	ता वरुणो जग्माह । ता वरुण ...	२७२
तस्मै क मग्नी ऽउपतिष्ठेत् ...	१५२	ता वा ऽएताः । षड् विभक्तिः ...	८२
तस्य परिचक्षा । यस्यै वै ...	२१६	ताविन्द्राग्नी ऽउदजयताम् ...	२१५
तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ...	२१८	ता वै षड् दद्यात् । षड् वा ऽऋतवः ६४	
तस्य वा ऽएतस्यान्याधेयस्य ...	६८	तासां सुतासां मन्त्रोऽस्ति ...	३८८
तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा ...	३३	तेनोपाशु चरन्ति । तिर इव ...	३४८
तस्य हिरण्यं दक्षिणा ...	८२	तेनोपाशु चरन्ति । यद्वै ...	७६
तस्यां मिथुन मास्ते । योषा- ...	२५४	तेनो ह तत ईजे । दक्षः पार्वति २३०	
तस्यावृत् । उपकिरन्त्युत्तर- ...	३३४	तेनो ह तत ईजे । देवभागः २३०	
तस्यावृत् । नोपकिरन्त्युत्तर- ...	४०५	तेनो ह तत ईजे । प्रतीदर्शः ...	२२६
तस्यावृत् । सैव स्त्रीणां वेदि ...	३१७	ते वा अक्ताः स्युः । अक्तश्च ...	३८६
तस्याश्च श्वे गो दक्षिणा ...	४०७	ते वा ऽएत ऽऋतवः । उभय ...	२८
तस्यै धेनुर्दक्षिणा । धेनुरिव ...	५८	ते वा ऽएत ऽऋतवः । देवा ...	२७
तस्यै विराजौ संयान्ये स्याता ...	५७	ते वा ऽएते प्राणा एव ...	६८
तां वाचयति । प्रघासिनो ...	२७७	ते वै प्रतिपुरुषं । यावन्तो ...	३८५
तां वै पूर्णां जुहोति ...	५३	ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य ...	३८५
ता ऽउभावेव सादयित्वा ...	२८४	तेषां सुपस्थानम् । यदेव सायं ...	१२६
ता एतेन हविषा प्रजापति- ...	२७३	ते सर्वेऽएव प्राचीनावीतिनो ...	३४६
तानि दक्षिणोपस्तृणाति ...	१६४	ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो	
तानि वै प्रतिपुरुषम् ...	२७८	भूत्वा । अनुयाजाभ्यां ...	३५६
तानु हामिर्निचकमे ...	१५१	ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो	
तान्द्र्योर्मूर्तकयोरुपनह्य ...	३८६	भूत्वा । इत्याह ...	३४७
तान्यु हामिर्निचकमे ...	७६	ते सर्वे ऽएव यज्ञोपवीतिनो	
तान्वा ऽएतान् । पञ्च ...	४	भूत्वा । उदक्ष ...	३५३

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रसुः ...	६५
ते ह देवा ऊचुः ...	१७
ते ह देवाः समेत्योचुः ...	१६
ते हुत्वा देवाः । इमां प्रजातिं ...	६७
ते होचुः । अथैनं वयं न्येव ...	६६
ते होचुः । आ वै वय मग्नी ...	६६
ते होचुः । उभयेषु वै नोऽय मग्नी ...	६६
ते होचुः । कस्य न इदं ...	२१५
ते होचुः । केन राज्ञा ...	४३०
ते होचुः । केनैव राज्ञा	
०—० स ह वरुण ...	४२०
ते होचुः । केनैव राज्ञा	
०—० स ह्येन्द्र ...	४२१
ते होचुः । को न इदं ...	११४
ते होचुः । भद्रं वा इदं ...	६५
ते होचुः । हन्तेद मण्डत मन्तरा ...	६६
ते होचुः । हन्तेदं जुह्वामहा ...	६६
त्रीणि समिष्टयजूंषि जुहोति ...	२५६
त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति ...	२८५
देवान् ह वा ऽअग्नी ऽआधास्य ...	३६
देवाश्च वा ऽअसुराश्च ...	६५
द्वयं वा इदं जीवनम् ...	१०७
दया वै देवा ०—० क्षद्वया ...	२१८
दया वै देवा ०—० स्तीषां ...	६५
द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासा ...	६४

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
द्वादश वा त्रयोदश वाचराणि	८२
नव प्रयाजं भवति । नवानुयाजं	२५५
नवावसिते वै न मादरेषु ...	१३०
नागा ह वा ऽएताम्यग्रे ...	१७
नैव देवा अतिक्रामन्ति ...	१६१
नौहं वा ऽएषा स्वर्गा ...	१४३
परिवृते चरन्ति । तिर-इव ...	३४८
पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन ...	३८७
पाणावेव प्रतिप्रस्थाता ...	२८२
पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु ...	२७८
पुरा यज्ञात्पुराहुतिभ्यो ...	२७८
पूर्वेणाहवनीयं परीत्य ...	१४२
प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्	१६०
प्रजापतिर्वा अग्निः ...	१४४
प्रजापतिर्ह वा ०—० स प्रजा	२५०
प्रजापतिर्ह वा ०—० सोऽग्निः ...	६२
प्रजापतिर्ह वा ऽएतेनाग्ने ...	२२८
प्रजापतिर्वा ऽएष भूत्वा ...	१५३
प्रति पराणीयोदैति ...	२८०
प्राजापत्याः पस्पृधरे ...	६५
प्रोक्षणीरध्वर्यरादत्ते । स इषा	३४६
फलुनीवग्नी ऽआदधीत ...	१५

[कण्डिकाप्रतीकम्. पृष्ठं
 ब्रह्मेव वसन्तः । चतुः ग्रीष्मो ... २८
 भूरिति वै प्रजापतिः । आत्मान ३५
 भूरिति वै प्रजापतिः । इमा ... ३५
 भूरिति वै प्रजापतिः । ब्रह्मा- ... ३५
 मनो ह वै देवा मनुष्यस्या- ... १८२
 महद्ब्र तस्थौ भुवनेऽनुरिति ... २५१
 महाहविषा ०—० तां तथो ... ३३४
 महाहविषा ०—० ता ०—० इषव ३८५
 महाहविषा ०—० ता ०—० ऋन् ३४३
 महि त्रीणा मेवोऽस्तु ... १६१
 मिथुनादिद्वा ऽन मेतत् ... २३४
 ऋगणीर्षेऽग्नी ऽव्यादधीत ... १४
 सो षु णः । इन्द्रात्र ... २७८
 यजमानदेवयो वै गार्हपत्यः ... १२६
 यत्र वै प्रजापतिः प्रजा ... १३६
 यथा वा ऽइषोरनीकम् ... १४२
 यदहरस्य श्वोऽग्राधेयश्च ... ३१
 यद्वा वा ऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् ।
 ०—० प्रजायै वा ॥ ... १५६
 यद्वा वा ऽअत्राग्निहोत्रं जुह्वत् ।
 ०—० प्रजायै वा तन्मे ... १५६
 यद्वा ऽअदो दीर्घं मनुपस्थानम् १८०
 यद्वा ऽआहवनीय सुपतिष्ठते ।

कण्डिकाप्रतीकम्. पृष्ठं
 दिवं तदुपतिष्ठते ... १६१
 यद्वा ऽआहवनीय सुपतिष्ठते ।
 पशून्स्तद् ... १६०
 वां वै प्रजापतिः । प्रथमा ... ५२
 या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः ... ११०
 योषा वा ऽव्यापः ... २
 राजन्त मध्वराणाम् ... १५६
 रेवती रमध्व मिति रेवन्तो ... १५६
 रोहिण्या मन्त्री ऽव्यादधीत ... १४
 रोहिण्या सु ह वै पशवः ... १४
 वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः ... ३१५
 वरुणो ह्येन्द्राव्यकाम ... ७५
 वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः ... २७
 वारुण्यन्तरा भवति । वरुणो २७५
 वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः । प्रजा २७२
 स आश्राव्याह । समिधो ... ८०
 स आह । उपप्रयन्तो ऽअध्वर १५४
 स आहवनीय सुपतिष्ठते ... २८१
 स आहवनीय मेवाग्र ऽउपतिष्ठते ।
 ०—० तुष्णी मेवाहवनीयं १८२
 स आहवनीय मेवाग्र ऽउपतिष्ठते ।
 ०—० गृहा वै गार्हपत्यो १८१
 स उत्तरस्या मेवपथस्यायां २७६

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
स उत्तरस्या मेव वेदौ ... २७३	
स उद्भूत्यामौ वे आहुती ... १६३	
स उपस्तृणीत आच्यम्—०	
पितृन्त्सोम ... ३५०	
त उपस्तृणीत आच्यम् ०—०	
आथाहामि ... ३५१	
स एता मेर्नी मरुत्वती ... २७६	
स एतास्तिस्सन्तगृष्टेषु लोकेषु ... ५५	
स एतेनाग्नेन शान्तः ... ५३	
स एष यज्ञो हतो न ददक्षे ... ६४	
स ऐक्षत प्रजापतिः । अन्नादं ६२	
स ऐक्षत प्रजापतिः । पुरा मे २५३	
स ऐक्षत प्रजापतिः । यथा ... २५०	
स गार्हपत्यं सुपतिष्ठते ... १८०	
स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-	
०—० गृह्णाति ... १६२	
स जघनेन गार्हपत्यम् । प्राची-	
०—० वट्कपालं ... ३४५	
स जघनेन गार्हपत्यम् ।	
यज्ञोपवीती भूत्वो- ... ३८६	
स जुहोति । अग्नये ... १६३	
स जुहोति । अग्निर्ध्यातिर ... ११२	
स जुहोति । एष ते रुद्रभागः ३८७	
स जुहोति । देहि मे ... ३२१	
स तत एव प्राक्स्तम्भयजुर्हरति ३४५	
स तत्र जुहु मासादयति ... ३४७	

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठे
स दक्षिणैव दृष्टदुप्रले उपदधाति ३४५	
स दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति ३४७	
स ददाति । असावेतत्त ... १६५	
स नः पितेव सूनवे ... १५६	
स निदधाति । ये रूपाणि ... १६४	
स पिष्टभ्यः सोमवद्भाः ... ३४४	
स पूर्वद्युः । अग्नयेऽनीकवते ... ३१५	
सप्त च वै शतान्यग्नीतीना ... १४४	
सप्त चैव शतानि विश्रतिश्च १४४	
स यः कामयेत । ब्रह्मवर्चसी ... २८	
स यः पुरादित्यस्यास्तमयात् ... १०६	
स यः प्रजाकामः । एतेन हविषा २५२	
स यजति । अग्न आच्यस्य ... ८०	
स यजति । अग्नेर्वसुवने ... ८२	
स यत् कगीय इव ... १३२	
स यत्तुष्णीं सुपसृशति । तदस्यां ३६	
स यत् प्राहुपोदैति ... १४३	
स यत्र म्रियते । यत्रैन	
०—० आस्य शरीरं ... ६४	
स यत्र म्रियते । यत्रैन	
०—० स यथा हवैष ... १४७	
स यत्रैव साकमेधैर्यजते ... ४०७	
स यत्रोदङ्ङावर्त्तते । तर्ह्यग्नी २७	
स यत्रोदङ्ङावर्त्तते । देवेषु ... २७	
स यत्साय मस्तमिते जुहोति ।	
अथावैवेभ्य एतत्प्रविष्टेभ्यो १०७	

कण्डिकाप्रतीकम् ,	पृष्ठं	कण्डिकाप्रतीकम् ,	पृष्ठं
स यत्नाय मस्तमिति जुहोति ।		सर्वं आग्नेयो भवति ७६	
अस्य रसस्य जीवनस्य ... १०७		सर्वतोमुखोऽय मग्निः ४०८	
स यत्नाय मस्तमिति जुहोति ।		स वा ऽअग्नये च सोमाय ... १६३	
गर्भं मेवैतु १०५		स वा ऽअग्नये पवमानाय ... ५४	
स यत्नाय मस्तमिति जुहोति ।		स वा ऽअपराङ्गि ददाति ... १६२	
य इदं तस्मिन्निह १०५		स वा ऽआग्नेयोऽष्टाकपालः ... २५२	
स यत्नाय मस्तमिति दे ... १४१		स वा ऽउपवत्या प्रतिपद्यते ... १५३	
स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् ... १४२		स वै कनीय इव पूर्वा- १३२	
स यथाद्विस्वचो निर्मुच्येत ... १०६		स वै खलु तूष्णी मेवोपतिष्ठते १८२	
स यदग्नये पवमानाय निर्वपति ।		स वै तुष्णी मेवाग्न ऽउपसृ प्रति ३६	
प्राणा वै ५५		स वै त्रिः प्रथमां जपति ... १५६	
स यदग्नये पवमानाय निर्वपति ।		स वै दक्षो नाम २२८	
यदेवाग्नये ५५		स वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति ... २७६	
स यदग्नौ ऽआधत्ते १४०		स वै विरग्नौ जुहोति... .. १०६	
स यदग्नौ जुहोति । तद्देवेभ्यु ... ११०		स वै पञ्चादिव यज्ञस्य जुहोति २३५	
स यददित्यै चरुं निर्वपति ... ५७		स वै पूर्ववाद् स्यात् ३६	
स यदाग्नेयो ऽष्टाकपालः ... ३३४		स वै भूर्भुव इति । एतावतैव ३५	
स यदा ऽइतश्चेतश्च १		स वै वर्षाखादधीत ७७	
स यद्वैश्वदेवेन यजते ।		स यो पाणावध्वर्युः २८२	
अग्निर्नैवेतन्नाग्नि ... ४२१		स सर्वाण्येव हवीः ऽध्वर्युः ... २७६	
स यद्वैश्वदेवेन यजते ।		स हुत्वा न्यमृष्ट । ततो ... ६४	
अग्निरेव तर्हि ४२२		स हुत्वा प्रजापतिः ६३	
स यन्नातिक्रामति । इत ... ३५१		स होवाच । अग्नयेऽग्निरनुष्ठा ६६	
स येमा भवान्तरदिश मनु ... ६५३		स होवाच । न वाऽअह मिदं १३६	
स यस्मिन् हऽर्चावसुं ४२२		स होवाच । हन्ताह मिमा १६	
स यस्य कामयते १४१		सान्नाय्यभाजना वा ऽअमावास्या २३४	

कण्डिकाप्रतीकम् .	पृष्ठं	कण्डिकाप्रतीकम् :	पृष्ठं
सा या पूर्वाहुतिः । ते देवा ...	१३२	सूर्यो ह वा ऽव्यभिहोत्रम् ...	१०५
सा या पूर्वाहुतिः । साग्नि- ...	१११	सैषेकाहुतिरेवाग्ने ...	११०
सा या पूर्वाहुतिः । सात्मान ...	११२	सो ऽन्वाह उग्रान्तस्त्वा निधीमहि ३४८	
सा हेनं नाभिराधयाञ्चकार	६३	सो ऽर्चन्म्रान्यन् प्रजापति- ...	२५०
सा हेनं मभिराधयाञ्चकार	६३	हस्तेऽग्नौ ऽव्यादधीत ...	१६

॥ अथ विषयसूची ॥

(१ प्र० १ ब्रा०)

अथान्याधानम् । ततोदकहिरण्योषाशुक्लीषशर्करारूपाणां पञ्चसम्भाराणां विधानम् । तेषां सम्भाराणां निवपनोक्तेखनाभ्युक्षण-संस्काराणां विधानम् । सम्भारविचारौ चेति ॥

(१ प्र० २ ब्रा०)

आग्न्याधानकालनिर्णयाय प्रथमं नक्षत्रविधानम् । तत्र क्षत्तिकाया माधानप्रतिपादनम्, रोहिण्या माधानपक्षोक्तेखः, मृगशीर्षाधानपक्षोक्तेखश्च । ततः पुनर्वसोः पुनराधानविषयता-कथनम्, फल्गुन्योश्चाधानस्त्रीकारः, लाभकामस्य हस्तेऽग्न्याधान-विधानम्, चत्रियजातेश्चित्राया मग्न्याधानविधिः, ततो नक्षत्रनाम-निर्वचनश्चेति ॥

(१ प्र० ३ ब्रा०)

ततस्तत्रैव ऋतुविधानम् । ऋतूनाञ्च देवपित्रात्मना द्विविध-
त्वाख्यानम् । ततस्तत्रैवायनविधानम् । उदगयनदक्षिणाय-
नयोः स्वरूपकथनं देवपितृसम्बन्धाख्यानञ्च । ततो ब्राह्मणादि-
वर्णानुसारेणर्तुव्यवस्था । ततः कास्यपक्षे,— ब्रह्मवर्चसकामस्य
वसन्तर्तौ, श्रीकामस्य ग्रीष्मर्तौ, प्रजापशुकामस्य वर्षर्तौ अग्न्या-
धानव्यवस्था । ततः सर्वेषां मेवर्तूनां साधानयोग्यकालत्वात् श्वर्जी-
वनस्य निश्चयताभावात् कालप्रतीक्षणं सकर्तव्यं भित्त्युपदेशश्चेति ॥

(१ प्र० ४ ब्रा०)

अग्न्याधानप्रयोगः । तत्र प्रथमं सुपवसथदिवसकर्तव्यताया
उपदेशः, ब्रह्मौदनपाकविधिः, तद्रात्रौ यजमानस्य जागरण-
विधिः, रात्रावग्निसन्ध्यानिषेधः सूर्योदये तद्विधिश्च, व्याहृ-
तीनां सृग्यजुस्सामातिरिक्तत्वेन वर्णनम्, वर्णत्रयोत्पत्त्यादिहेतु-
त्वेनाधानस्य प्रशंसा, अग्निसन्ध्यासमये तस्य पुरस्तादश्वस्य धारण-
विधिः, अनेर्हरणप्रकारोपदेशः, आहृतस्याग्नेराधानम्, आहि-
तस्याग्नेः पूर्वभागस्य मुल्लुकं मन्वारस्य मन्त्रजपविधिः, तस्याग्नेः
सार्पराक्षीभिरुपस्थानविधिश्चेति ॥

(१ प्र० ५ ब्रा०)

तत्र पूर्णाहुतिविधानम् । ततोऽग्न्याधेयाङ्गपवमानेष्टिनामा-
ग्नेयेष्टिविधानम् । तत्र पवमानपावकशुच्याख्याग्निदेवतात्रयाख्या-
नम्, चरु-पुरोडाश-याज्या-पुरोनुवाक्या-संयाज्या-दक्षिणानां विधा-
नम्, ततः पवमानाख्यादिशून्याग्नेयेष्टिविधानश्चेति ॥

(१ प्र० ६ ब्रा०)

अग्न्याधानदक्षिणाविधिः । तत्र षड्द्वादशादिविकल्पाख्यानम् ,
दक्षिणानासनिर्वचनम् , अनूचानानां देवत्वकथनम् , दक्षिणादानेन
तेषां प्रीत्युत्पादनविधिः , अदक्षिणस्य यज्ञस्य व्यर्थताख्यानम् ,
अग्न्याधानस्य फलकथनार्थाख्यायिकाज्ञानम् , अग्न्याधानस्थान-
विचारः , आहिताग्नेः सत्यवादितादिब्रतनिरूपणञ्चेति ॥

(२ प्र० १ ब्रा०)

अथ पुनराधेयविधानार्थाख्यानम् । तत्र पुनराधेयस्य विधि-
प्रशंसे । ततः पुनराधेयस्य त्रैवर्णिकसाधारण्येन ऋतुविशेषविधिः ,
आदित्यस्य सर्वर्तृरूपत्वाभिधानम् , मध्यन्दिनाधानप्रशंसा ,
पुनराधित्सितस्याग्नेर्दमैरेवोद्धरणविधिः , ब्रौह्मियवमययोरूपयो-
रर्कपत्रद्वयसङ्गृहीतयोर्गाहपत्याहवनीयायतनयोर्निधानविधिः , तत्र
पञ्चकपालेष्टिविधानम् , प्रयाजानुयाजयाज्यादीनां विधिः , पुन-
राधेयस्य दक्षिणानिर्देशश्चेति ॥

(२ प्र० २ ब्रा०)

अथानिहोत्रविधानार्थाख्यानम् । तत्र सर्वादिष्टष्टिवर्णनम् ।
अग्निहोत्रानग्निहोत्रिणोः प्रेतात्मनोर्गतिपार्थक्यसूचनम् । अग्नि-
होत्रहवण्याः सुचोः वैकङ्कतत्वाख्यानम् , अग्निहोत्रहोमद्रव्यस्य
प्रयसः उत्पत्त्यादिकथनम् , अग्निवायुसूर्याणां अग्निहोत्रदेव-
तानां पौवापर्यनिरूपणञ्चेति ॥

(२ प्र० ३ ब्रा०)

अग्निहोत्रहोमकालविधिः । तत्र सायम्प्रातर्होमयोः काल-
विशेषविधिविचारौ । अग्निहोत्रस्य ज्योतिष्टोमादित औत्कर्ष-
निर्णयः । ततः पयसोऽग्निहोत्रहोमसाधनत्वं विधाय तत्पयसो-
ऽन्नावधिश्रयणपूर्वकश्रपणप्रकारोपदेशः, ततोऽनुपसादनोपसादनयो-
र्विधिप्रशंसे, होमोपमार्जनप्राशनोन्नयनानां प्रशंसादिकम् । ततो-
ऽग्निहोत्रस्य याज्ञवल्क्याभिमतपाकयज्ञत्वोपन्यासः, अग्निहोत्री-
याहुतिद्वयविधानार्थाख्यायिकादिकथनम्, तयोश्च सायम्प्रातर्हो-
मयोर्मन्त्रद्वयान्नानादिकम्, होमप्रकारोपदेशश्च । ततो हुतशिष्टस्य
स्थालीमध्यस्य पयसो ब्राह्मणपेयत्वविधानादिकञ्चेति ॥

(२ प्र० ४ ब्रा०)

अग्न्युपस्थानविधानम् । तत्र यजमाने इन्द्रयमनङ्गनैषिधेतिपञ्च-
देवतानां स्थितिस्वीकारः, तद्विशेषवर्णनम्, पञ्चानां मन्वीनां देवत्व-
प्रतिपादनञ्च । तत आहवनीयाग्न्युपस्थानप्रकारः, गार्हपत्योप-
स्थानप्रकारः, अन्वाहार्यपचनोपस्थानप्रकारः, सभ्याग्न्युपस्थान-
प्रकारः, आवसथ्याग्न्युपस्थानप्रकारश्च । ततोऽग्नेरवस्थामेदतो
रुद्रादिनामभेदाद्युपदेशश्चेति ॥

(३ प्र० १ ब्रा०)

तत्र गार्हपत्याहवनीययोरग्न्योरुपस्थानविधिः । तत्रादावग्नि-
स्वभावादिनिर्द्देशः । प्रसङ्गतस्तत्राग्नावग्निहोत्रयाजिशरीरप्रक्षेप-
कथादि, अग्न्यग्निहोत्रिणोः पितापुत्रसम्बन्धनिर्द्देशश्च । ततोऽग्नि-

होत्रयाजिनोऽमृतत्वावाप्तिफलकथनम् , मृत्योरतिमोक्षलाभप्रकार-
प्रतिपादनम् , अग्निहोत्रद्वारा इतरयज्ञेष्वपि अतिमुक्तिः सिध्य-
तीति प्रदर्शनम् , अहोरात्राभ्या मपि मृत्योरतिमुक्तिर्यज-
मानेन ज्ञातव्येत्युपदेशश्च । ततो होमार्थं मन्तरागमनविधिः ।
ततोऽग्निहोत्रस्य नीरूपतया , चित्याग्निं सम्पत्त्या , महदुक्त-
सम्पत्त्या च स्तुतिश्चेति ॥

(३ प्र० २ ब्रा०)

ततः सायङ्कालीनाग्न्युपस्थानविधानार्थास्थानम् । तत्र विचारः ।
तत आहवनीयोपस्थानविधिः , तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने,
‘चित्रावसो’-इति मन्त्रस्यात्र त्रिर्जपविधिः , तत्रोत्थानासीन-
भावविधिश्च । ततोऽग्न्युपस्थानाभिप्रायकथनम् । अतःपरं मग्नि-
होमद्रव्यस्य पयसः सम्पादनप्रकारादिकम् । ततो गार्हपत्यो-
पस्थानविधिः , तदुपस्थानमन्त्राणां विधिव्याख्याने च । ततः
समन्तकगोस्पर्शनं विधिः , दर्शपूर्णमासयोरिवाग्निहोत्रेऽपि पुत्र-
नामग्रहणविधिश्चेति ॥

(३ प्र० ३ ब्रा०)

तत्रैव क्षुल्लकोपस्थानविधानम् । प्रवासं करिष्यत उपस्थान-
मन्त्रस्य विधिव्याख्याने , प्रवक्ष्यत उपस्थानमन्त्रस्य विधि-
व्याख्याने , गच्छतोऽग्निहोत्रिणः पथि वाचंयमविधिः , प्रत्यागमन-
कालेऽपि वाचंयमविधिः , प्रत्यागतस्योपस्थानवैपरीत्यविधिः ,
प्रत्यागतस्य समन्तकाहवनीयोपस्थानविधिः , तथैव गार्हपत्यो-
पस्थानविधिश्च । ततोऽमन्त्रकोपस्थानपक्षप्रतिपादनम् । ततः
प्रवासादागतस्याग्निहोत्रिणोऽग्निविषयकर्त्तव्योपदेशादिकम् , गृहाणा
मुपचारश्चेति ॥

(३ प्र० ४ ब्रा०)

अथ मासिमास्यमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञविधानार्थाख्यानम् । ततोऽपितृणां मर्चनप्रकारोपदेशः , देवानां मर्चनप्रकारोपदेशः , मनुष्याणां मर्चनप्रकारोपदेशश्च । ततो गवादिपशूनां मसुराणाञ्च प्रजापत्युपसदनादिकथनम् , देवानां प्रजापत्याज्ञानुल्लङ्घनकारित्वाख्यानम् , मनुष्याणां प्रजापत्याज्ञोल्लङ्घनकारित्वेन रोगशोकपापनिलयभोगित्वाख्यानञ्च । ततो मनुष्याणां सायम्प्रातराशित्वाद्युपदेशश्च । ततः पित्र्यज्ञार्थं कालनिर्णयः , स्थाननिर्णयः , द्रव्यनिर्णयः , मन्त्रनिर्णयश्च । तत्रैव पिण्डदानार्थाग्निनिधानस्य , अग्नेर्जनस्य , बर्हिःस्तरणस्य , मन्त्रस्य च विधानम् । पिण्डदानानन्तरञ्च मन्त्रजपस्य , परागावर्त्तनस्य , उदकावर्जनस्य , नमस्कारस्य , तन्मन्त्रस्य च विधानम् । ततः पित्र्यप्रार्थनस्य , पिण्डशेषाघ्राणस्य च विधानादिकञ्चेति ॥

(३ प्र० ५ ब्रा०)

अथाग्रयणेष्टिविधानम् । तत्र ऐन्द्राग्नवैश्वदेवद्यावापृथिव्यहविषां विधानम् । तत्रानाश्रितदोषविचारः । दक्षिणाविधानम् । ईजानानीजानभेदेनाग्रयणव्यवस्था । ब्राह्मणभोजनविधिः , तद्दक्षिणाविधिश्चेति ॥

(४ प्र० १ ब्रा०)

अथ दाक्षायणेष्टिविधानम् । तत्राख्यायिका । तद्यज्ञस्य नामनिरुक्तिः , फलकथनम् , विशिष्टफलान्तरहेतुताप्रतिपादनाय आख्यायिकया परकृतित्रयोपन्यासश्च । ततो दाक्षायणयज्ञप्रयोग-

विषयकोपदेशः । तत्र पूर्वपौर्णमास्या मनुष्ठेययागविधिः, ततः परेद्युरनुष्ठेययागद्वयविधिः, अमावास्याप्रयोगेऽप्येवं पूर्वद्युर्यागैकस्य परेद्युर्यागद्वयस्य च विधानञ्च । ततो दाक्षायण्यज्ञस्य, सोमयागरूपताप्रतिपादनादिकम् । ततः पौर्णमास्यां सान्नाय्ययागविध्यादिकम्, अमावास्यायां पयस्यायागविध्यादिकञ्च । वाजिनहोमविधानादि, वाजिनेन दिग्ब्याघारणञ्चेति । ततो यजमानपञ्चमाना ऋत्विजां भक्षणविधिः, तन्मन्त्रानुज्ञापनञ्चेति ॥

(४ प्र० २ ब्रा०)

अथ चातुर्मास्ययागविधिः । तच्चातुर्मास्ययागीयं वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्व । तस्य वैश्वदेवयागस्य प्रजासृष्टिहेतुत्वाख्यानम्, आख्यायिकोक्तेऽर्थे मन्त्रप्रमाणप्रदर्शनम्, पादशस्तन्मन्त्रतात्पर्याख्यानञ्च । ततो वैश्वदेवयागविधिः; तत्र पञ्चानां हविषां विधिः, पयस्याप्रशंसादिकम्, पयस्यायागविधानादिकञ्च । ततस्तदीयविशेषाङ्गकर्मणां विधानम्; तत्र बर्हिःराहरणान्निमन्यन-काल-प्रयाजसङ्ख्या-समिष्टयजुषां प्रकृतियागतो विभिन्नताख्यानम्, वैश्वदेवयागस्य प्रजाश्रीफलसाधनत्वाख्यानञ्चेति ॥

(४ प्र० ३ ब्रा०)

अथ चातुर्मास्ययागीयं वरुणप्रघासाख्यं द्वितीयं पर्व । तस्य वरुणप्रघासयागस्य वरुणपाशमोचनहेतुत्वाख्यानम्, तत्प्रयोगविध्यादिकञ्च । तत्र उत्तरवेदिनिवपनम्, पूर्वविहितपञ्चहविषाञ्चेह विधानम्, करीराणां मावपनम्, शमीपर्णानां मावपनम्, अन्तिमहविषो विधानञ्च । करश्चपात्राणां निर्माणविधिः,

करञ्चपात्रनिर्माणविष्टाद् यवपिष्टात् मेघमेघीमियुनस्य निर्माण-
विधिः, मेघमेघोः प्रयागादिकञ्च । ततोऽग्निमन्थनविधानम् ।
तस्मिन्नेवाग्नौ पत्नीकर्तृककरञ्चपात्रहोमस्य विधानाय पत्नी-
व्यभिचारप्रश्नादिकम्, तद्दोषप्रशमनाय मन्त्रवाचनञ्च । तत्क-
रञ्चपात्रसङ्ख्याविधानादि, यजमानस्य पत्न्याश्च मन्त्रवाचनादि,
तदनन्तरं अध्वयुप्रतिप्रस्थातोराश्रावणादिकम्, मेघमेघोर्विपरि-
हरणम्, अध्वर्योर्वारुण्याः पयस्यायाः प्रचरणम्, प्रतिप्रस्थातु-
र्मारुत्याः पयस्यायाः प्रचरणे विशेषोपदेशः, सुच्यवदानादिकञ्च ।
अध्वर्योः प्राशित्रावदानम्, इडोपह्वानादिकञ्च । तत आसेचनम्,
अतिक्रमणम्, सुगव्यूहनञ्च । ततोऽध्वर्याग्नीध्रयोक्तप्रत्युक्ती ।
ततः पत्नीसंयाजः, समिष्टयजूषि, अवभृथगमनादिकम्,
केशश्मश्रुवपनविधिश्चेति ॥

(४ प्र० ४ ब्रा०)

अथ चातुर्मास्ययागीयं साकमेधाख्यं तृतीयं पर्व । तस्य
साकमेधयागस्य पापोपशमनहेतुत्वाख्यानम्, तत्प्रयोगविध्यादि-
कञ्च । तत्र पूर्वदिवसे प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु क्रमादनीकवदिष्टेः
सान्तपनेष्टेः गृहमेधीयेष्टेश्च विधानादिकम् । ततः पूर्णदवाख्यस्य
कर्मणो विधानादि । तत ऋषभध्वनौ होमविधानादि, अन्येष्टि-
विधिश्च । ततो महाहविराख्यप्रधानहविषः प्रस्तावश्चेति ॥

(५ प्र० १ ब्रा०)

तस्य साकमेधीयमहाहविषः प्रयोगविधिः । तत्र क्रमशो-
ऽष्टानां हविषां विधान मिति ॥

(५ प्र० ३ ब्रा०)

अथ पिण्डपितृयज्ञप्रस्तावः । तत्र प्रथमं पितृणां मुक्ति-
 कथनम्, पितृणां वसन्ताद्यृतुरूपत्वाख्यानञ्च । ततः पितृयज्ञ-
 विधिः । तत्र सोमपानां प्रथमहविर्विधानम्, बर्हिषदां
 द्वितीयहविर्विधानम्, अग्निष्वात्तानां तृतीयहविर्विधानञ्च ।
 पितृयज्ञकारिणां दक्षिणामुखत्वादिविधानम्, पितृप्राया वेदे-
 निर्माणविधानादि, तदीयसामिधेनीप्रयोगोपदेशः, होतवरण-
 निषेधादिकञ्च । प्रधानयागानन्तरं स्विष्टकृत्स्थानीयकव्यवाहनयाग-
 विध्यादि । ततः पिण्डदानस्य तदङ्गकर्मणां तन्मन्त्राणाञ्च विधयः,
 हुतोच्छिष्टस्याग्न्यादौ प्रक्षेपादिर्विधिविकल्पश्चेति ॥

(५ प्र० ३ ब्रा०)

अथ त्र्यम्बकयागविधानार्थाख्यानम् । तत्रादौ त्र्यम्बकनाम-
 निरुक्त्यादि । ततः त्र्यम्बकहविषा समिधारणादिविधानानि ।
 ततश्चतुष्पथान् प्रत्यागतस्य मन्त्रद्वयजपः, तयोर्व्याख्यानञ्च ।
 ततः परिगमनविध्यादि, तत्तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततो
 मृतकासजनविधिः, तन्मन्त्रविधिव्याख्याने च । ततः केशश्मशु-
 वपनविध्यादिकञ्चेति ॥

(५ प्र० ४ ब्रा०)

अथ चातुर्मास्ययागीयचतुर्थपर्वणः शुनासीर्याख्यस्य विध्युपो-
 क्षातत्वेन चातुर्मास्यानां चतुर्णां मेव यागानां सत्त्वय्यफलहेतुत्व-
 दर्शनादि, विशेषतः शुनासीर्ययागस्य श्रीलाभफलादिवर्ण-

नञ्च । ततः शुनासीर्यप्रयोगविधयः । तत्राप्यष्टानां हविषां
विधीदिकम्, यागदक्षिणा च । ततः शुनासीर्ययागस्य काल-
विचारः परिवर्त्तनविधिश्चेति ॥

(५ प्र० ५ ब्रा०)

अथ वैश्वदेवादिषु सर्वेष्वेव पर्वसु सेतिकर्त्तव्यताकपरि-
वर्त्तनविधिः । तत्रादौ चातुर्मास्ययागस्य शत्रुविजयहेतुत्वाख्या-
नम् । ततश्चातुर्मास्यानां प्रथमपर्वणो वैश्वदेवयागस्याग्निमुख-
त्वाख्यानम्, द्वितीयपर्वणो वरुणप्रघासयागस्य वरुणमुखत्वाख्या-
नम्, तृतीयपर्वणः साकमेधस्येन्द्रमुखत्वाख्यानञ्च । ततो लौह-
क्षुरेण केशानां छेदनं श्लश्रूणां वपनञ्च । ततश्चातुर्मास्ययाजिनां
परमगतिफलान्नानञ्चेति ॥

॥ अथ कर्मसूची ॥

कर्म	प्र०	ब्रा०	क०	कर्म	प्र०	ब्रा०	क०		
अग्निनिधानम्	...	३	४	१४	अग्निस्थापनम्	...	५	२	११
अग्निमन्थनम्	...	१	४	८	अग्निह्वरणम्	...	१	४	१८
अग्निमन्थनम्	...	४	२	१६	अग्निहोत्रम्	...	२	२	१
अग्निमन्थनम्	...	४	३	१६	अग्नीतृप्रेषः	...	५	२	४७
अग्निव्यासयजनम्	५	३	६	अग्न्याधानम्	...	१	२	३	

कर्म .	प्र०	ब्रा०	क०	कर्म .	प्र०	ब्रा०	क०
अग्नाधानम् ...	५	२	३२	आश्रावणम् ...	५	२	२३
अग्नाधानदक्षिणा ...	१	५	२१	आहवनीयोद्धरणम्	२	३	७
अग्नाधानदक्षिणा	१	६	३	आहवनीयोपस्थानम्	३	२	३२
अग्न्युपस्थानम् ...	३	२	३	आहवनीयोपस्थानम्	३	३	८
अजोपवन्धनम् ...	१	४	३	आहवनीयोपस्थानम्	५	२	३७
अध्वर्युकर्म ...	४	३	३२	इडाप्राशनम् ...	४	४	१६
अध्वर्युप्रेषः ...	५	२	२४	इडोपह्वानम् ...	४	४	१५
अध्वर्याग्रीध्रसंवादः ...	३	३	४४	इध्रप्रोक्षणम् ...	५	२	१४
अनुदिताहुतिः ...	२	३	२	उत्तरवेदिनिवपनम्	४	३	६
अनुयाजप्रेषः ...	४	३	४१	उदकावनेजनम् ...	३	४	१६
अनुयाजयागः ...	४	२	२०	उदकावनेजनम् ...	३	४	२३
अन्तरागमनम् ...	३	१	१३	उदिताहुतिः ...	२	३	३६
अन्वाहार्यपचनम्	२	४	६	उपसादनम् ...	२	३	१७
अपूपनिधानम् ...	२	१	१२	उपस्तरणादिहोमः	५	२	३१
अभिचारणम् ...	५	३	६	उपस्थानम् ...	१	४	२६
अभ्युक्षणम् ...	१	१	३	उपसर्पणम् ...	१	४	२७
अवष्टयगमनम् ...	४	३	४६	उपांशुचरणम् ...	२	१	१६
अस्तमिताहुतिः ...	२	३	६	उपांशुप्रचरणम् ...	५	२	१६
आखूत्करे क्षेपः ...	५	३	१०	उल्लुक्निधानम् ...	३	४	१५
आग्रयणदक्षिणा ...	३	५	१३	उल्लिखनम् ...	१	१	२
आग्रयणेलिः ...	३	५	१	ऋषभाह्वानम् ...	४	४	१६
आग्नेययागः ...	४	२	८	करम्भपात्रनिर्माणम्	४	३	१४
आन्यग्रहणम् ...	५	२	१३				
आन्यभागप्रचरणम्	४	३	३५				
आज्यावदानम् ...	५	२	२६				

कर्म.	प्र०	ब्रा०	क०	कर्म.	प्र०	ब्रा०	क०		
करम्भपातहोमः	...	४	३	२४	तस्मिन्कयागः	...	५	३	१
करीरावपनम्	...	४	३	११	तस्मिन्कहविःप्रणयनम्	५	३	४	
कव्यवाहनयागः	...	५	२	३०	दर्शयिः	...	४	१	१
कुमारीमन्त्रजपः	...	५	३	१३	दाक्षायणयज्ञः	...	४	१	२
कुम्भीनिधानम्	...	४	४	१६	दिग्वाधारणम्	...	४	१	२४
केशशस्त्रवपनम्	...	४	३	४८	द्यावापृथिव्यायागः	...	४	२	१७
केशशस्त्रवपनम्	...	४	३	१६	निवपनम्	...	१	१	१
गार्हपत्योपस्थानम्	...	३	२	२८	निवान्यादोहनम्	...	४	४	१६
गार्हपत्योपस्थानम्	...	३	३	६	नीविसुद्वर्हणम्	...	५	२	४२
गार्हपत्योपस्थानम्	...	५	२	३६	पञ्चर्त्विजाम्भक्षणम्	४	१	२५	
गृहमेधीयेष्टिः	...	४	४	४	पत्नीवाचनम्	...	४	३	२१
गोरुपस्थानम्	...	३	२	३	पत्नीसंयाजः	...	४	३	४५
चतुःसक्तिवेदिनिर्माणम्	५	२	१०	पथिहोमः	...	५	३	७	
चतुरवदानम्	...	४	३	३६	पयस्याप्रचरणम्	...	४	३	३७
चतुरन्नयनम्	...	२	३	१७	पयस्यायागः	...	४	१	२०
चतुष्पथहोमः	...	५	३	७	पयस्यायागः	...	४	२	१५
चरुनिर्वपनम्	...	१	५	१८	पयसोऽधिश्रयणम्	...	२	३	१५
चरुश्रपणम्	...	३	४	१	पयोदोहनम्	...	२	३	१४
चरुश्रपणम्	...	४	४	५	पयोदोहनम्	...	४	४	१६
चरुहोमः	...	३	४	११	परिगमनम्	...	५	३	१२
चरुदासनम्	...	३	४	११	परिग्रहपरिग्रहणम्	५	२	१२	
चरुदासनम्	...	४	४	६	परिधिपरिधानम्	...	५	२	१६
चर्वभिचारणम्	...	४	४	६	परिवर्त्तनम्	...	५	४	१४
चातुर्मास्येष्टिः	...	४	२	१					

कर्म .	प्र०	त्रा०	क०	कर्म .	प्र०	त्रा०	क०
परिवर्तनम् ...	५	५	७	प्रजापत्युपसदनम् ...	३	४	४
पवमानेष्टिः ...	५	५	६	प्रतिपरिगमनम् ...	५	२	१५
पिण्डदाहजपः ...	५	२	४०	प्रतिप्रस्थाहकर्म ...	४	३	३१
पिण्डदानम् ...	३	४	१६	प्रत्याश्रावणम् ...	५	२	२३
पिण्डदानम् ...	५	२	३४	प्रवत्स्यतो वाग्यमनम्	३	३	६
पिण्डदानम् ...	५	२	३६	प्रयाजयागः ...	४	२	२०
पिण्डदानोदीच्याङ्गम्	५	२	४१	प्रस्तराद्यासादनम् ...	५	२	१७
पिण्डपितृयज्ञः ...	३	४	१	प्राशित्रावदानम् ...	४	२	४०
पिण्डपितृयज्ञः ...	५	२	१				
पिण्डशेषाघ्राणम् ...	३	४	२४	फलीकरणम् ...	३	४	६
पितृनमस्करणम् ...	३	४	२४				
पितृप्रार्थनम् ...	३	४	२४	वर्हिषदाजनम् ...	५	२	५
पितृयज्ञः ...	३	४	१	वर्हिःसन्नहनम् ...	५	२	१५
पित्रावाहनम् ...	५	२	२२	वर्हिःस्तरणम् ...	५	२	१५
पुत्रनामग्रहणम् ...	३	२	४१	वर्हिःस्तरणम् ...	३	४	१७
पुनराधेयम् ...	२	१	१	ब्रह्मौदनपाकः ...	१	४	४
पुनराधेयदक्षिणा ...	२	१	२८	ब्रह्मौदनप्राशनम् ...	१	४	६
पुरोडाशनिर्वापः ...	१	५	२२	ब्राह्मणभोजनम् ...	३	५	१४
पुरोडाशप्रतिपत्तिः	४	३	१६				
पुरोऽनुवाक्याप्रच्यावनम्	५	२	२६	मन्त्रजपः ...	१	४	२८
पूर्णदर्वकर्म ...	४	४	१७	मन्त्रजपः ...	३	४	२२
पूर्णाहुतिहोमः ...	१	५	२	महाहविःप्रयोगः ...	५	१	५
पूर्णाहुतिहोमः ...	१	५	३	महाहविरिष्टिः ...	४	४	२
ष्टषदाव्ययानयनम्	४	३	४१	महाहविरिष्टिः ...	४	४	२१
पौर्णमास्येष्टिः ...	४	१	१५	माखतयागः ...	४	२	१२
पौष्णयागः ...	४	२	११	माखतेष्टिः ...	४	४	२०

कर्म .	प्र०	ब्रा०	क०	कर्म .	प्र०	ब्रा०	क०
मूतकावसजनम् ...	५	३	१७	सर्पिरासेचनम् ...	४	४	६
मृताग्निहोत्रिप्रक्षेपः	३	१	५	समिदाधानम् ...	३	३	८
मेषमेघीनिर्माणम् ...	४	३	१५	समिष्टयजुःप्रयोगः ...	४	३	४६
मेषमेघीप्रक्षेपः ...	४	३	१७	समिष्टयजुर्यजनम् ...	४	२	२१
मेषावदानम् ...	४	३	३८	सम्भरणम् ...	१	१	१
मेघीप्रत्यञ्जनम् ...	४	३	३८	स्तम्बयजुर्हरणम् ...	५	२	१८
यजमानमन्त्रजपः ...	५	३	११	सद्योर्वाहननम् ...	५	३	११
रुद्रावसदानम् ...	५	३	१८	सान्तपनेष्टिः ...	४	४	३
वरुणप्रघासेष्टिः ...	४	३	१	सान्नाय्ययागः ...	४	१	१५
वसिष्ठयज्ञः ...	४	१	२	सामिधेन्यनुवचनम् ...	५	३	२१
विपरिहरणम् ...	४	३	३६	सारस्वतयागः ...	४	२	११
व्रीह्यवहननम् ...	३	४	६	सावित्रयागः ...	४	२	१०
वैश्वदेवदक्षिणा ...	४	२	२२	स्थानसंस्कारः ...	३	४	१३
वैश्वदेवपर्व ...	४	२	७	सुगयूहनम् ...	४	३	४२
वैश्वदेवपर्व ...	४	३	१	सुगयूहनम् ...	५	२	४५
शमीपर्णावपनम् ...	४	३	१२	सोमपायजनम् ...	५	२	४
श्राकमेघपर्व ...	४	४	१	सौम्ययागः ...	४	२	६
शुनासीर्यदक्षिणा ...	५	४	६	हविर्निर्वपणम् ...	१	१	५
शुनासीर्ययागः ...	५	४	२	हविर्यज्ञः ...	४	२	२
शुनाशीर्ययागः ...	५	४	११	हविरासादनम् ...	४	३	१८
				हुतशिष्टप्राशनम् ...	५	२	४८
				हुतशेषप्राशनम् ...	५	२	४८
				हुतशेषस्याग्नौप्रक्षेपः	५	२	४८
				होत्रपवेशनम् ...	५	२	२३

॥ अथ स्मर्तव्यालोच्यवचनसूची ॥

“अन्नं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति” ५. ४. १.

“अग्ने रेतो हिरण्यम्” २. १. २८.

“अथास्य शरीर मेवान्निर्दहति ; तद्यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेतैव
मेघोऽग्नेरधिजायते ; शश्वत् वा एषः” २. २. ८.

“अन्नं वा आपः” १. १. ३.

“अयं वै यज्ञो योऽयं पवते” १. ४. २१.

“अयं वै वायुर्योऽयं पवते, एष वा इदं सर्वं प्रचावयति यदिदं
किञ्च ; वर्षति, वृष्टादोषधयो जायन्ते ; ओषधीर्जग्ध्वापः
पीत्वा तत एतदङ्गोऽधि पयः सन्नवति ; एष हि वा एतस्मान्-
यति, तस्माद् वायव्यं भवति” ५. ४. ७.

“असौ (ऋगशिराः) अमुषार्क्षस्य शिर इत्याहुः” १. २. ८.

“आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः” २. १. ८.

“इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधात्, वृत्रं हत्वा यथा महाराजो
विजिग्यान एवं सहेन्द्रोऽभवत्” ५. १. ८.

“इन्द्रो वै यजमानः” १. २. ११.

“इयं वै पृथिवी पूषा” ५. १. ७.

“इयं वै पृथिव्यदितिः” १. ५. १८.

“उत्तरतो हि स्त्री पुमांसं मुपशेते” ४. ३. १७.

“उत्तरा हि सप्तर्षय उच्यन्ति” १. २. ४.

“उपह्वय प्राप्नन्ति । यावन्तो गृह्णा हविरुच्छिष्टाशाः स्युस्तावन्तः
प्राप्नीयुः, अथो अपृत्यविजः प्राप्नीयुः, अथो अपृत्ये ब्राह्मणाः
प्राप्नीयुः, यदि बहुरोदनः स्यादथैतां कुम्भी मपिधाय
निदधति” ४. ४. १६.

“उभये ह वा इद मग्ने सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च” ३. २. ४.

“ऋतवः पितरः” ३. ४. २४ ; ५. २. ४२.

“एता ह वै देवता योऽस्ति तस्मिन् वसन्ति, इन्द्रो यमी राजा नडो
नैषिधः” २. ४. १, २.

“एते वै विश्वेदेवा रश्मयः । योऽथ परं भाः प्रजापतिर्वा स
इन्द्रो वा” २. ३. ७.

“एष एव मृत्युर्य एष तपति ०—० असुप्तिं लोके पुनः पुनरेव
प्रमारयति” ३. १. ७, ८.

“एष वै यज्ञो यदग्निः” १. ४. १८.

“कं वै प्रजापतिः” ४. ३. १३.

“कनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यः ०—० भूयांसो हि मनुष्या देवेभ्यः
०—० भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः ०—० कनीयांसो ह वा
अस्य भार्या भवन्ति, भूयांसः पशवः” २. ४. १८.

“कात्वालीकृता ह्येव तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसुः, न
वनस्पतयः” २. २. ३.

“आययेव वा अयं पुरुषः” २. १. १०.

“तदग्निहोत्राच्छिष्टं ०—० नात्राह्वयः पिबेत्” २. ३. ३८.

“तस्मादेतद्विषिणाभ्यनूक्तम्—‘प्रजा ह तिस्रोऽत्याय मीयुरिति”

(ऋ० सं० ८. १०१. १४.) ४. २. ४.

“तान् द्वयोर्मृतकयोरुपनह्य वेणुयुध्यां वा कुपे वोभयत आबध्योदङ्
परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वल्मीकं वा विन्देत , तस्मिन्ना-
सजति ;— ‘एतत् ते रुद्रावसं तेन परो मृजवतोऽतीहि’
—इति” ५. ३. १७.

“तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः” ३. ४. २१.

“देवाः सन्ति ०—० पितरश्चोषधयश्च सन्ति ०—० मनुष्याः
सन्ति” २. ३. १८.

“द्यौर्बह्वी नक्षत्रैः” १. ४. २८.

“द्वयं वा इदं जीवनम् , मूलि चैवामूलञ्च” २. ३. १०.

“द्वया वै देवाः । अहैव देवाः, अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते
मनुष्यदेवाः ; ०—० आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति , दक्षि-
णाभिर्मनुष्यदेवान्” १. ६. ६ ; ३. ५ , १४.

“न श्वः श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद” १. ३. ८.

“नो ह्यनाहितान्नेव्रतचर्यास्ति” १. ४. ७.

“नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्” ३. १. १५ , १६.

“पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा” ५. ३. १४.

“पयसो वै प्रजाः सञ्भवन्ति” ४. ३. ८.

“परमां गतिं गच्छति” ५. ५. ८.

“पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० सं० १. ८८. ८.)” ३. १. ६.
 “पूर्वाह्नो वै देवानाम्, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम् अपराह्नः पितृ-
 णाम्” ३. ४. ८.

“प्रजापतिं ०—० देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्यो-
 पासीदंस्तानब्रवीद् यज्ञो वोऽन्नं मन्त्रतत्त्वं व जगं वः सूर्यो वो
 ज्योतिरिति” ३. ४. १.

“(प्रजापतिं) पशव उपसीदन् तैश्चः स्तैष मेव चकार यदैव यूथं
 कदा च लभ्ये यदि काले यद्यनाकालेऽयैवाश्नाथेति” ३. ४. ४.

“(प्रजापतिं) पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदं-
 स्तानब्रवीन् मासि मासि वोऽन्नं स्वधा वो मनोजवो वशन्द्रमा
 वो ज्योतिरिति” ३. ४. २.

“(प्रजापतिं) मनुष्याः प्राहता उपस्यं कृत्वोपासीदंस्तानब्रवीत्
 सायन्मातर्वोऽन्नं प्रजा वो मृत्युर्वोऽग्निर्वो ज्योतिरिति” ३. ४. ३.

“(प्रजापतिं) शशदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुस्तेभ्यस्तमश्च सायाञ्च
 प्रददौ” ३. ४. ५.

“प्रथमदुग्धं गुण्यं भवति ; अग्नेर्हि रेतः” २. २. १५.

“मनो ह वै देवा मनुष्यस्याजानन्ति ३. ३. ११.

“माता धेनुर्मातेव वा इयं मनुष्यान् विभर्त्ति” १. ५. २१.

“मेधो वै पयः, मेधस्तण्डलाः, त सुभयं मेधं मात्मन् धत्ते, तस्मात्
 क्षौरौदनो भवति ४. ४. ४.

“यत्रैतत् प्रतितरा मिव तिरश्चीवाच्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि
 ह्येष भवति मित्रः” २. ४. १२.

“यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति , धूप्यत एव , तर्हि ह्यैष भवति
रुद्रः” २. ४. ८.

“यत्रैतत् प्रदीप्ततरो भवति , उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्वलीति,
तर्हि ह्यैष भवतीन्द्रः” २. ४. ११.

“यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति, तर्हि ह्यैष भवति वरुणः” २. ४. १०.

“यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इव, तर्हि ह्यैष भवति ब्रह्म” २. ४. १३.

“यथैवासी सूर्य एवं (नक्षत्रम्)” १. २. १८.

“योषा वा आपः , वृषानिः” १. १. ४.

“वर्षा ह त्वेव सर्वेषा सृत्तूनां रूपम्” २. १. ७ , ८.

“वसन्तो ग्रीष्मो वर्षास्ते देवा ऋतवः” १. ३. १.

“वीर्यं वा अश्वः” १. ४. २४.

“शरहेमन्तः शिशिरस्ते पितरः (ऋतवः)” १. ३. १.

“शाखया वल्ग्वानपाकृत्य पवित्रवति सन्दोह्य , तं चरुं अपयति ,
चरुं ह्येव स यत्र क्व च तण्डुलानापयन्ति” ४. ४. ४.

“स उत्तरस्या मेव पयस्यायां मेघो भवदधाति , दक्षिणस्यां
मेघम्” ४. ३. १७.

“स एतास्त्रिस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्” १. ५. १४.

“स एष पुत्रः सन् पिता भवति” ३. १. ५.

“स पत्नी मुदानेयन् पृच्छति केन चरसीति ; वरुणं वा एतत् स्त्री
करोति , यदन्यस्य सत्यन्येन चरति” ४. ३. २०.

“सप्त च वै शतान्यशीतीना सृजो विंशतिश्च” ३. १. १८.

“स यत्रोदङ्खावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति ०—० अथ यत्र
दक्षिणावर्त्तते पितृषु तर्हि भवति” १. ३. ३.

“स यो हैवं विद्वान् सायम्प्रातराशी भवति, सर्वं हैवायुवेति” ३. ४. ६.

“सर्वतोमुखो वा असावादित्यः ०—० सर्वतोमुखोऽय मग्निः ०—०

अन्यतोमुखः पुरुषः” ५. ४. १४—१६.

“सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्चयवन्ते” १. २. ३.

“सायुज्यं सलोकतां जयति” ५. ५. ८.

“सोमो राजा देवाना मन्नं यच्चन्द्रमाः” ४. १. १५.

“स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेति” २. २. ६.

“हिरण्यम् ०—० अग्नेर्हि रेतः” १. १. ५.

॥ अथर्विनामादिसूची ॥

अथर्विनामादि.	प्र०	ब्रा०	क०	अथर्विनामादि.	प्र०	ब्रा०	क०
अग्नवान्:	३ २ १४	आसुरिः	२ ३ ६
अभिका	५ ३ ६	आसुरिः	३ ३ २
अरुणः	१ ६ २०	आसुरिः	५ २ २५
आरुणिः	२ ३ ३१	आसुरिः	५ २ ३३
आरुणिः	२ ३ ३४	आसुरिः	५ ४ १७
आसुरिः	१ ४ २७	इन्द्रः	२ ४ १, २

ऋषिनामादि.	प्र०	ब्रा०	क०	ऋषिनामादि.	प्र०	ब्रा०	क०
उर्वारुकम्	५	३	१२	देवभागः	४	१	५
ऋषयः	१	५	१४	नङ्गः	२	४	१, २
ऋषयः	३	२	२४	नैषिधः	२	४	१, २
ऋषिः	४	२	४	पाञ्चिः	१	४	२७
एके	५	२	३३	पार्वतिः	४	१	६
औपवेशिः	१	६	२०	प्रतीदर्शः	४	१	३
औशिजः	३	२	३५	भाल्लवेयः	१	४	६
कक्षीवान्	३	२	३५	भृगवः	३	२	१४
कहोडः	३	५	१	माधुकिः	१	४	२७
कुमार्यः	५	३	१३	यमः	२	४	१, २
कुरवः	४	१	५	याज्ञवल्काः	२	३	२१
कौषीतकिः	३	५	१	याज्ञवल्काः	३	५	२
चैलकिः	२	३	३४	अतर्षिः	३	१	५
जीवलः	२	२	३४	श्रेष्ठः	४	१	३
ज्ञातयः	१	६	२०	सहदेवः	४	१	४
तच्चा	२	३	३१	सार्ज्यः	४	१	४
दक्षः	४	१	१, ६	सुम्ना	४	१	४
दाक्षायणाः	४	१	६	सृञ्जयाः	४	१	४, ५

॥ सर्वसूची ॥

	पृष्ठे		पृष्ठे
अथ सम्पादकोक्तिः ...	अ, आ	अथ कण्डिकासूची ...	३
अथ मूलशुद्धिपत्रम् ...	क, ख	अथ विषयसूची ...	१५
अथ प्रपाठकसूची ...	१	अथ कर्मसूची ...	२४
अथाध्यायसूची ...	१	अथ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ...	२८
अथ ब्राह्मणसूची ...	२	अथर्षिनामादिसूची ...	३४

(अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्)

महाहविषा ह वे देवा व्वृचं जघ्नः । तेनो
 ऽएव व्यजयन्त येय मेषां व्विजितिस्ता मथयानेवेषां
 तस्मिन्त्यङ्गाम ऽदुषव आर्कस्तानेतैरेव शल्पान्नि-
 हरन्त तान् व्यवहन्त यत् त्राम्बकैर्यजन्त ॥ १ ॥

अथ यदेष एतैर्यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य
 तथा कुं चनेषुर्च्छतीति देवा अकुर्वन्निति त्वेवैषु
 एतत् करोति याश्च त्वेवास्य प्रजा जाता
 याश्चाजातास्ता उभयी रुद्रियात् प्रमुञ्चति ता
 अखानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्माद्वा
 ऽएष एतैर्यजते ॥ २ ॥

ते वै रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुस्तस्मा-
 द्रौद्रा भवन्त्येककपाला भवन्त्येकदेवत्या अस-
 न्निति तस्मादेककपाला भवन्ति ॥ ३ ॥

ते वै प्रतिपुरुषं * । यावन्तो गुह्याः स्युस्ता-
 वन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति तत् प्रतिपुरुषं मे-

* 'प्रतिपुरुषं'—इति ग, घ ।

वैतदेकैकेन या अथ प्रजा जातास्ता रुद्रियात्
प्रमुञ्चत्येकेनातिरिक्ता भवन्ति तद्या एवाथ प्रजा
अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति तस्मादेकेनाति-
रिक्ता भवन्ति ॥ ४ ॥

सु जघनेन गार्हपत्यं । यज्ञोपवीतो भूत्वो-
दङ्ङासीन एतान् गृह्णाति स तत एवोपोत्या-
योदङ् तिष्ठन्नवहन्त्युदीच्यौ दृषदुपले ऽउपदधात्यु-
त्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति तद्यदेव
तामुत्तरां दिशं सचन्त ऽएषा ह्येतस्य देवस्य दिक्
तस्मादेता मुत्तरां दिशं सचन्ते ॥ ५ ॥

ते वा अक्ताः स्युः । अक्तां हि हविस्तु ऽउ
वा ऽअनक्ता एव स्युरभिमानुको ह रुद्रः पशून्त्या-
द्यदङ्ग्रात् तस्मादनक्ता एव स्युः ॥ ६ ॥

तान्त्सार्धं पात्राणु समुद्रास्य । अन्वाहार्य-
पचनादुल्मुक मादायोदङ् परेत्य जुहोत्येषा
ह्येतस्य देवस्य दिक् पथि जुहोति पथा हि सु
देवश्चरति चतुष्पथे जुहोत्येतद् वा ऽअस्य जाम्बितं
प्रज्ञात मवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे
जुहोति ॥ ७ ॥

पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति । ब्रह्म
 वै पलाशस्य पलाशं ब्रह्मणैवैतज्जुहोति स
 सर्व्वेषा मेवावद्यत्येकस्यैव नावद्यति य एषो
 ऽतिरिक्तो भवति ॥ ८ ॥

स जुहोति । एष ते रुद्र भागः सह
 स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहेत्यम्बिका ह वै
 नामास्य स्वसा तथास्यैष सह भागस्तद्यदस्यैष
 स्त्रिया सह भागस्तस्मात् त्राम्बिका नाम तद्या अस्य
 प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ ९ ॥

अथ य एष एको ऽतिरिक्तो भवति ।
 त माखूत्कर ऽउपकिरत्येष ते रुद्र भाग आखुस्ते
 पशुरिति तदस्मा ऽआखु मेव पशूना मनुदिशति
 तेनो ऽद्वतरान् पशून् न हिनस्ति तद्यदुपकिरति
 तिर इव वै गुर्भास्तिर इवैतद्यदुपकीर्णं तस्माद्वा
 ऽउपकिरति तद्या एवास्य प्रजा अजातास्ता
 रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥ १० ॥

अथ पुनरेत्य जपन्ति । अत्र रुद्र मदीमद्यव
 देवं त्राम्बिकम् । यथा नो व्यस्यसस्करद्यथा नः
 व्यस्यसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥ भेषजं मसि

मेषजं गवे ऽश्वाय पुरुषाय मेषजुं सुखं मेषाय
मेष्या ऽद्वत्याशीरेवैषैतस्य कर्मणः ॥ ११ ॥

अथापसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूहनु-
पाप्नानास्त्रास्वकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुक मिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतादित्या-
शीरेवैषैतस्य कर्मण आशिष मेवैतदाशासते
तदु ह्येव शु मिव यो मृत्योर्मुच्यातै नामृतात्तस्मा-
दाह मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥ १२ ॥

तदु हापि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजा-
महा ऽद्वति या ह वै सा रुद्रस्य स्वसांस्विका
नाम सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः
परीयुर्भगस्य भजामहा ऽद्वति ॥ १३ ॥

तासां मुतासां मन्त्रो ऽस्ति । त्रास्वकं यजा-
महे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुक मिव
बन्धनादितो मुक्षीय मामुत इति सा यदित
इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह
पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामुत
इति ॥ १४ ॥

अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति । दक्षि-

गानूनुपाप्ताना एतेनैव मन्त्रेण तद्यत् पुनः
प्रसलवि त्रिः परियन्ति प्रसलवि न इदं कुर्मानु-
सन्तिष्ठाता ऽइति तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः
परियन्ति ॥ १५ ॥

अथैतान्यजमानो ऽञ्जलौ समोष्य । ऊर्ध्वानु-
दक्षति यथा गौर्नोदाप्नुयात् तदात्मभ्य एवैतच्छल्पा-
न्निर्मिमते तान्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति मेषज
मेवैतत् कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति ॥ १६ ॥

तान् * इयोर्मूतकयोरुपनृह्य । व्वेणुयष्ट्रां वा कुपे
वोभयत आबध्योदङ् † परेत्य यदि व्वृत्तं वा स्थाणुं वा
व्वेणुं व्वा व्वल्मीकं वा व्विन्देत् तस्मिन्नासजत्येतत्ते
कद्रावसं तेन परो मूजवतो ऽतीहीत्यवसेन वा
ऽअध्वानं यन्ति तदेनऽ सावस मेवान्ववार्जति
यत्र-यत्रास्य चरणं तदन्वत्र ह वा ऽअस्य परो
मूजवद्व्यश्चरणं तस्मादाह परो मूजवतो ऽती-
हीत्यवततधन्वा पिनाकावस इत्यहिंसन् नः शिवो

* 'तां'—इति च दृष्टं डा०-वेवरेण ।

† 'आनध्योदङ्'—इति च डा०-वेवरदृष्टः पाठः ।

ऽतीहीत्येवैतदाह कृत्तिवासा इति निष्वापय-
त्येवैन मेतत् स्वपन्न हि न क्वं च न हिनस्ति
तस्मादाह कृत्तिवासा इति * ॥ १७ ॥

अथ दक्षिणान् बाह्वनन्वावर्तन्ते । ते प्रतीक्षं
पुनरायन्ति पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति रुदियेणैव
वा ऽएतदचारिषुः शान्तिरापस्तदग्निः शान्त्या
शमयन्ते ॥ १८ ॥

अथ केशश्मश्रूत्वा । समारोह्याग्ना ऽउद-
वसायेव ह्येतेन यजते न हि तदवकल्पते यदु-
त्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात्तस्मादुदवस्यति गृहा-
नित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजत ऽउत्सन्न-
यज्ञ इव वा ऽएष यच्चातुर्मास्यान्यथेष कृमः
प्रतिष्ठितो यज्ञो यत् पौर्णमासं तत् कृमेनैवैतद्यज्ञे-
नान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥ १९ ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [६. २.] ॥

अथ विधिस्मृतानां त्रयस्वकहविषां * शल्पनिर्हरणहेतुत्वं †
मिति द्वासेनोपपादयति— “महाहविषेति ‡ । “अथ यानेवे-
त्यादि । ‘तस्मिन् सङ्गामे’ ‘एषां’ देवानां मध्ये ‘यानेव’ इन्द्र-
‘इषवः’ वृत्रमुक्ताः शराः ‘आर्च्छन्’ प्राप्नुवन्, ‘तान्’ देवान्
‘एतैरेव’ त्रैयस्वकैर्हविर्भिः तस्मात् ‘शल्पात्’ ‘निरहरन्त’ वियो-
जितवन्तः । निर्हरणप्रकार माह— “तान् व्यवहन्तेति ।
“वृह उद्यमने” § । शल्पप्रोतांस्तानस्माच्छल्पादुद्धरन्त ॥ इत्यर्थः ।
“एतैरेवेति । प्रतिनिर्देशस्य सव्यपेक्षत्वात् तन्निर्दिशति— “यत्
त्रयस्वकैरिति । अश्विका नाम स्त्री अस्य खसा, अतस्त्रयस्वको
रुद्रः । देवतावाचिना लक्षणयात्र हवींश्च्युचन्ते ॥ १ ॥

आख्यायिकया प्रतिपादितं मर्थं प्रकृते योजयति— “अथ
यदेष इति । ‘एषः’ इदानीन्तनो यजमानः । “तन्नाहेति ।
‘न, अह, नु, एव’ इति चत्वारो निपाताः । ‘तत्’ तेन
त्रैयस्वकहविर्यागेन अद्यापि ‘एतस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिन
मेव ‘कञ्च’ क मपि पुरुषम् ‘इषुः’ ‘तथा’ ‘नैव’ ‘ऋच्छति’
प्राप्नोति । देवानुकारित्वस्य हेतु माह— “इति देवा इति ।
“याश्च त्वेवास्येति । ‘अस्य’ यजमानस्य सम्बन्धिनीः ‘प्रजाः’
‘जाताः’, ‘याश्च’ ‘अजाताः’ प्रजनिथ्यमाणाः, ‘ताः’ ‘सर्वाः’
‘उभयीः’ उभयविधाः प्रजाः ‘रुद्रियात्’ रुद्रकृत्तिसनात् ‘प्रमु-

* ‘त्रैयस्वकहविषां’—इति च । उत्तरत्रायेव मेव ।

† ‘शल्पनिर्हरणहेतुत्वं’—इति कादिप्रसक्तम् । एव मिहोत्तरत्रापि ।

‡ ‘तस्मिन् सङ्गामे’—इति का० श्रौ० सू० ५. १०. १ ।

§ तु० प० ६६ धा० । ‘दन्त्योष्ठादिः, पवर्गीयादिरित्यन्ये’—इति कौ० ।

॥ “वृह उद्यमने”—इति च ।

ञ्चति' । प्रतिपुरुषं सञ्ज्ञाय क्रियमाणैः एतैः त्रियम्बकैर्हविर्भिः
तस्य रुद्रस्य प्रीणितत्वात् । “ता अस्येत्यादि , गतम् ॥ २ ॥

तेषां देवतां विधाय प्रशंसति— “ते वै रौद्रा भवन्तीति ।
रुद्रो देवता एषाम् । “सास्य देवता”—इत्यण् * । तत्र
कारण माह— “रुद्रस्येति । ‘हि’ यस्मात् रुद्रसम्बन्धी ‘इषुः’
त्रिपुरविजयार्थं रुद्रस्यायुधत्वेन निश्चितः , तस्मात् । अत
एवान्यत्र रुद्रस्य त्रिपुरविजयप्रस्तावे श्रूयते— “त इषुं समस्कुर्वत”
—इति † । हविषा मेककपालसंस्कार्यत्वं विधाय स्तौति—
“एक कपाला इति । ‘एकदेवत्याः’ एकदेवतार्थाः सर्व इमे पुरो-
डाशाः ‘असन्’ भवन्त्वित्यभिप्रायेण ॥ ३ ॥

कियन्तस्ते त्र्यम्बकाः कार्या इति तत्परिमाण माह—
“ते वै प्रतिपुरुष मिति ‡ । ‘यावन्तः’ यावत्परिमाणविशिष्टा
यजमानस्य ‘गृह्याः’ गृहसम्बन्धिनी ज्ञातयो भवेयुः § , तत्र
प्रतिपुरुष मेकैकः पुरोडाश इति गणयित्वा ‘तावन्तः’ ते
पुरोडाशाः एकेनाधिकास्ते कर्त्तव्याः । एतत् प्रशंसति—

* पा० सू० ४. २. २४ ।

† तै० सं० ६. २. ३. १ । ‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. २ ।

§ ‘गृह्याः पुत्रपौत्रपुत्रादीन्यपत्यानि । करम्भपात्रोक्तन्यायेन (३. ४.)
गृह्यशब्दः प्रजाविधयो ज्ञेयः’—इति या० दे० (५. १०. २.) । मानव-
कल्पसूत्रे ऽपि तथैव ‘उत्तरतो०—० यावन्ति करम्भपात्राणि’—इति ।
काठकेऽपि ‘यावन्तो यजमानस्य पुत्रपौत्राः’—इति । आपस्तम्ब-
स्नाह—‘प्रतिपुरुष मेककपालान् निर्वपति , यावन्तो यजमानस्या-
मात्याः सखीका स्तावत एकातिरिक्तान्’—इति । “चतुरो वा”—
इति च का० श्रौ० सू० ५. १०. ३ । अनपत्यस्य एकापत्यस्य द्वाप-
त्यस्य त्र्यापत्यस्य च चतुर एवेति तात्पर्यम् । करम्भपात्राण्यप्येव
मेव । ५. ३. ५ द्रष्टव्यम् ।

“तत् प्रतिपुरुष मिति । पुरुषं पुरुषं प्रतिपुरुषम्, वीष्माया
मव्ययीभावः । “एकैकेनेति । “एकं बहुव्रीहिवत्”—इति
वीष्मायां द्विवचनम् * । बहुव्रीहिवद्भावात् सुपो लोपः । अन्य-
दुक्तार्थम् । एकातिरेक मनूय तस्य प्रयोजन माह—
“एकेनेति ॥ ४ ॥

यावदुक्तचोदना ह्येते पुरोडाशाः, अतस्तेषां संस्कारप्रकार
माह— “स जघनेनेति । गार्हपत्यस्य पश्चात् ‘यज्ञोपवीती
भूत्वा’, ‘उदङ्मुख आसीनः’ †, ‘एतान्’ पुरोडाशान् निर्व-
पतीति प्रक्रम्य, जुहोतयोऽवषट्कारा इति ‡, तत्र अवषट्कारा
इति छेदः । हविरुत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्याक्षिप्तानि तदर्थकान्य-
वहननादीनि, वैकृतं विशेषं वक्तुं मनुकामति— “स तत एवे-
त्यादिना । प्रागुदीच्यां रुद्राधिष्ठितत्वेनोत्तरदिशो रुद्रसम्बन्धात्
तद्विक्त्वाच्च रुद्रदेवताख्या, तस्मात् ‘ताम्’ एताम् ‘उत्तरां’ दिशं
‘सचन्ते’ सर्वेषु व्यापारेषु ऋत्विजः समवयन्ति § ॥ ५ ॥

एषां हविषा मक्ततार्थं मभिघारणपत्र माह— “ते वा
अक्ताः स्युरिति ॥ । ‘वे’-शब्दोऽवधारणे । खलु ‘ते’ पुरोडाशाः
‘अक्ताः’ आज्येनाभिघारिता एव ‘स्युः’ । तत्र हेतु माह—
“अक्तं हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘अक्तम्’ अभिघारितं मेव हविः

* पा० सू० ८. १. ६ ।

† का० औ० सू० ५. १०. ४ ।

‡ चैयम्बका जुहोतयो भवन्ति; न यजतय इति भावः । ‘यः
चाम्बकैरयजन्त्यादिः व्यवहारः (२. ६. २. १.), स होमान्तर्गतयागा-
भिप्रायो द्रष्टव्यः”—इत्यभाषयद्विह हरिश्चामी ।

§ का० औ० सू० ५. १०. ६, ७ द्रष्टव्ये ।

॥ का० औ० सू० ५. १०. ८, ११ ।

भवति । तथा च तैत्तिरीयकम्— “प्रच्युतं वा एतदस्मात्लोकादगतं
देवलोकं यच्छृतं हविरनभिघारित मभिघार्योद्वासयति”—इति * ।
अनभिघारितपक्ष मप्याह— “उ वा इति । तत्र कारण माह—
“अभिमानुक इति । पशुप्रभवेनाज्येन यदि रौद्रान् पुरोडाशान्
अज्जगात्, ततः स रुद्रः आज्यसम्बन्धद्वारा तत्कारणभूतान् पशून्
‘अभिमानुकः’ † अभिमन्तुं वाधितुं शक्तः स्यात् ॥ ६ ॥

“तान् सार्द्धं मित्यादि । निगदसिद्धम् । उत्तरदिशि
विशेषं विधत्ते— “पथीति । उत्तरस्यां दिशि यः पन्था
विद्यते, तत्रोल्लुक्कं निधाय, तस्मिन् पुरोडाशान् जुहुयात् ‡ ।
पथि होमे कारण माह— “पथा हीति । ‘सः’ खलु रुद्रो ‘देवः’
‘पथा’ मार्गेण हि ‘चरति’ तत्रावतिष्ठत इत्यर्थः । पथ्यपि
किञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “चतुष्पथ इति । चतुर्णां
पथां समाहारश्चतुष्पथः, चतसृभ्यो § दिग्भ्य आगताश्चत्वारः
पन्थानो यत्र सङ्गच्छन्ते, तत्र जुहुयादित्यर्थः ॥ । एतदुप-
पादयति— “एतद् वा इति । ‘एतत्’ खलु ‘अस्य’ रुद्रस्य
‘जाम्भितम्’ ¶ जनैः परिकल्पितम्, ‘प्रज्ञातम्’ प्रसिद्धम्,
‘अवसानं’ स्थानम्, यच्चतुष्पथाख्यम् । अत एवोक्त मभियुक्तैः—
“वटे-वटे वैश्रवणः, चत्वरे-चत्वरे शिवः”—इति ॥ ७ ॥

* तै० सं० २. ६. ३. ६ ।

† ‘अभिमन्तुकः’—इति च ।

‡ का० औ० सू० ५. १०. ५ ।

§ ‘चतुर्भ्यः’—इति क, ज ।

॥ का० औ० सू० ५. १०. ६ क० ।

¶ जन + धित = द्वित । ‘जाम्भितम्’—इत्यपि च ।

अथैतस्मिन् होमसाधनं विधत्ते— “पलाशस्य पलाशेनेति * । पलाशवृक्षस्य पर्णेनेत्यर्थः । “ब्रह्म वै पलाशस्य पलाश मिति । पलाशवृक्षस्य ब्रह्मत्वश्रवणात्, तदीयं पर्णं मपि ब्रह्मात्मकम् । ब्रह्मश्रवणञ्च तैत्तिरीयकैरान्नातम्— “देवा वै ब्रह्मन्नवदन्त तत् पर्णं उपाशृणोत्”—इति † । अवदाने विशेष माह— “स सर्वेषा मिति । यावन्तः पुरोडाशाः, तत्र एक मपि रिक्तं विहाय तेषां सर्वेषा मेव सकाशात् तस्मिन् मध्यमपर्णेऽवद्ये-
दित्यर्थः ‡ ॥ ८ ॥

इत्थं सर्वेभ्यः समवत्तस्य हविषः समन्तकं होमं विधत्ते— “स जुहोतीति § । मन्त्रस्याय मर्थः— हे ‘रुद्र !’ ‘ते’ तव ‘एष भागः’ । कथञ्भूतस्य ? अम्बिकानामास्य स्वसा, तथा सहितस्य । अतः ‘तं’ भागं ‘जुषस्व’ सेवस्व । इदं हविः ‘स्वाहा’ सुहुत मस्त्विति ॥ । तत्र “सह स्वस्त्राम्बिकाया”—इति मन्त्र-
भागस्याभिप्राय माविष्कुर्वन्नेतेषां हविषां त्रयस्विकानाम निर्ब्रवीति— “अम्बिका ह वा इति ¶ । “तद्यदस्यैष इति । ‘तत्’ तथा सति ‘यद्’ यस्मात् ‘अस्य’ रुद्रस्य तथा ‘स्त्रिया’ ‘सह’ ‘एष भागः’ कल्पितः, ‘तस्मात्’ स्त्रीरूपाम्बिकासम्बन्धात् रुद्रस्यैते पुरोडाशाः

* का० श्रौ० सू० ५. १०. ६ ख ।

† तै० सं० ३. ५. ७. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १०. १० । ‘मध्यमपलाशपत्रं जुहुस्थानीये’
—इति च तत्र या० दे० ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १२ ।

॥ मन्त्र एषः वा० सं० ३. ५७. १ ।

¶ “श्रुत्वा अस्याम्बिका स्वसा, तथा वा एष द्विनस्ति”—इति
तै० ब्रा० १. ६. १०. ४ द्रष्टव्यम् ।

(वर्णलोपेन) 'त्रयस्वकाः'—इत्याख्यायन्ते । "तद् या अस्येति ,
व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अवदानकालपरिशेषितस्यातिरिक्तस्यैकस्य विनियोग माह—
“अथ य एव इति । उत्क्रिरति पांशून्लित्युत्करः ; आखुभिः
कृते 'आखूत्करे' 'तम्' अतिरिक्त मेकं पुरोडाशम् 'उपक्रिरति'
उपक्षिपति * । “कृ विक्षेपे”—इति धातुः † । “एष ते”—इति
मन्त्रः ‡ । तदर्थस्तु— हे 'रुद्र !' 'ते' तव 'एषः' पुरोडाशः
भागः , अस्मिन्नुत्करे स्थितो यः 'आखुः' असौ 'ते' पशुः
इति । मन्त्रपाठस्य प्रयोजन माह— “तदस्मा इति । 'तत्'
तेन मन्त्रेण 'पशूनां' मध्ये 'आखु मेव' 'अस्मै' रुद्राय
पशुत्वेन निर्दिशति । 'तेन' कारणेन 'इतरान्' नृगवाश्वादि-
पशून् स रुद्रो 'न हिनस्ति' । अतिरिक्तस्यैकपुरोडाशस्य यदु-
पक्षेपणं विहितम् , तदुपपादयति— “तद् यदिति । “तिर-
इवेति । 'गर्भाः' तिरोहिता इव भवन्ति । उपकीर्णञ्च द्रव्यं
विगलितं सत् तिरोहितमेव भवति , अतो गर्भस्थाना मजातानां
प्रजानां रुद्रकृतहिंसनविमोचनाय क्रियमाणस्योपकीर्णत्वं युक्त-
मिति भावः ॥ १० ॥

जपं विधत्ते— “अथेति § । 'अथ' तदनन्तरम् , पुनश्चतु-
ष्यथादग्निसमीपमेत्य “अवरुद्रम्”—इत्यादिमन्त्रौ ॥ सर्वे जपेयुः ।

* का० श्रौ० सू० ५. १०. १३ । 'मूषिकैरुत्कीर्णैः पांशुभिरन्त-
र्हितं करोतीत्यर्थः । † तु० प० १२६ धा० ।

‡ वा० सं० ३. ५७. २ ।

§ का० श्रौ० सू० ५. १०. १४ ।

॥ वा० सं० ३. ५८, ५९ ।

तयोः प्रथममन्तस्याय मर्थः ।— ‘रुद्रम्’ ‘अवादीमहि’ अव-
दीयामहै , हविर्भागेन रुद्रं भवयुज्यं पृथक्कृत्य प्रजाः रक्षामहै ।
“दीङ् रक्षणे”—इत्यस्मात् * लोटि , “बहुलञ्छन्दसि”—इति †
शब्लुकि “घुमास्था”—इतीत्वम् ‡ । तथा ‘देवं’ देवनशीलं
‘त्रास्वकं’ स्त्रिंशस्त्रिंशकाख्यया सहितम् , अवादीमहीत्यनुषङ्गः ।
अस्त्रिकासाहित्यप्रतिपादनपरं मेतद् द्वितीयं वाक्यम् । स च
रुद्रो ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘नः’ अस्मान् ‘वस्यसः’ वसीयसः वसु-
मत्तमान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘नः’ अस्मान् ‘यथा’ च ‘अ्येयसः’
प्रशस्यकरान् ‘करत्’ कुर्यात् , ‘यथा’ च ‘नः’ अस्मान् ‘व्यव-
साययात्’ व्यवसायेत, व्यवसितार्थान् कुर्यात् ; तथा ‘अवादी-
महि’ इति सम्बन्धः ॥

अथ द्वितीयस्य ।— हे रुद्र ! त्वं स्वरूपेणैव ‘भेषजम्’ औष-
धम् ‘असि’ ; सर्वदुरितनिवर्हणहेतुत्वात् । अतस्त्वं ‘सुखं’
सुप्राप्तं भेषजम् अस्त्रदीयेभ्यो गवाश्वादिभ्यः प्रदेहीति शेषः ।
“आशीरेवेति । एतत् त्रास्वकाख्यकर्मणः ‘आशीः’ फलप्रार्थ-
नम् ; गवाश्वादीनां मारोग्यं मेतस्य कर्मणः फलमित्यर्थः ॥ ११ ॥

अथाप्रदक्षिणं तिरस्तेः परिगमनं विधत्ते— “अथापस-
लवीति § । त्रास्वकस्य हविषः कर्त्तारः सर्वे चतुष्पथे अग्नि-
मपसलवि त्रास्वक मिति मन्त्रेण ‘तिः परियन्ति’ । किं कुर्वन्तः ?
‘सव्यान्’ वामान् ‘उरून्’ ‘अपघ्नानाः’ हस्तेन कुट्टयन्तः ॥

* दि० व्या० ३४ धा० ।

‡ पा० सू० २. ३. ७३ ।

† पा० सू० ६. ४. ६६ । “छन्दस्युभयधेत्वाद्वाघातुकत्वम्”—इतीह
महीघरः (पा० सू० ६. ४. ५) ।

§ का० श्रौ० स० ५. १०. १५ ।

॥ वादयन्त इति यावत् ।

मन्त्रस्य * चाय मर्थः— त्रीणि अश्वकानि नेत्राणि यस्य ,
 यद्वा अश्विका स्वसा यस्य , तथोक्तः । शोभनो गन्धो यस्यासौ
 सुगन्धिः । “गन्धस्येदुत्पत्तिसुसुरभिभ्यः”—इति † इकारादेशः ।
 ‘पुष्टिर्वर्द्धनम्’ पुष्टेर्वर्द्धयितारम् । रुद्धं वयं ‘यजामहे’ पूजयामः ।
 त्वग्रसादादहम् ‘उर्वारुकम्’ कर्कटीफलं ‡ पक्वं सत् यथा
 प्रसवबन्धनात् स्वयमेव मुच्यते , तथा ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुचीय’
 मुक्तो भूयासम् ; ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘मा’ वियोगो भवत्विति ।
 “आशीरेवेत्यादि , सिद्धम् । अन्तिमपादस्य तात्पर्यं साह—
 “तदु ह्येवेति । ‘यः’ ‘मृत्योः’ मरणात् ‘मुच्यातै’ मुक्तो भवेत् ,
 सः ‘अमृतात्’ अमरणात् ‘न’ मुक्तो भवति ; एतदेव हि ‘श मिव’
 प्राणिनां सुखं भवति ॥ १२ ॥

अस्य परिगमनस्य भगप्रसिद्धिहेतुत्वं सुपपादयति— “तदु
 ह्यपीति । ‘तत्’ तदा ‘कुमार्यः’ अपि त मग्नि मुक्तप्रकारेण
 ‘परीयुः’ , ‘भगस्य’ सौभाग्यस्य । कर्मणि षष्ठी । सौभाग्यम्
 ‘यजामहे’ प्राप्नुयामहे ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण § । ‘यो ह वा
 इति । अश्विका नाम ‘या’ खलु ‘रुद्रस्य स्वसा’ , ‘सा’ ‘भगस्य
 इष्टे’ सौभाग्यस्य स्वामिनी भवति । “ईश ऐश्वर्ये”—इति

* मन्त्रोऽयम् वा० सं० ३. ६०. १ ।

† पा० सू० ५. ४. १३५ ।

‡ ‘कर्कन्धादेः फलम्’—इति महीधरः । ‘कर्कटीफलम्’—इति
 छ-पाठः । ‘कर्मकर्कटीफलं (!)’—इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

§ का० औ० सू० ५. १०. १६ । ‘यजमानस्य कुमार्योऽपरिणीता
 पुत्राश्चोत्तरेण त्राम्बक मिति मन्त्रेण , पतिवेदन मित्यख्येन०—० त्रिस्त्रिः
 परियन्ति , पतिं सौभाग्यं कामयमाना वा’—इतीह या० दे० ।

धातुः * । भगस्येति “अधीगर्थददेशां कर्मणि”—इति † पठ्ठी ।
‘तस्मात्’ अस्विकासहितस्य रुद्रस्य सम्बन्धिनि कर्मणि भगप्राप्ति-
कामाः कुमार्योऽपि परीयुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

कुमारौणां परिगमनेऽपि मन्त्री विद्यत इत्याह— “तासा
मिति । ‘आसां’ पूर्वोक्तानाम् ‘तासां’ कुमारीणां मपि परि-
गमनेऽन्यो ‘मन्त्रः’ विद्यते । कः पुनरसाविति , तं पठति—
“त्रयस्वक मिति ‡ । पतिर्विद्यते लभ्यत इति पतिवेदनो रुद्रः ।
अन्यदुक्तार्थम् । चतुर्थपादस्य तात्पर्यं माह— “सा यदित इति ।
‘इदं’-शब्देन पिढकुलं परामृश्यते । ‘इतः’ अस्मात् पिढकुलात्
‘ज्ञातिभ्यः’ सकाशात् अहं ‘मुचीय’ मुक्ता भूयासम् ; ‘अमुतः’
अमुष्मात् कुलात् पतिसकाशात् ‘मा मुचीय’ विप्रमुक्ता न भवेम
इति तात्पर्यार्थः । “पतयो ह्येवेति । अग्निहोत्रादिधर्मेषु
पत्या सहैव स्त्रिया अधिकारः ‘हि’ यतः , अतः स्त्रीणां ‘पतय
एव’ ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयभूता इत्यर्थः ॥ १४ ॥

तेनैव मन्त्रेण पुनः प्रदक्षिणं त्रिः परिगमनं विधत्ते—
“अथ पुनरिति § । ‘प्रसलवि’ प्रदक्षिणम् । “एतेनैवेति ।
त्रयस्वक मिति प्राशुक्तेनोभयविधेन मन्त्रेणेत्यर्थः । “तद्यत् पुन-
रित्यादिवाक्यशेषः पिढयज्ञवद् व्याख्येयः ॥ १५ ॥

हुतशिष्टानां पुरोडाशानां प्रतिपत्तिं विधत्ते— “अथै-
तानित्यादि । ‘एतान्’ पुरोडाशान् यजमानस्याञ्जलाव-
ध्वर्युः संवपेत् । यजमानश्च ‘ऊर्हान् उदस्यति’ उत्क्षिपति ।

* अदा० व्या० १० धा० ।

† पा० सू० २, ३, ५२ ।

‡ वा० सं० ३, ६०, २ ।

§ का० औ० सू० ५, १०, १५ ।

‘यथा’ ‘गौः’ पृथिवीनामैतत् ; पृथिवी तान् पुरोडाशान् ‘नोदा-
 भूयात्’ ! उत्तिष्ठाः पुरोडाशाः यथा भूमौ न पतन्ति , तथा
 अन्तरिक्षे , पुनरञ्जलिना धारयेत् । तदुक्तं कात्यायनेन—
 “रौद्रान् यजमानेऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम् , प्रतिगृह्णात्येतान्”
 —इति * । “आत्मभ्य एवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन उदसनेन
 ‘आत्मभ्यः’ ऋत्विग्यजमानाः स्व-स्व-शरीरेभ्यः ‘एव’ ‘शल्यान्’ निर्मि-
 मते’ निर्हरन्ति । तेषां पुनर्यज्ञाशक्तौ स्पर्शनं विधत्ते— “तान्
 विलिप्सन्त इति । लब्धुमिच्छन्तो लिप्सन्तः तद्विपरीतो
 ‘विलिप्सन्तः’ लब्धुमशक्ताः सन्तः , भूमौ पतितान् ‘तान्’
 पुरोडाशान् पश्चात् ‘उपस्पृशन्ति’ । उक्तं हि कात्यायनेन—
 “प्रतिगृह्णात्येतानां शक्योऽपस्पर्शनम्”—इति † । “भेषजमेवैत-
 दिति । एतेन स्पर्शनेन निर्हृते शल्ये स्वशरीरदेशस्य पुनर्भेषज
 मेव कृतवन्तो भवन्ति ॥ १६ ॥

“तान् हयोरित्यादि । ‘हयोर्मूतकयोः’ । यत्र तृणमये
 आवपने धान्यं बध्यते , तत् मूतम् ‡ , मूतमेव मूतकम् ।
 स्वार्थे क-प्रत्ययः । ‘तान्’ रौद्रान् पुरोडाशान् ‘हयोर्मूतकयोः’
 ‘उपनह्य’ ‘वेणुयष्ट्यां’ वेणुमय्यां यष्ट्याम् ‘उभयतः’ आबध्य ; यद्वा
 ‘कुपे’ वेणुनिर्मितभाजनद्वययुक्तो दारुविशेषो वीवधापरपर्यायः
 कुपः § , तस्मिन् ; ‘उभयतः’ उभयपार्श्वयोः वेणवभाजनयोः
 ‘तान्’ रौद्रान् ‘आबध्य’ ; तेन सार्द्धम् ‘उदङ् परेत्य’ उदङ्-

* का० श्रौ० सू० ५. १०. १८, १९ ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. २० ।

‡ ‘मूतयोः , शिक्वाकारयोः रज्जुनिर्मितयोः’—इति या० दे० ।

§ ‘कुपे , यस्त्रियष्टक्षणे तुलादण्डे’—इति या० दे० ।

मुखोऽदूरं गत्वा , वृक्षस्थाखादीना मन्थतमस्मिन् * उपलब्धे,
वीवधम् 'आसजति' आलगयति † । तस्मिन्नासजने मन्त्र माह—
“एतत्त इति ‡ ।

तस्याय मर्थः ।— हे 'रुद्र !' 'ते' तव 'एतत्' दृष्टिकरम्
'अवसम्' पाथेय मन्त्रम् ; तत् स्वीकृत्य 'तेन' साधनेन
'मूजवतः परः' मूजवान्नामोदीच्यः पर्वतः , तस्य परस्ताद्भागम्
'अतीहि' अतिक्रम्य गच्छ , मास्मानधितिष्ठा इति भावः ।

मन्त्रगत मवसशब्दं प्रशंसति— “अवसेन वा इति । लोके
'अवसेन' अन्नेन पाथेयेन हि जनाः दूरम् 'अध्वानं' 'यन्ति',
'तत्' तथा सति 'एनं' रुद्रं 'सावसम्' अवससहितम् 'एव'
अस्मात् स्थानात् 'अन्ववार्जति' अनुगमयति । अस्य रुद्रस्य
गमनयोग्यप्रदेश माह— “यत्र-यत्नेति । यस्मिन्-यस्मिन् स्थाने
'अस्य' देवस्य 'चरणं' वर्त्तनं भवति , 'तत्' स्थानम् 'अनु'-
लक्ष्येत्यर्थः । “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्याभिप्राय माह—
“अत्र ह वा इति । 'अस्य' रुद्रस्य 'अत्र' अस्मिन् मूजवत्पर्वत-
सम्बन्धिनि 'परः' परस्ताद् भागे 'चरणं' वर्त्तनं भवति ,
'तस्मात्' तेन “परो मूजवतः”—इति मन्त्रभागस्य पठनं युक्तं
मित्यर्थः । द्वितीयभाग मनूय व्याचष्टे— “अवततधन्वेति ।
अवतत मवरोपितज्यं धनुर्यस्य स तथोक्तः । “पिनाकावस
इति । पिनाकः , तस्यैव रुद्रधनुषो नामधेयम् । तस्य अवसः

* 'स्थाणौ वा , वृक्षे वा , वंशे वा , वल्मीके वा'—इति , 'स्थाण
क्विन्नायं वृक्षमूलम्'—इति च या० दे० ।

† का० श्रौ० सू० ५. १०. २१ ।

‡ वा० सं० ३. ६१. १ ।

व्यापारो परमो यस्य स तथा । एतेन विशेषणद्वयेन फलितमर्थं माह — “अहिंसन्निति । हे ‘रुद्र !’ ‘नः’ अस्माकं हिंसा मकुर्वन् ‘शिवः’ सुखकरः सन्, “अतीहि”—इति ‘एतत्’, अयं सन्तभागः प्रतिपादयतीत्यर्थः । अन्तिमं भागम् * अनूद्य तात्पर्यं माह— “कृत्तीति । कृत्तिः त्वग्वास आच्छादनं यस्य स तथोक्तः । अनेन च विशेषणेन ‘एनं’ नितरां स्वापयेत् † ; कृत्तेर्मृदुतरत्वेन सुखकरत्वात् रुद्रस्वापो भवत्येवेत्यनेनाभिप्रायेण विशेष्यते । स्वापोऽपि किमर्थं इत्यत आह— “स्वपन् न्विति । ‘नु’ खलु लोके ‘स्वपन्’ निद्रालुः पुरुषः ‘कञ्चन’ क मपि ‘न हिनस्ति’ न पीडयति । अतो रुद्रकृतवाधविरहाय तस्य स्वापः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

तेषां पुनरागमनं विधत्ते— “अथ दक्षिणानिति । रौद्र-पुरोडाशानां वृक्षादावासञ्जनानन्तर्यं मथशब्दार्थः । रौद्रैर्हविर्भिः ये अचारिषुः, ‘ते’ सर्वे स्वं-स्वं दक्षिणं बाहुम् ‘अनु’-लक्ष्य प्रादक्षिण्येनावर्त्तेरन् ; आहत्य च ‘अप्रतीक्षं’ रौद्रहविःप्रचरणस्थानं मनवलोकयन्तः ‘पुनः’ वेदिसमीपं मागच्छेयुः ; आगत्य च

* महीधरमते याज्ञिकदेवमते च कृत्तिवासा इत्यपरो मन्त्रः— वा० सं० ३. ६१. २ । सूत्रतश्चैव मेव प्रतीयते । का० श्रौ० सू० ५. १०. २२ द्रष्टव्यम् । ‘क्रियान्तरस्यानुपदेशात् कृत्तिवासा इति जपेत्’—इतीह या० दे० । महीधरस्तु, “कृत्तिवासा इत्यनपेक्षं मेत्योपसृशन्त्यपः (५. १०. २२, २३)”—इत्येकं सूत्रं मत्तैव व्याख्यत— ‘उन्नते वृक्षादौ मूतद्वयेऽवसन्त्य प्रत्यावर्त्तमाना मूतद्वयस्यावेक्षणं मकृत्वा वेदिसमीपं समागत्योदकं स्पृशेयुः’—इति ।

† ‘निष्पापयतीति अवणात् आसक्तस्य निश्चलीकरणं मनेन कर्तव्यमिति केचित्’—इति चात्र या० दे० ।

हविःप्रचरणकृतौष्णनिवारणाय 'आपः' उपरुष्टुश्रेयुः । "तदद्भिः
शान्त्येति । उष्णशमनहेतुभिः 'अद्भिः' 'तत्' रौद्रप्रचरणजनितं
स्व-स्वात्मगत मौष्णं 'शमयन्ते' निवर्त्तयन्तीत्यर्थः * ॥ १८ ॥

वरुणप्रघासान्ते इव केशश्मश्रुवपनादिकं साकमेधान्तेऽपि
कर्त्तव्य मित्यनुक्रामति— "अथ केशश्मश्रूति । केशश्मश्रूणि
वापयित्वा 'अग्नी' गार्हपत्याहवनीयौ 'समारोह्य' समारोप्य ,
दक्षिणाम्ने रप्युपलक्षणम् (यदि सर्वे धार्या भवेयुः ?) समारोपणेन
गृहं गच्छन्तीति शेषः ॥

"उदवसायेत्यादिना , साकमेधस्यान्तकर्त्तव्यता अत्रापि
प्रतिपाद्यते । "उदवसायेति । स्नानानन्तरं खलु 'एतेन' साक-
मेधान्तेन 'यजते' । तदङ्गत्वेन योत्तरवेदिर्निर्मिता , तस्या मग्नि-
होत्रहोमो न युक्त इति पुनः स्वस्थानगमनं कर्त्तव्य मित्यादि
शेषं पूर्ववद् † व्याख्येयम् ॥ १९ ॥ ३ ‡ [६. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

* का० श्रौ० सू० ५. १०. २३ ।

† २८६ ए० ४ पं० , ३१२ ए० ६ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ तै० सं० १ का० ८ प्र० ६ अ० , तै० ब्रा० १ का० ६ प्र० १०
अनु० । एतयोरनुवाकयोः त्राम्बकयागविधयस्तन्मन्त्राश्चान्ताता द्रष्टव्याः ।
'त्राम्बक'- 'त्रियम्बक'—इति शाखाभेदकृतौ पाठाविदानीं लेखकप्रमादत
एकशाखीयवाक्येष्वपि बहुत्र सङ्क्रान्ताविति च ध्येय मिति ।

(अथ तृतीयं ब्राह्मणम्)

अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो
 भवति । संवत्सरं हि जयति तेनास्याक्षय्यं
 भवति तं वै चेधा विभज्य यजति चेधा विभज्य
 प्रजयति सर्वं वै संवत्सरः सर्वं वा ऽक्षय्यं
 मेतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवत्यृतुं हैवैतद्भूत्वा
 देवानुपेत्यक्षय्यं सु वै देवानां मेतेनो हैवास्या-
 क्षय्यं सुकृतं भवत्येतद् तद्यस्माच्चातुर्मास्यै-
 र्यजते ॥ १ ॥

अथ यस्माच्छुनासौर्येण यजेत । या वै देवा-
 नां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां * विजिग्या-
 नानां तच्छुन मय यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस
 आसीत्तत्सीरं सा या चैव देवानां श्रीरासीत्
 साकमेधैरीजानानां † विजिग्यानानां य उ च
 संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं
 परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माच्छुनासौर्येण यजते ॥ २ ॥

तुस्यावृत् * । नोपकिरन्त्युत्तरवेदिं न गृह्णन्ति
पृषदाज्यं न मन्यन्त्यग्निं पञ्च प्रयाजा भवन्ति
तृयो ऽनुयाजा एकं समिष्टयजुः † ॥ ३ ॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति । एतैर्वै
हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजतैतैरुभयतो व्वरुण-
पाशात् प्रजाः प्रामुञ्चदेतैर्वै देवा व्वत् मघन्ने-
तैर्वै ‡ व्यजयन् येय मेषां व्विजितिस्तां तृयो
ऽएवैष एतैर्या चैव देवानां श्रीरासीत् साक
मेधैरौजानानां व्विजिग्यानानां य उ च संव-
त्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् त मेवैतदुभयं
परिगृह्यात्मन् कुरुते तस्माद् वा ऽएतानि पञ्च
हवींषि भवन्ति ॥ ४ ॥

अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो
भवति । स बभ्रुः शुनासीर्यस्य यं पूर्वं मवो-
चाम ॥ ५ ॥

* 'तुस्यावृत्'—इति ग, घ ।

† 'समिष्टयजुः'—इति ग, घ ।

‡ 'मघन्नेतैर्वै'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

अथ वायुश्च पुरो भवति । पुरो ह वै प्रजा
जाता अभिसञ्जानते विजिग्यान्* मा प्रजाः श्रिये
युशसे ऽन्नाद्यायाभिसञ्जानान्ता ऽद्वुति तस्मात्पुरो
भवति ॥ ६ ॥

तद्यद्वायुश्च भवति । अयं वै वायुर्यो ऽयं
पुवत ऽएष वा ऽद्वदं स्रुवं प्रप्याययति युदिदं
किञ्च वर्षति वृष्टादोषधयो जायन्त ऽश्लेषधी-
र्जग्ध्वापः पीत्वा तत एतद्भुगो ऽधि पयः सुभव-
त्येष हि वा ऽएतज्जनयति तस्माद् वायुश्च
भवति ॥ ७ ॥

अथ सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति ।
एष वै सूर्यो य एष तपत्येष वा ऽद्वदं स्रुवं
मभिगोपायति साधुना त्वदसाधुना त्वदेष द्वदं
स्रुवं विदधाति साधौ त्वदसाधौ त्वदेष मा
विजिग्यान् प्रीतुः साधुना त्वदभिगोपायत्साधौ
त्वदिदधदिति तस्मात्सौर्य † एककपालः पुरोडाशो
भवति ॥ ८ ॥

* 'विजिग्यान मेनं—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

† 'तस्मात्सौर्य'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।

तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा । तदेतस्य रूपं
क्रियते य एष तपति यदाश्वः श्वेतं न विन्दे-
दपि गौरिव श्वेतः स्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य
एष तपति ॥ ९ ॥

स यत्रैव साकमेधैर्युजते । तच्छुनासीर्येण
यजेत यद्वै त्रिः संवत्सरस्य युजते तेनैव संव-
त्सरमाप्नोति तस्माद्यदैव कदा चैतेन यजेत ॥ १० ॥

तद्वैके । रात्रीरापिपयिषन्ति स यदि रात्री-
रापिपयिषेद्यददुः पुरस्तात् फाल्गुन्यै पौर्णमास्या
ऽउद्दृष्टं तच्छुनासीर्येण यजेत ॥ ११ ॥

अथ दीक्षेत । तं नानीजानं * पुनः फाल्गुनी
पौर्णमास्यभिपर्ययात् (तत् †) पुनःप्रयोगरूप इव ह
स यदेन मनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्य-
भिपर्ययात्तस्मादिदं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्ण-
मास्यभिपर्ययादिति नूतनजमानस्य ॥ १२ ॥

अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य । पूर्व्वद्युः फाल्गुन्यै

* 'तन्नानीजानं'—इति, 'तस्मादेतन्नानीजानं'—इति च पाठौ दृश्यौ
डा०-वेवरेण । † नास्त्येतत् परं घ-ङ्-पुस्तकयोः ।

पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेताथ प्रातुर्व्वैश्वदेवेनाथ
पौर्णमासेनैतदु पुनः प्रयुञ्जानस्य * ॥ १३ ॥

अथातः । परिवर्त्तनस्यैव सव्वतोमुखो वा ऽअसा-
वादित्य एष वा ऽइदं सव्वं निर्द्ध्यति यदिदं
किञ्च शुष्यति तेनैष सव्वतोमुखस्तेनान्नादः ॥ १४ ॥

सव्वतोमुखोऽय मग्निः † । यतो ह्येव कुत-
श्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति तेनैष सव्वतो-
मुखस्तेनान्नादः ‡ ॥ १५ ॥

अथाय मन्यतोमुखः पुरुषः । स एतत्
सव्वतोमुखो भवति यत् परिवर्त्तयते स एव मेवा-
न्नादो भवति यथैतावेतद्य एवं विद्वान् परिवर्त्त-
यते तस्माद्वै परिवर्त्तयेत ॥ १६ ॥

तदु होवाचासुरिः । किन्नु तन्न मुखस्य यदपि
सव्वार्येव लोमानि वपेत यद्वै त्रिः संव्व-
त्सरस्य यजते तेनैव सव्वतोमुखस्तेनान्नादस्तस्मान्ना-
द्रियेत परिवर्त्तयितु मिति ॥ १७ ॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [६. ३.] ॥

* 'प्रयुञ्जानस्य'—इति ग, घ ।

† 'सव्वतोमुखोऽय मग्निः'—इति ग, घ । ‡ 'स्तेनान्नादः'—इति ग, घ ।

अथ शुनासीरीयं * विधित्वस्तस्य शुनासीर्यस्य चतुर्थपर्वणः
 संवत्सरसलक्षणफलसाधनत्वं प्रतिपादयिष्यंस्तावदुपोद्घातत्वेन चातु-
 र्मास्याना मक्ष्यफलसाधनत्वं माह— “अक्षय्यं ह वा इति ।
 चतुर्थं-चतुर्थं मासेषु क्रियन्त इति चातुर्मास्यानि प्रयुक्तानि
 वैश्वदेवादीनि , तैरिष्टवान् चातुर्मास्ययाजी । “करणे यजः”—
 इति † भूतकाले यजतेर्णिनिः । तस्य ‘चातुर्मास्ययाजिनः’
 ‘सुकृतं’ यागजनितफलसाधनधर्मापरपर्याय मपूर्वम् ‘अक्षय्यम्’
 चेत्तु मशक्यम् ; न कदाचिदपि भोगेन क्षययितुं शक्यते ।
 “क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे”—इति ‡ , “क्षि क्षये”—इति § अस्मान्निपा-
 तितः । अक्षय्यत्वं सुपपादयति— “संवत्सरं हीति । ‘हि’
 यस्मात् उदीरितैस्त्रिभिः वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः संवत्सरपरि-
 मितकालं ‘जयति’ ‘तेन’ संवत्सरजयेन , तदतिरिक्तस्य कालस्या-
 भावात् ‘अस्य’ सार्वकालिकस्य चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्
 अक्षय्यं भवतीत्यर्थः ॥ ।

संवत्सरं कथं मेतेन जयत इति तदाह— “तं वा इति ।
 ‘तं’ संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ चतुर्थं-चतुर्थं मासेषु वैश्वदेवा-
 दिभिः ‘यजते’ ¶ , अतस्तं संवत्सरं त्रिधा ‘विभज्य’ एव ‘प्रजयति’
 प्रकर्षेण जयते । अस्तु संवत्सरस्य जयः , एतावता कथं फलस्या-
 क्षयत्वसिद्धि रिति , तदाह— “सर्वं वा इति । भूतवर्त्तमान-

* ‘शुनासीरीय मतः’—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† पा० सू० ३. २. ८५ ।

‡ पा० सू० ६. १. ८१ ।

§ स्वा० प० २३६ धा० ।

॥ “अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति”—इति आप०
 श्रौ० सू० ८. १. १ । ¶ ‘चातुर्मास्यानि त्रीण्येव’—इतीह हरिश्चामी ।

भविष्यत्कालत्रयावच्छिन्नं सर्वं वस्तु संवत्सरमध्ये एवान्तर्भूतम् ; संवत्सरस्तु कृत्स्नव्यापितया अनादिरनन्त इति तज्ज्यं फलं मपि अक्षय्यं भवतीत्यर्थः । प्रकारान्तरेणाप्यक्षय्यत्वं प्रतिपादयति—
“ऋतुरु हैवैतदिति । ‘एतत्’ एतेन चातुर्मास्ययजनेन वसन्ता-
द्यृत्वात्मक एव ‘भूत्वा’ ‘देवानप्येति’ चातुर्मास्ययाजी अपि
गच्छति , देवानाञ्च सुकृतं मक्षय्यं मेव भवति । अतः ‘एतेन’
देवेष्वपि प्रापणेन ‘अस्य’ ‘सुकृतम्’ ‘अक्षय्यम्’ एव ‘भवति’ ॥ १ ॥

इत्थं वैश्वदेवादीनां त्रयाणां फलं सुपपाद्य शुनासीर्य-
यागस्य आरादिकं फलं दर्शयति— “अथ यस्मादिति । ‘यस्मात्’
हेतोः यजमानः ‘शुनासीर्येण’ पर्वणा ‘यजते’, तस्मात् तत्फलं
सुच्यत इत्यर्थः । “या वै देवाना मित्यादि । ‘साकमेधैः’
प्रागुक्तैर्यागैः ‘ईजानानाम्’ दृष्टवतां ‘विजिग्यानानां’ वृत्रासुरं
जितवतां देवानां ‘या’ ‘अग्नीः’ सम्पत् ‘आसीत्’, ‘तत्’ ‘शुनम्’
सुखनामैतत् * , सुखहेतुत्वात् शुनं मित्युच्यत इत्यर्थः । ‘अथ’
वैश्वदेवादिभिः त्रिभिस्त्रिभिश्चातुर्मास्यैः प्रस्थितस्य ‘संवत्सरस्य’
‘यो रस आसीत्’ सुखहेतुः सारभूतोऽशोऽभवत् , तत् ‘सीरम्’
इत्युच्यते । “या चैव देवाना मित्यादिः , उक्तार्थानुवादः ।
“त मेवैतदुभयं मिति । यदेतत् शुना सीरं चोक्तम् , ‘एत-
दुभयम्’ एतेन शुनाशीर्ययागेन ‘परिगृह्य’ यजमानः ‘आत्मन्’
स्वात्मनि ‘कुरुते’ धारयति । इत्थं प्रवृत्तिहेतुफलं सुपपाद्य
तत्साधनभूतं यागं विधत्ते— “तस्मादिति । उक्तलक्षणे शुनासीरी
अधिदैववायादिरूपेणावस्थितौ । सास्यं देवतेत्यर्थे शुनासीरशब्दाद्

यत् । तद्विवर्योगात् वक्ष्यमाणं हविस्समुदायसाध्यं कर्त्तव्यं कर्म
अनेन व्यपदिश्यते । यस्मादुक्तफलसाधनत्वम् , तस्माच्छुना-
सीरीयाख्येनानेन चतुर्थेन पर्वणा यजेतेत्यर्थः * ॥ २ ॥

प्रयोगकर्म वक्तुं प्रतिजानीते— “तस्यावृद्धिः । ‘तस्य’
शुनासीर्यस्य ‘आवृत्’ क्रिया उच्यत इति शेषः । पूर्वेषु
पर्वस्त्रिव प्रसक्तं मुत्तरवेदिनिर्वपनादिकं निषेधति— नोप-
किरन्तीत्यादिना । प्रयाजानुयाजादयोऽपि प्रकृतिवदेवेत्याह—
“पञ्चेति † ॥ ३ ॥

पञ्च हवींषि विधत्ते— “अथैतान्येवेति । वैश्वदेवादिषु
पर्वस्वनुष्ठितान्याग्नेयादीनि पञ्च हवींषि अत्रापि कर्त्तव्यानि
भवन्तीत्यर्थः । क्लृप्तफलत्वेनैतानि प्रशंसति— “एतैर्वा इति ।
वैश्वदेवेष्वनुष्ठितैः ‘एतैर्हविर्भिः’ खलु पुरा ‘प्रजापतिः’ ‘प्रजाः’
सृष्टवान् । वरुणप्रघासेष्वनुष्ठितैरेव ताः ‘प्रजाः’ ‘उभयतो
वरुणपाशात्’ ऊर्द्धाधःकायस्थितात् ‘प्रासुच्चत्’ प्रमुक्तवान् । तथा
साकमेधेष्वनुष्ठितैरेव पञ्चभिर्हविर्भिः ‘देवाः’ ‘वृत्रम्’ असुरम्
‘अघ्नन्’, हत्वा च ‘एतैः’ एव ‘व्यजयन्त’ विजयं प्राप्तवन्तः ।
यथैवैतानि कृत्स्नाभिलषितफलसाधनानि , ‘तथो’ तथैव खलु
‘एषः’ यजमानः ‘एतैः’ शुनासीर्याख्ये चतुर्थे पर्वणि अनुष्ठीय-
मानैः , आग्नेयादिभिः पञ्चभिर्हविर्भिः शुनासीरीयं ‡ यदेतदनु-
क्रान्तम् , ‘तदुभयं’ फलम् ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘परिगृह्य’ स्वाधीनं
‘कुरुते’ । “तस्मादिति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४ ॥

* का० श्रौ० सू० ५. ११. १ ।

† “प्रौर्णमासधर्मा वह्निर्वर्जम्”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ३ ।

‡ ‘शुनासीर्ये’—इति छ-पाठः ।

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथ शुनासीर्य इति * । शुनासीरी वायादित्यौ देवते अस्य स शुनासीर्यः । ‘सीर आदित्यः’— इति हि यास्कः † । द्विवचनेन कात्यायनोऽपीम मर्थ मस्-
चयत्— “शुनासीराभ्यां द्वादशकपालः”—इति ‡ । उक्तं वाक्य-
शेष मत्राप्यतिदिशति— “स बभूवुरिति । कृत्स्नस्य कर्मणः
फलप्रतिपादनसमये ‘यं पूर्वं’ वाक्यशेषं “या वै देवानाम्”—इत्या-
दिकम् ‘अवोचाम’ उक्तवन्तः § , ‘सः’ एव अस्यापि ‘शुना-
सीर्यस्य’ हविषः स्तावकः ; उक्तविधयोरेव वायादित्यरूपेणा-
वस्थितत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

सप्तमं हविविधत्ते— “अथ वायव्य मिति ॥ । वायुर्देवता
अस्य तद् ‘वायव्यम्’ । “वाय्वृतुपितृषसो यत्”—इति ¶ यत् ।
पयसस्तावत् अत्रानुकूल्यं दर्शयति— “पयो ह वा इति । ‘जाताः’
सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘पयः’ खलु ‘अभि’-लक्ष्य ‘सञ्ज्ञानते’ सञ्ज्ञानाना
भवन्ति । अतः पयसः सम्पत्तिहेतुत्वात् ‘विजिग्यानं’ साक-
मेधैर्विजितवन्तम् ‘एनं’ यजमानं ‘अियै’ सम्पदे , ‘यशसे’ कीर्त्यै
‘अन्नाद्याय’ अन्नादनसामर्थ्याय च सर्वाः ‘प्रजाः’ ‘अभिसञ्ज्ञानान्ते’
अभिसञ्ज्ञानीरन् , अनुमन्यन्ता मिति ; अनेनाभिप्रायेण पयसः
करण मित्यर्थः ॥ ६ ॥

* “नित्येभ्योऽधिकानि”—इत्यादीनीह का० औ० सू० ५. ११. ५ द्रष्टव्यानि ।

† “शुनासीरौ शुनो वायुः, शु इत्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः,
सरणात्”—इति निरु० ६. ४. ६ ।

‡ का० औ० सू० ५. ११. ५ ।

§ ४०४ पृ० १० पं० ।

॥ “वायव्यं पयः, यवागूर्वा”—इति का० औ० सू० ५. ११. ६, १०

¶ पा० सू० ४. २. ३१ ।

तस्य वायुदेवत्वत्वनूय स्तौति— “तद्यदिति । “एष वा इत्यादि । ‘यदिदं किञ्च’ भूम्यां स्थितं स्थावरादिकं ‘वर्षति’ वृष्ट्या सिञ्चति , इदं सर्वम् ‘एषः’ खलु पवमानः ‘प्रप्याययति’ प्रवर्द्धति । “ओ प्यायी वृष्टौ”—इति * धातुः । तस्माद् वृष्टात् पवमानेन प्रप्यायितात् ‘ओषधयो जायन्ते’, ताश्च ‘ओषधीः’ जग्ध्वा भक्षयित्वा “अदो जग्धिर्त्यपि किति”—इति † अदेर्जग्धादेशः । ओषधिभक्षणानन्तरम् ‘अपः पीत्वा’ पशवः पयो दुहन्ति । ‘एतदद्वाः’ सकाशात् ‘पयः’ ‘सम्भवति’ उत्पद्यते । तस्मात् परम्परया ‘एष हि’ पवमानः ‘एतत्’ पयो ‘जनयति’ उत्पादयति ‡ । तस्मादस्य वायुर्देवत्वत्वे-
तदुक्तमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते— “अथ सौर्यं इति § । अस्य हविषः सूर्योऽभिगोमेत्याह— “एष वै सूर्य इत्यादिना । “साधुना त्वदित्यादि । ‘साधुना’ शोभनेन कर्मणा ‘त्वत्’ एकं पुण्य-
कृतं जनम् ‘एषः’ सूर्यः ‘अभिगोपायति’ । न केवलं रक्षण-
मत्र शोभनात्मकम् । ‘इदं सर्वं’ जगत् , एष एव सूर्यो ‘विदधाति’ करोति ; विदधानः सः ‘त्वत्’ एकं ‘साधौ’ पुण्ये कर्मणि स्थापयति , ‘त्वत्’ एकम् अन्यत् ‘असाधौ’ पापकर्मणि स्थाप-
यति । ‘एषः’ खलु हिरण्यगर्भरूपः स आत्मा । अस्य हि साध्वसाधुकर्मणः कारयित्वत्वं मन्यत्र चाम्नायते— “एष ह्येव साधु कर्म कारयति , तेषां मेभ्यो लोकेभ्य ऊर्ध्वं निनीषते ;

* भा० आ० ४८८ धा० ।

† पा० सू० २. ४. ३६ ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. १. ७, ८, ९ ।

§ “सौर्यं एककपालः”—इति का० श्रौ० सू० ५. ११. ११ ।

एष ह्यसाधु कर्म कारयति, तेषा मेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनी-
षते”—इति ।

“एष मेत्यादि । एव मुक्तविधः सूर्य एषः अनेन हविषा
‘प्रीतः’ सन् ‘विजिग्यानं’ साकमेधैः विजितवन्तं ‘मा’ मां
‘साधुना’ कर्मणा ‘अभिगोपायत्’ अभिरक्षति, तथा तस्मिन्
‘साधौ’ शोभने कर्मणि मां ‘विदधत्’ विदधातु, प्रेरयतु
‘इति’ अनेनाभिप्रायेण यजमानः सौर्यं हविः कुर्यात् । ‘त्वत्’
—इति, एतदत्र कियाविशेषणत्वेन योज्यम् ॥ ८ ॥

तस्येककपालस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्याश्वः श्वेत इति ।
‘तस्य’ सौर्यस्य हविषः श्वेतः अश्वविशेषो ‘दक्षिणा’ * ।
शुनासीर्यस्य तु षड्भिरनडुद्विर्युक्तं सीरं दक्षिणा । तदुक्तं सूत्र-
कारेण— “सीरं षड्योगं दक्षिणा”—इति † । “तदेतस्येत्यादि ।
‘एतस्य’ सूर्यस्य सितभावस्वरूपत्वात् श्वेताश्वदान मेतदीय
रूपकरणं मित्यर्थः । तादृशाश्वालाभे तादृशो गौर्देय इत्याह—
“यद्यश्व मित्यादि ‡ ॥ ९ ॥

अथ शुनासीर्ययागस्य कालं विधत्ते— “स यत्नैवेत्यादिना ।
‘यत्’ यस्मिन् ‘एव’ काले ‘साकमेधैर्यजते’, ‘तत्’ तदानीम्,
तदनन्तरकाले एव § (सः ॥) यजमानः शुनासीर्येण ‘यजते’ ।

* का० श्रौ० सू० ५. ११. १४ क ।

† का० श्रौ० सू० ५. ११. १२ । सीरम् = हलम् । ‘युज्यन्त इति
योगाः वलीवर्दाः’—इति च तत्र या० दे० । “ओष्ठारौ वा”—इति च
तदुत्तरसूत्रम् । ‘वोष्ठारौ महान्तौ वलीवर्दौ, न सीरम्’—इति च तद्दृष्टिः ।

‡ का० श्रौ० सू० ५. ११. १५ । ‘गौः श्वेतः’—इति चात्र या० दे० ।

§ ‘तदनन्तरकाल मेव’—इति च-पाठः ।

॥ नास्त्येतत् प्रदं च-पुस्तके ।

न तु शुनासीर्यस्यापि चातुर्मास्यत्वात् मासचतुष्टयस्य व्यवधानं
मपेक्षितं मित्यत आह— “यद्वा इति । चतुर्षु चतुर्षु मासेषु
संवत्सरस्य मध्ये वैश्वदेव-वरुणप्रधास-साकमेध-भेदेन ‘त्रिः’ त्रिवारं
‘यजते’ इति यत्, ‘तेनैव संवत्सर माप्नोति’ । वैश्वदेवादयः
प्रत्येकं चातुर्मास्ययुक्ता * इति तदनुष्ठानेनैव तेषां द्वादशानां
मवाप्तत्वात् तत्समुदायरूपः संवत्सरोऽपि यजमानस्य स्वायत्तो
जात इत्यर्थः । उक्तं मर्थं निगमयति — “तस्मादिति ।
यस्मात् चतुर्थपर्वणः शुनासीर्यस्य संवत्सरातिरिक्तः प्रातिस्विकः
कालो नास्ति, तस्माद् यदा कदाचिदेव साकमेधानन्तरं
यजतेत्यर्थः † । एतदेवानन्तर्यं सूत्रकृताप्युक्तम्— “शुनासी-
रीय मतः”—इति ‡ ॥ १० ॥

सोमेन यक्ष्यमाणस्य पक्षान्तरं माह— “तद्वैक इति ।
‘तत्’ तत्र खलु शुनासीर्यानुष्ठाने ‘एके’ शाखिनः ‘रात्रीः
आयिपयिषन्ति’ अनेन यागेन कतिचिद् रात्रीः आसु मिच्छन्ति ।
अत एवोक्तं मापस्तम्बेन— “ततो द्व्यहे त्र्यहे चतुरहेऽर्द्धमासे
मासि चतुर्षु वा मासेषु शुनासीरीयेण यजते”—इति § ।
तेषां मते सोमेन यक्ष्यमाणस्य शुनासीर्यकाल उच्यत इत्यर्थः ।

* ‘चतुर्मास्ययुक्ता’—इति का०-सू०-ट०-धृतः पाठः (५. ११. १.) ।

† अत्र हरिश्वामिनः— “यस्मिन् काले साकमेधैर्यजते, ततः
तत्रैव शुनासीर्येणेति, न तद्विषयनियमोऽयम्, किन्तुर्हि? यत् पूर्वयोः
पर्वणोरुक्तम् चतुर्थे मासीति, तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । साकमेधः प्रत्या-
सन्ने यजनौघेऽहनि यजेत, नियमतश्चतुर्थं सासं नाद्रियेतेत्यर्थः । कुत
एतत्? तस्माद् यदैव कदा चैतेन यजेतेत्युपसंहारात्”—इति ।

‡ का० औ० सू० ५. ११. १. “यदेच्छेत्”—इति चैतदुत्तरसूत्रम् ।

§ आप० औ० सू० ८. २०. १ ।

यदि हि 'रात्रीः' 'आपिपयिषेत्' आसु मिच्छेत्, तदा आगामिनीभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्ता पौर्णमासी फाल्गुनी; षष्ठ्यर्थे चतुर्थी; 'फाल्गुन्यै' फाल्गुन्याः पौर्णमास्याः 'पुरस्तात्' 'यत्', 'अदः'—इति विप्रकृष्टे, 'उत्' ऊर्ध्वं चन्द्रमाः अस्मिन् दृश्यते इति 'उद्दृष्टं' शुक्लपक्षः, 'तत्' तत्र प्रतिपदाद्यन्यतमस्यां तिथौ 'शुनासीर्येण यजेत' * ॥ ११ ॥

“अथ दीक्षेतेति । 'अथ' अनन्तर मेव सोमयागार्थं 'दीक्षते' कालविलम्बो न कार्य इत्यर्थः । दैवान्मानुषाद्वा विघ्नात् विलम्बेऽपि तस्यावधि माह— “तं नानीजान मिति । इमा मेव श्रुति मभिप्रेत्यापस्तम्बोऽप्याह— “चातुर्मास्यैरिष्टा सोमेन पशुना वा यजते, फाल्गुन्या उद्दृष्टे सोमाय दीक्षते, तं ततो नानीजान मपरा फाल्गुनी पर्यवेयात्”—इति † । तदत्यये दीष माह— “पुनरिति । 'अनीजानम्' 'पनम्' यजमानम् 'पुनः' फाल्गुनी पौर्णमासी न अतिक्रामेत् इति यत्, स 'पुनः' प्रयोगरूप इव ह' भवति ; चातुर्मास्यानां प्रयोगस्य एतस्मिन् काले कर्त्तव्यत्वात्, तस्य चानाचरितत्वात् पुनःप्रयोगाद्गभूतोऽयं कालो भवेदित्यर्थः । प्रतिपादितं प्रतिषेधं निगमयति— “तस्मादिति । अयञ्च पक्षोऽधिकारिविशेषस्यैवेति निगमयति— “इति न्विति । द्विविधौ हि चातुर्मास्ययाजिनौ सक्कदनुष्ठायो-

* का० श्रौ० सू० ५. ११. १५ । 'फाल्गुन्युद्दृष्टे' = फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि—इति या० दे० । “उद्दृष्टं” = शुक्लपक्षः, तस्मिन् प्रतिपदेव शुनासीर्येण यजेत, अथानन्तरं तस्मिन्नन्यस्मिन् वा दिवसे दीक्षानुसारेण दीक्षते—इतीह हरिस्वामी ।

† आप० श्रौ० सू० ८. २१. २, ३, ४ ।

स्तृजमानः पुनः-प्रयुञ्जानस्य । तत्र 'उत्तृजमानस्य' खलु अयं
मुक्तः पक्ष इत्यर्थः ॥ १२ ॥

कस्तर्हि तानि पुनः-प्रयुञ्जानस्य पक्ष इति दर्शयति—
“अथ पुन रिति * । चातुर्मास्यानि सक्तत् संयज्य अनन्तर
मेव यः तानि पुनरारभ्यते, तस्य पुनरारम्भाणस्य 'फाल्गुन्यै
पौर्णमास्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, तस्याः 'पूर्वेद्युः' पूर्वदिवसे
चतुर्दश्यां 'शुनासीर्येण यजेत', 'अथ' अनन्तर मेव 'प्रातः'
काले पौर्णमास्यां 'वैश्वदेवेन' 'यजेत', तदनन्तरम् नित्येन
पौर्णमासयागेनित्यर्थं प्रयोगक्रमः । तदुक्तं कात्यायनेन— “फाल्गु-
न्युपवसथे शुनासीरीयम्, प्रातर्वैश्वदेवम्”—इति † । “एतदु
पुनरिति, प्रतिज्ञातार्थनिगमनम् ॥ १३ ॥

चातुर्मास्याङ्गभूतं वपनं मीमांस्यते— “अथात इत्यादिना ।
अत इति वक्ष्यमाणार्थपरामर्शः । 'अतः' अस्माद् वक्ष्यमाणा-
हेतोः 'परिवर्त्तनस्य' परितः केशश्मश्रादीनाम् वर्त्तनस्य ‡
वपनस्य विचारो § ऽधिक्रियते इत्यर्थः ॥ । एतत् परिवर्त्तनं
विधातु मन्नादत्वेनादित्य मग्निं च स्तौति— “सर्वतोमुखो वा

* का० औ० सू० ५. ११. १६ द्रष्टव्यम्; आप० औ० ८. २१. ६ ।

† का० औ० सू० ५. ११. १७, १८ ।

‡ 'आवर्त्तनस्य'—इति छ-पाठः ।

§ 'विकारो (विचारो)'—इति च-पाठः ।

॥ “हृदयशूलान्ते वपनम्”—इति का० औ० सू० ५. ११. २६ ।
'पूर्वसंस्थासु यद् वपनं मुक्तं वैकल्पिकम्, तत् सपशुषु हृदयशूलान्ते =
हृदयशूलसमिदाधानान्ते कर्त्तव्यमित्यर्थः'—इति तट्टीकायां या० दे० ।
अन्यत् सर्वं मन्त्र निरूपयति चैतावतैव सम्पन्नम् ।

असावादित्य इत्यादिना । सर्वतः सर्वासु दिक्षु मुखं रसा-
दानसामर्थ्यं यस्य स तथोक्तः । सर्वतोमुखत्वं उपपादयति—
“एष वा इति । ‘निर्द्वयति’ रसं निष्कृष्य पिबति । अतः
एतत् सर्वं घर्मकाले ‘शुष्यति’ शोषणं प्राप्नोति , सर्वं जगद्
व्याप्य स्थितस्य सूर्यस्य स्वकिरणेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

“सर्वतोमुखोऽयं मग्निरिति । अत्रापि तथैव योजना ।
“यतो ह्येवेति । यतः कुतश्चिदपि दिग्भागादित्यर्थः । ‘अभ्या-
दधति’ अभिप्रक्षिपति । “तत एवेति । तस्मिन्नपि दिग्भागे
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एवं मग्न्यादित्ययोः सर्वतोमुखत्वेन अन्नादत्त्वं प्रतिपाद्य
पुरुषस्य स्वाभाविकं तद्वैपरीत्यं माह— “अथाय मिति । ‘अथ’-
शब्दः त्वर्थे । ‘अयं’ तु ‘पुरुषः’ यजमानः ‘अन्यतोमुखः’ ।
अन्यशब्द एकशब्दपर्यायः । अन्यतः एकत्र स्थितं मेव मुखं
यस्य , स तथोक्तः । तस्य सर्वतोमुखत्वसम्पत्तिं माह— “स
एतदिति । ‘यद्’ यस्मात् परितः शिरो वर्त्तयते , केशान्
वापयति , ‘एतत्’ एतेन अलोमकत्वसाम्यात् शिरसः प्रान्तदेशा
अपि मुखं मिव भवन्तीति स यजमानः सर्वतोमुखो भवति ।
इत्थं पुरुषस्य सर्वतोमुखत्वं प्रतिपाद्य प्रागुक्तं दृष्टान्तद्वयसिद्ध-
मर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति— “स एव मेवेति । ‘यथा’ ‘एतौ’
आदित्योऽग्निश्च सर्वतोमुखत्वात् अन्नादौ , ‘एव मेव’ यजमानो-
ऽपि ‘अन्नादः’ सर्वतो दिक्तः समत्तुं समर्थो भवति । “तस्मादिति ,
उपपादितस्य परिवर्त्तनस्य निगमनम् ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरेण सर्वतोमुखत्वं प्रतिपादयन् परिवर्त्तनं न
कर्त्तव्यं मिति पक्षान्तरं माह— “तद् होवाचेति । ‘तत्’

तत्र , तस्मिन् परिवर्त्तनविषये 'आसुरिः' नाम महर्षिः आह स्म ।
 'यदपि' यदि नाम 'सर्वाण्येव लोमानि' परितो 'वपेत',
 तथापि तत्तन्मुण्डिते देशे 'मुखस्य' सम्बन्धि किन्नामावयवजातं
 निष्पन्नं भवति ? न ह्यलीमकत्वमात्रेण मुख मिति व्यवहर्त्तुं
 शक्यते , किन्तु बहुश्रोत्रावयवमस्त्यैव ; अतो नैतेन परि-
 वर्त्तनेन सर्वतोमुखत्वं लभ्यत इत्यर्थः । कथन्तर्हि सर्वतोमुखत्वं
 पुरुषस्य ? तत्राह— "त्रिः संवत्सरस्येति । 'संवत्सरस्य' मध्ये
 वैश्वदेवादिभेदेन 'त्रिः यजते', 'तेनैव' अयं यजमानः 'सर्वतो-
 मुखः' ; कृत्स्नस्य संवत्सरस्य यागेन प्राप्तत्वात् । "तेनैवेति ।
 अन्नादहेतुभूतं सर्वतोमुखत्वं प्रकारान्तरेणैव सिध्यति । "तस्मा-
 दिति । 'तस्मात्' परिवर्त्तनं 'न आद्रियेत' इत्यासुरेर्मतस्य
 निगमनम् ॥ १७ ॥ ४ * [६. ३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

* त्रिविधानि चातुर्मास्यानि भवन्ति । ऐष्टिकानि , प्राशुकानि , सौमि-
 कानि च । तत्र ऐष्टिकान्येवेहोक्तानि विशेषतः , ऋग्वेदादिर्विहितानि
 सौमिकानि तु का० श्रौ० सू० द्वाविंशाध्याये सप्तम्यां कण्डिकायां वर्णितानि,
 प्राशुकान्यपि तत्रैव तत उत्तरस्मिन्नध्याये वर्णितानीति द्रष्टव्यम् ।
 "सपशुषु पशुतन्त्रम् प्राधान्यात् , पूर्वदुर्वैश्वदेवे प्राशुकम्"—इत्यादीनि
 च सूत्राणीह (का० श्रौ० सू० ५. ११. १६-३१.) समालोचनीयानि दिक् ॥

(अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्)

तद्यदाहुः । साकमेधैर्व्वै देवा वृत्रमघ्नस्त्वैर्व्वैव *
 व्यजयन्त येय मेषां विजितिस्ता मिति सुर्व्वैर्ह
 त्वेव देवाश्चातुर्मास्यै वृत्र मघ्नन्त्वैर्व्वैव व्यजयन्त
 येय मेषां विजितिस्ताम् † ॥ १ ॥

ते होचुः । केन राज्ञा केनानीकेन योत्याम
 इति स हग्निरुवाच मया राज्ञा मयानीकेनेति
 ते ऽग्निना राज्ञाग्निनानीकेन चतुरो मासः
 प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा च त्रय्या च विद्यया
 पर्यगृह्णन् ॥ २ ॥

ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन यो-
 त्याम इति स ह व्वरुण उवाच मया राज्ञा
 मयानीकेनेति ते व्वरुणेनैव राज्ञा व्वरुणेनानी-
 केनापरांश्चतुरो मासः प्राजयंस्तान् ब्रह्मणा चैव
 त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥ ३ ॥

* 'स्त्वैर्व्वै'—इति , 'वैर्व्वै'—इति च पाठौ दृष्टौ डा०-वेवरेण ।

† 'विजितिस्ताम्'—इति ग , घ ।

ते होचुः । केनैव राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम
इति स हेन्द्र उवाच मया राज्ञा मयानीके-
नेति त इन्द्रेणैव राज्ञेन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो
मासः प्रजयन्तान् ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया
परिगृह्णात् ॥ ४ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निनैवैतद्राज्ञाग्नि-
नानीकेन चतुरो मासः प्रजयति तत् चेनी
शलली भवति लोहः क्षुरः सा या चेनी शलली
सा त्रय्यै विद्यायै रूपं लोहः क्षुरो ब्रह्मणो
रूपं मग्निर्हि ब्रह्म लोहित इव ह्यग्निरुस्मात्लोहः
क्षुरो भवति तेन परिवर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन
मेतत्त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥ ५ ॥

अथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते व्वरुणेनैवैतद्राज्ञा
व्वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्
चेनी शलली भवति लोहः क्षुरस्तेन परि-
वर्त्तयते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतत् त्रय्या च
विद्यया परिगृह्णाति ॥ ६ ॥

अथ यत्साकमेधै र्यजते । इन्द्रेणैवैद्राज्ञे-
न्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत्

चेरनी शलली भवति लोहः क्षुरस्तेन परिवर्त्त-
यते तद् ब्रह्मणा चैवैन मेतुल्यया च विव्यया
परिगृह्णाति ॥ ७ ॥

स यद्वैश्वदेवेन यजते । अग्निरेव तर्हि
भवत्यग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यद्
व्यवृणप्रघासैर्यजते व्यवृण एव तर्हि भवति व्यवृण-
स्यैव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधै-
र्यजत ऽद्भुन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यं
सलोकतां जयति ॥ ८ ॥

स यस्मिन् हऽर्तावमुं लोक मेति । स एन
मृतुः परस्मा ऽऋतवे प्रयच्छति पुर उ परस्मा
ऽऋतवे प्रयच्छति स परम मेव स्थानं परमां
गुतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी तदाहुर्न चातु-
र्मास्ययाजिन मनुविन्दन्ति परमं ह्येव खलु * स
स्थानं परमां गुतिं गच्छतीति ॥ ९ ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [६. ४.] ॥

वैश्वदेवादिषु सर्वेषु परिवर्त्तनं सेतिकर्त्तव्यताकं विधित्सु-
स्तेषां सर्वेषां वृत्रवधहेतुत्वं विजयहेतुत्वं च समानं मिति
प्रतिपादयति—“तद्यदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र उक्तविषये साक-
मेधाना मेव वृत्रवधहेतुत्वं जयहेतुत्वञ्चेति ‘यद्’ ‘आहुः’ कथ-
यन्ति , तत्र ; तथा ‘सर्वैरेव’ हि ‘चातुर्मास्यैः’ चतुर्षु-चतुर्षु
मासेषु प्रयुज्यमानैः वैश्वदेवादिभिः वृत्रहननं विजयञ्च प्राप्त-
वन्तो ‘देवाः’ इत्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र वैश्वदेवेन जितं मर्थं मास्थायिकया दर्शयति—“ते
होचुरिति । ‘ते’ देवाः खलु प्रजापतिं पितरं मभिलक्ष्य
परस्परं वाचम् ‘जुचुः’ । “केनानीकेनेति । अनीकं सेना-
मुखम् , सेनान्येत्यर्थः । “चतुरो मास इति । “पद्म०”-
इत्यादिना * मासशब्दस्य मास् इत्ययं मादेशः । “तान्
ब्रह्मणा चेति । ‘तान्’ विजितान् मासान् ‘ब्रह्मणा’ “अग्निं हिं
ब्रह्म”—इत्यग्रे विवरिष्यते † , अतो ब्रह्मणा अग्निना , ‘तस्या’
वेदत्रयरूपया ‘विद्यया च’ देवाः ‘पर्यगृह्णन्’ परितो धारयन् ॥ २ ॥

एवं वैश्वदेवस्याग्निप्रमुखत्वं मुक्त्वा वरुणप्रघासेषु वरुण-
प्रमुखत्वञ्चाह—“ते होचुरिति । “अपरांश्चतुर इति । आपा-
ढादीनित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ एवं साकमेघेषु इन्द्रप्रमुखत्वम् ,
‘अपरां’ कार्तिकादीनित्येव विशेषः ॥ ३ , ४ ॥

इत्थं प्रतिकृत्युपन्यासेन वैश्वदेवादिषु पर्वसु प्रतिपादितं मर्थं
यजमानेऽपि क्रमेण योजयति—“स यद् वैश्वदेवेनेत्यादिना ।
“ब्रह्मणा च तस्या च विद्यया पर्यगृह्णन्”—इति यदुक्तम् ,
तस्य प्रतिकृतिं माह—“त्रेनीति । त्रिषु स्थानेषु ‘एतः’

श्वेतवर्णी * यस्याः सा त्रेनी । “वर्णादनुदात्तात्”-इति †
 एतशब्दात् ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च । श्वाविन्नामकस्य
 मृगस्य लोम ‘शलली’ ‡ । उक्तलक्षणा सा वक्ष्यमाणपरिवर्त्तन-
 हेतुत्वेन स्वीकार्या । तत्र शलल्याख्यीप्रतिरूपत्व माह— “सा
 येति । ‘सा’ पूर्वोक्ता ‘या’ ‘त्रेनी शलली’, सा त्रित्वसङ्ख्या-
 विशिष्टगुणोपेतत्वात् त्रया विद्यायाः स्वरूपम् । ‘लोहः’
 लोहितवर्णस्ताम्रमयः ‘क्षुरः’, स ‘ब्रह्मणो रूपम्’ । कथं
 ब्रह्मणो लोहितवर्णत्व मिति तदाह— ‘अग्निर्हीति । स च
 ब्रह्मशब्दवाच्यो ऽग्निः लोहितवर्णः ‘इव’ हि भवति ; ‘तस्मात्’
 लोहितवर्णः ‘क्षुरः’ ब्रह्मणः प्रतिरूप मित्यर्थः । “तेनेत्यादि ।
 ‘तेन’ क्षुरेण, तथा शलल्या च ‘परिवर्त्तयते’ शलल्या केशान्
 विभज्य क्षुरेण परितो वापयेदित्यर्थः § । “ब्रह्मणा चैवेति ।
 ‘एनं’ यजमानम् ‘एतत्’ एतेन शललीलोहक्षुरक्ततेन परि-
 वर्त्तनेन, अग्निरूपेण तेन ‘ब्रह्मणा’ क्षुरनिदानभूतेन, ‘त्रया
 वेदत्रयरूपया ‘विद्याया’ च सर्वतोमुखत्वसम्पादनद्वारा अनया
 ‘परिगृह्णाति’ परितः सर्वासु दिक्षु धारयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

* ‘एतं (एनं) श्वेतं वर्णी’-इति च-पाठः ।

† पा० सू० ४. १. ३६ ।

‡ ‘शल्यकण्टगस्याङ्गरुहा सूचिः शलली’-इति (८. ४. १.)
 व्याप० श्रौ० सू० व्याख्यायां रुद्रदत्तः ।

§ ‘वापेत्’-इति कृ-ज-पाठो डा०-वेवर-दृष्टश्च ।

॥ “त्रेन्या शलल्येक्षुकाण्डेनेक्षुशलाकया वा लौहेन च क्षुरेणौ-
 दुम्बरेण नि केशान् वर्त्तयते वापयते ऽस्रशूणि”-इति व्याप० श्रौ० सू०
 ८. ४. १ । ‘निवर्त्तयते = क्षिन्ति’-इति रुद्रः । प्रथमस्य वैश्वदेवपर्वणः
 फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. १-५ द्रष्टव्यम् ।

वरुणप्रघासयागस्य वरुणप्रधानकत्वात् तेन जेतव्यं फल मनुक्रामति— “अथ यद् वरुणप्रघासैरिति । “त्रेनीशललीत्यादि, उत्तार्थम् * ॥ ६ ॥

साकमेधयागस्येन्द्रप्रधानकत्वात् तेन जेतव्यं फल मनुक्रामति— “अथ यत् साकमेधैरिति † ॥ ७ ॥

इत्थं वैश्वदेवादिभिः पर्वभिः द्वादशमासात्मकसंवत्सरस्वरूपा-
वाप्तिं फलत्वेन प्रतिपाद्य ‡ , अग्न्यादिदेवतासायुज्य मपि
तेषां फलत्वेनाचष्टे— “स यदिति । “अग्निरेव तर्हीति ।
‘तर्हि’ तस्मिन् वैश्वदेवे यागेऽनुष्ठिते ‘सः’ यजमानः ‘अग्निः’
अग्न्यात्मकः ‘एव भवति’ । ‘अग्नेरेव सायुज्यम्’-इति , अख्यैव
विवरणम् । प्रथम मग्नेः सालोक्यं जयति , पश्चात् सायुज्य
मिति योजनाक्रमः । “वरुण एव तर्हि”-इत्यादावप्येवं
योज्यम् ॥ ८ ॥

अथ म्रियमानस्य चातुर्मास्ययाजिनो मार्गं ब्रुवन् ब्रह्म-
लोकप्राप्तिपर्यन्तं फल माह— “स यस्मिन्निति । ‘सः’ खलु
चातुर्मास्ययाजी ‘यस्मिन् ऋतौ’ ‘अमुं’ विप्रकृष्टं परं ‘लोकम्’
‘एति’ म्रियते , ‘सः’ ऋतुः ‘एनं’ यजमानं स्वस्मात् ‘परस्मै
ऋतवे’ ‘प्रयच्छति’ । उक्तेऽर्थे विदुषः सिद्धिं सम्पादयति—
“तदाहुरिति । यस्मात् चातुर्मास्ययाजी परमां गतिं प्राप्त-
वान् , ‘तत्’ तस्मात् अभिज्ञाः ‘आहुः’ कथयन्ति । कि

* द्वितीयस्य वरुणप्रघासपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ६, ७ ।

† तृतीयस्य साकमेधपर्वणः फलम् तै० ब्रा० १. ४. १०. ८ ।

‡ चतुर्थस्य शुनासीरीयपर्वणः फलम् अपि तै० ब्रा० १. ४. १०. ३ ।

मिति, तदुच्यते— ‘चातुर्मास्ययाजिनम्’ चातुर्मास्येनेष्टवन्तं
यजमानम् अन्विष्यन्तो जनाः ब्रह्मलोकादवाचीनेषु लोकेषु ‘न
विन्दन्ति’ न लभन्ते * । “परमं ह्येवेति, तत्र कारणा-
भिधानम् ॥ ८ ॥ ५ [६. ४.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

* “विराजो वा एषा विक्रान्तिः, यच्चातुर्मास्यानि । वैश्वदेवेना-
स्त्रिंश्लोके प्रत्यतिष्ठत्, वरुणप्रघासैरन्तरिक्षे, साकमेधैरसुश्रिंश्लोके; एष
ह त्वा वै तत् सर्वं भवति, य एवं विद्वांश्चातुर्मास्यैर्यजते” —इति
तै० ब्रा० १. ४. ६. ५ । अत्रैव दशमेऽनुवाके वैश्वदेववरुणप्रघाससाक-
मेधपिष्टयज्ञचासकहविःसुनासीरीयाणां प्रशंसाः पृथक्-पृथगान्नाताः,
तास्तत्रैव द्रष्टव्याः । चातुर्मास्ययाजिनः पुनरावृत्तिराहित्यरूपं मपि फलं
तदन्तो समाप्नातमिति ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,
सप्तार्चिन् * पञ्चसीरीं-†-स्त्रिदशतत्त्वताधेनुसौवर्णभूमीः ।
रत्नोत्थां रत्नवाजिहिपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यौ § ,
व्यश्राणीद्विश्चक्रां प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो ॥ राजतं राजपूज्यः ।
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा ¶ लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ (१) ।

† 'सायणः' स्यात् ?

॥ 'मज्जो'—इति ठ ।

† 'सप्तसीरीं'—इति ठ ।

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यौ' ?

¶ 'प्राज्यबुद्धिर'—इति ठ ।

(१) ठ-इति प्रथमकाण्डीयसम्पादकोक्तां विवृतं द्रष्टव्यम् ।

॥ इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः समाप्तः* ॥

॥ इत्येकपादिकानाम् द्वितीयं काण्डं समाप्तम् † ॥

— — —

* “कण्डिकासङ्ख्या १०४”—इति क, “कण्डिकाः १०४”—इति ख, “कण्डिकासङ्ख्या १०४”—इति ग-घौ। तत्र १ ब्रा० ११ क०, २ ब्रा० ४८ क०, ३ ब्रा० १६ क०, ४ ब्रा० १७ क०, ५ ब्रा० ६ क०; सङ्कलनयात्र प्रपाठके १०४ कण्डिकाः सम्पन्नाः ॥

† “एवं काण्डे ब्राह्मणानि सङ्ख्या २४। एवं काण्डे कण्डिकासङ्ख्या शत ५४७”—इति क, खः न्यष्ट मतिर्जीर्णं मिथ्यपाठम्, “अस्मिन् काण्डे कण्डिकासङ्ख्या ५४६”—इति ग-घौ। तत्र प्रथमे प्रपाठके ११४, द्वितीये १०३, तृतीये ११३, चतुर्थे ५०५, पञ्चमे १०४; सर्वसङ्कलनयात्र काण्डे ५४६ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

Padumawati, Fasc. 1-4 @ 2/	Rs. 3 6
Paricista Parvan, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each...	1 14
Prāk ta Paingalam, Fasc. 1-7 @ 16/ each	2 10
Prithivirāj Rāsa, (Text) Part II, Fasc. 1-5 @ 15/ each	1 14
Ditto (English) Part II, Fasc. 1	0 12
Prāk ta Lakṣaṇam, (Text) Fasc. 1	1 8
Parācara Smṛiti, (Text) Vol. I, Fasc. 1-8 Vol. II, Fasc. 1-6 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 15/ each	7 8
Parācara, Institutes of (English)	0 12
Prabandhacintāmaṇi (English) Fasc. 1-3 @ 12/ each	2 4
*Sāma Vēda Saṁhitā, (Text) Vols. I, Fasc. 5-10 ; II, 1-6 ; III, 1-7 ; IV, 1-6 ; V, 1-8 @ 1/ each Fasc.	12 6
Sāṅkhya Sūtra Vṛtti, (Text) Fasc. 1-4 @ 16/	1 8
Ditto (English) Fasc. 1-3 @ 12/ each	2 4
Shaddarsana-Samucchchaya, Fasc. 1,	0 6
Sraddha Kriya Kaumudi, Fasc. 1-6	2 4
Sucruta Saṁhitā, (Eng.) Fasc. 1 @ 12/	0 12
Suddhi Kaumudi, Fasc. 1-4	1 8
*Taittīreya Saṁhitā, (Text) Fasc. 22-45 @ 16/ each	9 0
Tāpdyā Brāhmaṇa, (Text) Fasc. 1-19 @ 16/ each	7 2
Tantra Vartika (English) Fasc. 1-6 @ 12/	4 8
Tattva Cintāmaṇi, (Text) Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 2-10, Vol. III, Fasc. 1-2, Vol. IV, Fasc. 1, Vol. V, Fasc. 1-5, Part IV, Vol. II, Fasc. 1-12 @ 16/ each	14 4
Tattvarthadigama Sūtram, Fasc. 1-3	1 2
Trikāṇḍa-Maṇḍanam, (Text) Fasc. 1-3 @ 16/	1 2
Tul'si Satsai (Text) Fasc. 1-5 @ 16/	1 14
Upamita-bhava-prapañca-kathā (Text) Fasc. 1-8 @ 16/ each	3 0
Uvāsagadāṣa, (Text and English) Fasc. 1-6 @ 12/	4 8
Vallala Carita, Fasc. 1	0 6
Varsa K yā Kaumudi, Fasc. 1-6 @ 15/	2 4
*Vāyu Purāṇa, (Text) Vol. I, Fasc. 2-6 ; Vol. II, Fasc. 1-7, @ 16/ each	4 8
Vidhano Parigata, Fasc. 1-7	2 10
Vivādaratnākara, (Text) Fasc. 1-7 @ 16/ each	2 10
Vahat Sayambhū Purāṇa, Fasc. 1-6	2 4

Tibetan Series.

Pag-Sam Thi Śiñ, Fasc. 1-4 @ 1/ each	4 0
Sher-Phyin, Vol. I, Fasc. 2-5 ; Vol. II, Fasc. 1-3 ; Vol. III, Fasc. 1-6 @ 1/ each	14 0
Rtogs brjod dpag khkharī Śiñ (Tib. & Sans.) Vol. I, Fasc. 1-5 ; Vol. II, Fasc. 1-5 @ 1/ each	9 0

Arabic and Persian Series.

*Ālamgir-nāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-13 @ 15/ each	4 14
Āl-Muquaddasi (English) Vol. I, Fasc. 1-3 @ 12/	2 4
Āl-i-Akbarī, (Text) Fasc. 1-22 @ 1/ each	22 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-7, Vol. II, Fasc. 1-5, Vol. III, Fasc. 1-5, @ 1/12/ each	29 12
Akbarnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-37 @ 1/ each	37 0
Ditto (English) Vol. I, Fasc. 1-8 ; Vol. II, Fasc. 1-2 @ 1/	10 0
Arabic Bibliography, by Dr. A. Sprenger	0 6
Bādshāhnāmah, with Index, (Text) Fasc. 1-19 @ 15/ each	7 2
Catalogue of Arabic Books and Manuscripts 1-2	2 0
Catalogue of the Persian Books and Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal. Fasc. 1-3 @ 1/ each	3 0
Dictionary of Arabic Technical Terms, and Appendix, Fasc. 1-21 @ 1/ each	21 0
Farhang-i-Rashidi, (Text) Fasc. 1-14 @ 1/ each	14 0
Fihrist-i-Ṭūsī, or, Ṭūsī's list of Shy'ah Books, (Text) Fasc. 1-4 @ 12/ each	3 0
Futūh-ush Shām of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-9 @ 15/ each	3 6
Ditto of Āzādi, (Text) Fasc. 1-4 @ 15/ each	1 8
Haft Āsmān, History of the Persian Masnawī, (Text) Fasc. 1	0 12
History of the Caliphs, (English) Fasc. 1-6 @ 12/ each	4 8
Iqbāl-nāmah-i-Jahāngiri, (Text) Fasc. 1-3 @ 16/ each	1 2
Isābah, with Supplement, (Text) 51 Fasc. @ 12/ each	38 4
Maṣīr-ul-Umarā, Vol. I, Fasc. 1-9 ; Vol. II, Fasc. 1-9 ; Vol. I I, Fasc. 1-10 ; Index to Vol. I, Fasc. 10-11 ; Index to Vol. II, Fasc. 10-12 ; Index to Vol. III, Fasc. 11-12 ; @ 15/ each	13 2
Maghāzi of Wāqidi, (Text) Fasc. 1-5 @ 16/ each	1 14

* The other fasciculi of these works are out of stock, and complete copies cannot be supplied.

Muntakhabu-t-Tawārikh, (Text) Fasc. 1-15 @ 1/5/ each	Rs	5	10
Muntakhabu-t-Tawārikh, (English) Vol. I, Fasc. 1-7 ; Vol. II, Fasc. 1-5 and Indexes ; Vol. III, Fasc. 1 @ 1/12/ each	...	12	0
Muntakhabu-l-Lubāb, (Text) Fasc. 1-19 @ 1/5/ each	...	7	2
Ma'āgiri-i-Ālamgiri, (Text) Fasc. 1-6 @ 1/-/ each	...	2	4
Nukhbatu-l-Fikr, (Text) Fasc. 1	...	0	6
Nizāmī's -Khiradnāmah-i-Iskandari, (Text) Fasc. 1-2 @ 1/12/ each	...	1	8
Riyāzu-s-Salātin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each	...	1	14
Ditto Ditto (English) Fasc. 1-5	...	3	12
Tabaqāt-i-Nāgiri, (English) Fasc. 1-14 @ 1/12/ each	...	10	8
Ditto Index	...	1	0
Tārikh-i-Firūz Shāhi of Ziyāu-d-din Barni (Text) Fasc. 1-7 @ 1/-/ each	...	2	10
Tārikh-i-Firūshāhi, of Shams-i-Sirāj Alif, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/6/ each	...	2	4
Ten Ancient Arabic Poems, Fasc. 1-2 @ 1/8/ each	...	3	0
Tuzuk-i-Jahāngiri, (English) Fasc. 1	...	0	12
Wis o Rāmin, (Text) Fasc. 1-5 @ 1/5/ each	...	1	14
Zafarnāmah, Vol. I, Fasc. 1-9, Vol. II, Fasc. 1-8 @ 1/5/ each	...	6	6

ASIATIC SOCIETY'S PUBLICATIONS.

1. ASIATIC RESEARCHES, Vols. XIX and XX @ 10/ each ... 20 0
 2. PROCEEDINGS of the Asiatic Society from 1865 to 1869 (incl.) @ 1/5/ per No. ; and from 1870 to date @ 1/8/ per No.
 3. JOURNAL of the Asiatic Society for 1843 (12), 1844 (12), 1845 (12), 1846 (5), 1847 (12), 1848 (12), 1866 (7), 1867 (6), 1868 (6), 1869 (8), 1870 (8), 1871 (7), 1872 (8), 1873 (8), 1874 (8), 1875 (7), 1876 (7), 1877 (8), 1878 (8), 1879 (7), 1880 (8), 1881 (7), 1882 (6), 1883 (5), 1884 (6), 1885 (6), 1886 (8), 1887 (7), 1888 (7), 1889 (10), 1890 (11), 1891 (7), 1892 (8), 1893 (11), 1894 (8), 1895 (7), 1895 (8), 1897 (8), 1898 (8), 1899 (8), 1900 (7) & 1901 (7), 1902 (9), 1903 (8), @ 1/8/ per No. to Members and @ 2/ per No. to Non-Members.
- N.B.—The figures enclosed in brackets give the number of Nos. in each Volume.*
4. Journal and Proceedings, N. S., Vol. I, No. 1, 1905, @ 1-s per No. to members ana Rs. 2/ per No. to Non-members.
 5. Memoirs Vol I, No 1,4,5 @ 1/8/ to non members and to members ... 1 2
Ditto No. 2 @ 1/- Ditto Ditto ... 12
Ditto No. 3 @ 2/- Ditto Ditto ... 8
 6. Centenary Review of the Researches of the Society from 1784-1883 ... 3 0
A sketch of the Turki language as spoken in Eastern Turkistan, by R. B. Shaw (Extra No., J.A.S.B., 1878) ... 4 0
Theobald's Catalogue of Reptiles in the Museum of the Asiatic Society (Extra No., J.A.S.B., 1868) ... 2 0
Catalogue of Mammals and Birds of Burmah, by E. Blyth (Extra No., J.A.S.B., 1875) ... 4 0
 7. Anis-ul-Musharrahin ... 3 0
 8. Catalogue of Fossil Vertebrata ... 3 0
 9. Catalogue of the Library of the Asiatic Society, Bengal ... 3 8
 10. Ināyah, a Commentary on the Hidāyah, Vols. II and IV, @ 16/ each ... 32 0
 11. Jawāmlu-l-'ilā ir-riyyāzi, 168 pages with 17 plates, 4to. Part I ... 2 0
 12. Khizānatu-l-'ilm ... 4 0
 13. Mahābhārata, Vols. III and IV, @ 20/ each ... 40 0
 14. Moore and Hewitson's Descriptions of New Indian Lepidoptera, Parts I—III with 8 colored plates, 4to. @ 6/ each ... 18 0
 15. Sharaya-ool-Islām ... 4 0
 16. Tibetan Dictionary, by Csoma de Körös ... 10 0
 17. Ditto Grammar ... 8 0
 18. Kacmīracabdāmīta, parts I and II @ 1/8/ ... 3 0
 19. A descriptive catalogue of the paintings, statues, &c., in the rooms of the Asiatic Society of Bengal, by C. R. Wilson ... 1 0
 20. Memoir on maps illustrating the Ancient Geography of Kacmīr, by M. A. Stein, Ph.D., JI. Extra No. 2 of 1899 ... 4 0
 21. Persian Translation of Hāji Bābā of Ispāhān, by Hāji Shaikh Ahmad-i-Kirmāsi and edited with notes by Major D. C. Phillott. ... 10 0
- Notices of Sanskrit Manuscripts, Fasc. 1-29 @ 1/ each ... 29 0
Nepalese Buddhist Sanskrit Literature, by Dr. R. L. Mitra ... 5 0
N.B.—All Cheques, Money Orders, &c., must be made payable to the "Treasurer Asiatic Society," only.

